प्रकाशक :

सरस्वती पुस्तक भंडार
११२, हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद—३८०००१
फोन ५३५६६९२

प्रथम संस्करण १९३९
पुनर्मुद्रण १९९६

मूल्य—३००

मुद्रक : –

हिमांशु लेज़र सिस्टम
४६, सस्कृत नगर, रोहिणी सेक्टर १४
दिल्ली—११००८५
दूरभाष—७२६२०००, ७८६२१८३

Saraswati Oriental Series No.-8

AKALAṄKAGRANTHATRAYAM

[SVOPAJÑAVIVṚTI-SAHITAM LAGHĪYASTRAYAM, NYĀYAVINIŚCAYAḤ AND PRAMĀṆASAṄGRAHAḤ]

OF

SRĪ BHATTĀKALAṄKADEVA

EDITED WITH CRITICAL NOTES, VARIANT READINGS, INTRODUCTION AND INDEXES ETC.

By
NYAYACHARYA PANDIT MAHENDRA KUMAR SHASTRI
JAINA & PRĀCĪNA NYĀYATĪRTHA

PUBLISHED BY

SARASWATI PUSTAK BHANDAR

AHMEDABAD - 380001

Published By:

SARASWATI PUSTAK BHANDAR
112, Hathikhana, Ratanpol
Ahmedabad–380001
Phone · 5356692

First Edition 1939
Reprint 1996

Price · Rs 300

Printed at :

Himanshu Laser System
46, Sanskrit Nagar,
Rohini Sect 14, Delhi 110085
Ph 7262000 / 7862183

समर्पणम्—

१—विभाति सद्वृत्तवपुर्गणेशप्रसादवर्णी गुरुरस्मदीयः ।
प्रसादतो यस्य निरस्य विघ्नं करोमि निघ्नं सकलेप्सितार्थम् ॥

२—मञ्जुलजैनहितैषीत्याख्यं पत्रं प्रचारयन् प्रथितः ।
पूर्णगवेषणभमितः सञ्चितजैनेतिहासश्च ॥
नाथुरामप्रेमी सन्ततमुत्साहयन्नतिप्रेम्णा ।
न्यायकुमुदसम्पादनलग्नं चेतो ममाकार्षीत् ॥

३—श्रीजैनवाणीप्रणयी मुसद्दीलालः स्वधर्मस्य निषेवकोऽस्ति ।
यस्यानुकम्पाभिरहं चिराय स्याद्वादविद्यालयमाश्रयामि ॥

तेनोदाहृतनाम्नां सतां त्रयाणां करारविन्देषु ।
अमलाकलङ्कशास्त्रत्रयं क्रमादर्प्यते मोदात् ॥

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारेण

ग्रन्थानुक्रम

AKALAṄKA GRANTHATRAYAM

(SVOPAJÑAVṚTTI-SAHITAM LAGHĪYASTRAYAM, NYĀYAVINIŚCAYAḤ, PRAMĀṆASAṄGRAHAŚCA)

OF

ŚRĪ BHAṬṬĀKALAṄKADEVA

EDITED WITH :-CRITICAL NOTES, VARIANT READINGS, INTRODUCTION AND INDEXES ETC

BY

Nyayacharya Pandit Mahendra Kumar Śastri

[illegible]

PUBLISHED BY

THE SAÑCHĀLAKA-SIṄGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

AHMEDABAD CALCUTTA

V. S. 1996] [illegible] [1939 A.D.

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्

अकलंकग्रन्थत्रयम्

[स्वोपज्ञविवृतिसहितं लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चयः, प्रमाणसंग्रहश्च ।]

[न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारशास्त्रिनिर्मितटिप्पणादिसहितम्]

सम्पादक

न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारशास्त्री जैन-प्राचीनन्यायतीर्थ

सम्पादक–"न्यायकुमुदचन्द्र"

न्यायाध्यापक श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, भदैनी, बनारस ।

प्रकाशन कर्ता

संचालक–सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अहमदाबाद–कलकत्ता

विक्रमाब्द १९९६] प्रथमावृत्ति, ७५० प्रति । [१९३९ क्रिस्ताब्द

ग्रन्थमाला-मुख्यसम्पादक लिखित-

प्रास्ताविक

सिंघी जैन ग्रन्थमाला के १२ वे मणि के रूपमें पाठको के करकमल में, आज यह अकलङ्कग्रन्थत्रय नामक पुस्तक उपस्थित की जा रही है। इस ग्रन्थत्रय के कर्ता भट्ट श्रीअकलङ्कदेव जैनधर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय के एक महान् ज्योतिर्धर आचार्य थे। जैनमतसम्मत खास खास सिद्धान्तो और पदार्थों की प्रमाणपरिष्कृत व्याख्या और तर्काभिमत प्रतिष्ठा करने में इन आचार्य का शायद सर्वाधिक कर्तृत्व है। आर्हतमत के दार्शनिक विचारो की मौलिक सुशृंखला के व्यवस्थित सकलन का कार्य मुख्यतया इन तीन आचार्यों ने किया है—१ दिवाकर सिद्धसेन, २ स्वामी समन्तभद्र और ३ भट्ट अकलङ्कदेव। इनमें प्रथम के दो आचार्य आविष्कारक कोटिके हैं और भट्ट अकलङ्क समुच्चायक और प्रसारक कोटिके हैं। सिद्धसेन और समन्तभद्र, इन दोनों में कौन पूर्वकालीन है ओर कौन पश्चात्कालीन इसका अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया। ज्ञाननयन पंडित सुखलालजी ने सम्मतितर्क आदि की प्रस्तावना में, तथा जैन-इतिहासान्वेषक प० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तक में, इस विषय की यद्यपि खूब ऊहापोहपूर्ण आलोचना और विवेचना की है, तथापि अभी इसमें और भी अधिक प्रमाण और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता अपेक्षित है इसमें सन्देह नहीं।

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार दिवाकर सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रभावक पुरुष हैं और स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदाय के। तथापि इन दोनो आचार्यों को दोनो सम्प्रदायो के अनुगामी विद्वानो ने, समान श्रद्धास्पद और समान प्रामाणिक के रूपमें स्वीकृत और उल्लिखित किया है। जिस आदर के साथ सिद्धसेनसूरि की कृतियाँ श्वेताम्बर साहित्य में प्रतिष्ठित हैं उसी आदर के साथ वे दिगम्बर साहित्य में भी उद्धृत है और जो सम्मान दिगम्बर साहित्य में समन्तभद्राचार्य को समर्पित है वही सम्मान श्वेताम्बर साहित्य में भी सुस्मृत है। इन दोनो की कृतियों में, परस्पर सम्प्रदाय-भेद की कोई विश्लेषात्मक व्याख्या सूचित न होकर, समन्वयात्मक व्याख्या ही विशेषतः विवेचित होने से, इन दोनों का स्थान, दोनों सम्प्रदायो में समान सम्मान की कोटि का पात्र बना हुआ है।

भट्ट अकलङ्कदेव, स्वामी समन्तभद्र के उपज्ञ सिद्धान्तो के उपस्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक है। जिन मूलभूत तात्त्विक विचारो का और तर्क-सवादो का स्वामी समन्तभद्र ने उद्बोधन या आविर्भाव किया उन्हींका भट्ट अकलङ्कदेव ने अनेक तरह से उपबृंहण, विश्लेषण, संचयन, समुपस्थापन, सकलन और प्रसारण आदि किया।

इस तरह भट्ट अकलंकदेव ने जैसे समन्तभद्रोपज्ञ आर्हतमतप्रकर्षक पदार्थों का परिस्फोट और विकास किया वैसे ही पुरातन-सिद्धान्त-प्रतिपादित जैन पदार्थों का भी, नई प्रमाण-परिभाषा और तर्कपद्धति से, अर्थोद्घाटन और विचारोद्बोधन किया। जो कार्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जिनभद्रगणी, मल्लवादी, गन्धहस्ती और हरिभद्रसूरि ने किया वही कार्य दिगम्बर संप्रदाय में अनेक अंशो में अकेले भट्ट अकलंकदेव ने किया; और वह भी कहीं अधिक सुदर और उत्तमरूपसे किया। अत एव इस दृष्टि से भट्ट अकलंकदेव जैन-वाङ्मयाकाश के यथार्थ ही एक बहुत बड़े तेजस्वी नक्षत्र थे। यद्यपि संकुचित विचार के दृष्टिकोण से देखने पर वे संप्रदाय से दिगम्बर दिखाई देते हैं और उस सम्प्रदाय के जीवन के वे प्रबल बलवर्द्धक और प्राणपोषक आचार्य प्रतीत होते हैं; तथापि उदार दृष्टि से उनके जीवनकार्य का सिंहावलोकन करने पर, वे समग्र आर्हतदर्शन के प्रखर प्रतिष्ठापक और प्रचण्ड प्रचारक विदित होते हैं। अतएव समुच्चय जैनसंघ के लिये वे परम पूजनीय और परम श्रद्धेय मानने योग्य युगप्रधान पुरुष हैं।

सिंघी जैन ग्रन्थमाला में, इस प्रकार इनकी कृतियो का यह संगुम्फन, माला के गौरव के सौरभ की समृद्धि का बतानेवाला और ज्ञानमधु-लोलुप विद्वद्-भ्रमरगण को अपनी तरफ अधिक आकृष्ट करनेवाला होगा। ग्रन्थमाला के प्रतिष्ठाता श्रीमान् सिंघीजी, यद्यपि सम्प्रदाय की दृष्टिसे श्वेताम्बर समाज के एक प्रधान अग्रणी और जातिनेता पुरुष हैं; तथापि अपने उच्च संस्कार और उदार स्वभाव के कारण ये साम्प्रदायिक क्षुद्रता से सर्वथा परे हैं। जैन समाजके व्यापक गौरव का, ये साम्प्रदायिकता के रंगीन और विरूपदर्शी चश्मे पहन कर उच्चावच अवलोकन नहीं करते। समुच्चय जैन साहित्यगत सुन्दर सुन्दर ग्रन्थरत्नो का, भेदभाव-निरपेक्ष, सुसंस्कृत रीति से समुद्धार करना और तद्द्वारा जगत् में समुच्चय जैन साहित्य का समादर बढाना, यही इस ग्रन्थमाला के स्थापन में इनका आदर्श ध्येय है। इसी ध्येय के अनुसार, श्वेताम्बर साहित्य की संपत्तिरूप समझे जानेवाले पूर्व प्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थरत्नो के साथ, आज दिगम्बर साहित्य के मणिरूप इन कृतियो का भी सर्वप्रथम प्रकाशन किया जा रहा है। और भविष्य में अन्य भी ऐसे कई दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थरत्न यथासमय प्रकाशित किये जाने की भावना है।

सिंघीजी का यह आदर्श कार्य, जैन समाज के अन्यान्य धनिक जनो के लिये अनुकरणीय है। जहाँ तक हमारा खयाल है, जैन समाज में, अभी तक सिंघी जी के जैसा आदर्श उदारचेता, साहित्यप्रिय और ज्ञानोपासक कोई धनिक सज्जन अग्रसर नहीं हुए, जो इस प्रकार अपने द्रव्य का, अभेदभाव से सदुपयोग करने की इच्छा रखते हों। यद्यपि, श्रीमद् राजचन्द्रजी की प्रेरणा और भावना को लक्ष्यकर, उनके कुछ अनुयायी जनों में यह सांप्रदायिक भाव शिथिल हुआ नजर आता है और उनके द्वारा संचालित रायचन्द्र ग्रन्थमाला में, जो बहुत वर्षों से बम्बई से प्रकाशित हो रही है–

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो संप्रदायो के कुछ ग्रन्थो का समान रूपसे प्रकाशन किया जाता है, तथापि उस ग्रन्थमाला का ध्येय शुद्ध साहित्यिक न होकर उसका ध्येय धार्मिक है। उसके पीछे जो प्रेरणा है वह एक अंश में असाम्प्रदायिक होकर भी, दूसरे अंश मे बहुत कुछ साम्प्रदायिक है। वह श्रीमद् राजचन्द्रजी के एक नये अतएव एक तीसरे ही संप्रदाय का प्रभाव, प्रकाश और प्रचार करने की दृष्टि से प्रकट की जाती है। सिंघी जैन ग्रन्थमाला के पीछे ऐसा कोई संकुचित हेतु नहीं है। इसका हेतु विशुद्ध साहित्य-सेवा और ज्ञानज्योति का प्रसार करना है। जैन धर्म के पूर्वकालीन समर्थ विद्वान् अपने समाज और देश में, ज्ञानज्योति का प्रकाश फैलाने के लिये, यथाशक्ति अनेकानेक विषयो के जो छोटे बडे अनेकानेक ग्रन्थनिबन्धन रूप दीपको का निर्माण कर गये हैं, लेकिन देश काल की भिन्न परिस्थिति के कारण, अब वे वैसे क्रियाकारी न हो कर निर्वाणोन्मुखसे बन रहे हैं, उन्हीं ज्ञानदीपको को, इस नवयुगीन-प्रदर्शित नई संशोधनपद्धति से सुपरिमार्जित, सुपरिष्कृत और सुसज्जित कर, समाज और देश के प्रॉगण में प्रस्थापित करना ही इस ग्रथमाला का एक मात्र ध्येय है। समाज और देश इससे तत्तद् विषयों में उद्दीप्त और उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश प्राप्त करे।

❀ ❀ ❀

प्रस्तुत ग्रन्थके संपादक और सपादन कार्य के विषय में पंडितवर श्रीसुखलाल जी ने अपने वक्तव्य में यथेष्ट निर्देश कर दिया है। एक तरह से पंडितजी के परामर्श से ही इस ग्रन्थ का संपादन कार्य हुआ है। सपादक पंडित श्रीमहेन्द्रकुमार जी अपने विषय के आचार्य हैं और तदुपरान्त खूब परिश्रमशील और अध्ययनरत अध्यापक हैं। आधुनिक अन्वेषणात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से विषयो और पदार्थों का परिशीलन करने में यथेष्ट प्रवीण हैं। दार्शनिक, साम्प्रदायिक और वैयक्तिक पूर्वग्रहो का पक्षपात न रख कर तत्त्वविचार करने की शैली के अनुगामी हैं। इससे भविष्य में हमें इनसे जैन साहित्य के गभीर आलोचन-प्रत्यालोचन की अच्छी आशा है।

❀

ग्रन्थ के उपोद्घातरूप जो विस्तृत निबन्ध राष्ट्रभाषा में लिखा गया है, उसके अवलोकन से, जिज्ञासुओ को ग्रन्थगत हार्द का अच्छी तरह आकलन हो सकेगा, और साथ में बहुत से अन्यान्य तात्त्विक विचारो के मनन और चिन्तन की सामग्री भी इसमें उपलब्ध होगी। ग्रन्थकार भट्ट अकलङ्कदेव के समय के बारे में विद्वानो में कुछ मतभेद चला आ रहा है। इस विषय में पंडितजी ने जो कुछ नये विचार और तर्क उपस्थित किये हैं उन पर तज्ज्ञ विद्वान् यथेष्ट ऊहापोह करें। हम इस विषय मे अभी अपना कुछ निर्णायक मत देने में असमर्थ हैं। प्रस्तावना के पृ० १४-१५ पर पंडितजी ने नन्दीचूर्णि के कर्तृत्व के विषय में जो शंका प्रदर्शित की है–वह हमें संशोधनीय

मालूम देती है। शायद, सबसे पहले हमने ही अपने 'हरिभद्रसूरि का समयनिर्णय' नामक उस पुराने निबन्ध मे यह सूचित किया था कि नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास-गणी महत्तर हैं और वे ही निशीथचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के कर्ता भी हैं। और नन्दीचूर्णि के प्रान्तोल्लेख से यह भी निर्धारित किया था कि--उसकी रचना शक-संवत् ५९८ (वि० स० ७३३) मे समाप्त हुई थी। पंडितजी को चूर्णि का रचनाकाल तो मान्य सा लगता है लेकिन कर्ता के विषय में सन्देह है। इसके कर्ता जिनदासगणी ही हैं इसका कोई प्रमाण इन्हे नहीं दिखाई देता। साथ में, भाडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर के जैन केटलॉग से प्रो० H. R कापडिया का मत भी प्रदर्शित किया है, जिसमें उन्होने 'नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है' ऐसा कहा है। प्रो० कापडिया ने यह प्रघोषमात्र है, ऐसा कथन किस आधार से किया है इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। लेकिन उस केटलॉग में जो नन्दीचूर्णि का प्रान्त पद्य स्वय प्रोफेसर महाशय ने उद्धृत किया है उसमे तो, इस चूर्णि के कर्ता 'जिनदास गणि महत्तर' हैं, ऐसा प्रकट विधान किया हुआ मिलता है। यह ठीक है कि नन्दीचूर्णि का यह पद्य गूढ है और गूढ ही रूप में चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश किया है, जिससे प्रो० कापडिया इस गूढ भाव को समझने मे असफल हुए हो। इसका विशेष विस्तार न करके हम सिर्फ यहाँ पर इतना ही सूचित कर देना चाहते हैं कि--इस पद्य का जो प्रथम पाद 'निरेणगामेत्त महासहाजिता' ऐसा लिखा हुआ है वह कुछ भ्रष्टसा है, इसके बदले 'णिरेणगागत्त महासदाजिना' ऐसा पाठ चाहिए। इस पाद में कुल १२ अक्षर है और इन बारह अक्षरों को लौटपलट कर क्रम में रखने से 'जिनदासगणिणा महत्तरेण' यह वाक्य निकल आता है। निशीथचूर्णि में भी इन्होने इसी ढँग से अपना और अपने गुरु आदि का नामोल्लेख किया है। इसलिये नन्दीचूर्णि के भी कर्ता वही जिनदास गणी महत्तर हैं जो निशीथचूर्णि के कर्ता हैं यह निश्चित है।*

---

* प्रसगवश, हम यहाँ पर इस नन्दीचूर्णि के रचना समय के विषय में भी कुछ निर्देश कर देना चाहते हैं। जिस तरह पंडित श्री महेन्द्रकुमारजी ने, इसके कर्तृत्व के विषय में शका की है इसी तरह कुछ विद्वान् इसके रचनाकाल के विषय में भी वैसे ही शका करते हैं। जिस तरह प्रो० कापडिया जैसे उक्त पद्य के मर्म को न समझ कर इसके कर्ता के नाम को 'प्रघोषमात्र' कह देने का साहस करते दिखाई देते हैं, वैसे कुछ विद्वान्, इस चूर्णि के प्रान्त में जो रचनाकाल निर्देशक पंक्ति है, उसके उतने अश को प्रक्षिप्त बतला कर, उसका अपलाप करते दिखाई देते हैं। उनका साहस तो इनसे भी बहुत बढ कर है। वे इस पंक्तिगत, उस वाक्याश का अपलाप करके ही नही चुप रहते, वे तो अपने छपाये हुए ग्रन्थमें से उतने वाक्याश को, स्वेच्छापूर्वक निकाल कर बाहर फेंक देने तक का अधिकार रखते हैं और बिना किसी प्रमाण बतलाए कह देना चाहते हैं कि किसी किसी प्रति में यह पाठ नहीं भी मिलता है और इसलिये यह प्रक्षिप्त है। इत्यादि।

नन्दीचूर्णि की जो प्रति छपाई गई है उसमें ऐसा ही किया गया नजर आ रहा है। इसके

इस सम्बन्ध के जो अन्य विचार हैं उन पर हमने अभी तक कोई विशेष विचार नहीं किया। निशीथचूर्णी में जिस सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ का निर्देश है वह अकलंक-कृत ही है या किसी अन्यकृत है इसका विशेष विचार आवश्यक है। सम्प्रदाय भेद के कारण एकही नामके दो दो ग्रन्थ रचे जाने के उदाहरणो का हमारे साहित्य में अभाव नहीं है। सिद्धपाहुड, समयसार, नयचक्र, धर्मपरीक्षा आदि ऐसे अनेक समनामक ग्रन्थ

छपवानेवाले वे ही सुप्रसिद्ध आगमोद्धारक आचार्यवर्य श्रीसागरानन्द सूरि है, जिनकी ज्ञानोपासना के हम अत्यन्त प्रशसक हैं और जिनका शास्त्रव्यासग जैनसमाज के समग्र साधुवर्ग में सर्वोत्कृष्ट है। सूरिजी महाराज, हरिभद्रसूरि के उस समयनिर्णय के विरुद्ध है जो हमने अपने निबन्ध में निश्चित किया है। उसीके सबन्ध में आपका यह मन्तव्य है कि नन्दीचूर्णि के रचनासमय का जो निर्देश उसकी प्रान्त पक्तिमें किया गया है वह ठीक नही है और इसलिये वह प्रक्षिप्त है। किसी ग्रन्थ में किसी पक्ति के प्रक्षिप्त होने की बात कोई आश्चर्यजनक नही होती। सैकडो ग्रथो में सैकडो पक्तियाँ प्रक्षिप्त मिलती हैं। लेकिन यह पक्ति प्रक्षिप्त है या मौलिक है इसका विचार और निर्णय किसी प्रमाण के आधार से ही किया जाता है। बिना आधार के किया जानेवाला कथन विद्वानो को ग्राह्य नही हो सकता। अगर हमें किसी ग्रन्थमें की कोई पक्ति, उसकी पुरानी हस्तलिखित पोथियो में, भिन्न भिन्न शब्दोवाली या वाक्याशोवाली प्राप्त हो, तो हमें जरूर मानना पडेगा कि उस पक्ति की मौलिकता के विषय में कुछ न कुछ गडबड अवश्य है। ऐसे शकित स्थलो में सत्यान्वेषी विद्वानो का कर्तव्य होता है कि उन पक्तियो का खूब सत्यतापूर्वक सशोधन और सपादन किया जाय और कहाँ की प्रति में कौन पाठ मिलता है और कौन नही मिलता इसका प्रामाणिक परिचय दिया जाय। हो सके तो उसकी फोटो-प्रतिकृति भी प्रकट की जाय। ऐसा करनेसे हमारा कथन और मन्तव्य सत्य का अधिक समर्थन करनेवाला होता है और हमारी प्रामाणिकता बढती है। नन्दीचूर्णि के कर्ता चाहे जिस समय में हुए सिद्ध हो, हमें उसके बारे में यत्किंचित् भी कदाग्रह नही है, वैसे ही हरिभद्रसूरि के समय का जो निर्धारण हमने किया है उससे अन्यथा ही यदि वह किसी अन्य प्रामाणिक आधारो पर से सिद्ध हो सकता हो तो हम उसको उसी क्षण स्वीकार करने को उद्यत ही नही है, बल्कि उत्सुक भी है। हमारे लिये इसमें कोई आग्रह या पूर्वग्रह की बात नहीं है। हमारा आग्रह है प्रामाणिकता का। यदि, सागरानन्दसूरिजी महाराज, नन्दीचूर्णि की ऐसी कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति का विश्वसनीय परिचय दें और पता बतावें, कि जिसमें उनको, विवादग्रस्त पक्ति के पाठातर मिले हो या उसका सर्वथा अभाव ही दृष्टिगोचर हुआ हो, तो हम अवश्य उनके अनुग्रहीत होगे और हम अपना भ्रम दूर कर नि शकित बनेंगे। अन्यथा हमारा यह सन्देह कि 'सूरिजी महाराज ने, साभिप्राय, नन्दीचूर्णि के उस उल्लेख को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया है और वैसा करके अपने एक महान् पूर्वाचार्य की कृति का और उसके साथ ही एक सार्वजनिक ऐतिहासिक तथ्यका अपलाप करने का निन्द्य अपराध किया है' दूर नही होगा। क्योकि हमने जितनी प्रतियाँ इस ग्रन्थ की जहाँ कही भडारो में, देखी है उन सबमें, यह पक्ति बराबर लिखी हुई मिली है। खासकर, जबसे सागरानदसूरिजी की वह मुद्रित प्रति हमारे हाथ में आई तबसे हम इस विषयमें बडी सावधानी और बडी उत्सुकता के साथ इसका अन्वेषण कर रहे है कि कोई एक भी प्रति वैसी मिल जाय जिसमें सूरिजी का मुद्रित किया हुआ पाठभेद हो, जिससे हम अपनी शका की निवृत्ति कर सकें और अपने भ्रम का निवारण कर मिथ्यात्व नष्ट कर सकें। अगर इस वक्तव्य में हमारी कुछ धृष्टता मालूम दे तो साथ में उसे क्षमा की जाने की प्रार्थना है।

हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो संप्रदायो में मिलते हैं और जिनके कर्ता भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह बौद्ध और ब्राह्मण मत के साहित्य में भी ऐसे समनामक कई ग्रन्थ मिलते हैं। केवल ग्रन्थ ही नहीं, कई समनामक विद्वान् भी हमारे भूतकाल के इतिहास में, भिन्न भिन्न सम्प्रदायो में और भिन्न भिन्न काल में हो चुके हैं, जिनका समयादि निश्चिततया ज्ञात न हो सकने के कारण हमारे इतिहास की गुत्थियाँ बड़ी जटिल हो रही हैं। अगर किसी शास्त्रकार के विषय में कोई समयसूचक निर्देश मिल जाता है तो वह भी ठीक है या नहीं इसकी पूरी मीमासा की अपेक्षा रखता है। समय सूचक सवत्सर भी, यदि उसके साथ किसी खास विशिष्ट नामका उल्लेख नहीं किया हुआ हो तो, विचारणीय होता है कि वह कौन सवत् है—शक है, विक्रम है, गुप्त है, हर्ष है या वैसा कोई और है। हमारे देश के पुराने लेखों में ऐसे कई संवतों का विधान किया हुआ मिलता है जिनका अभी कुछ पता नहीं चला है। जिन संवतों का प्रारंभ हम एक तरह से निश्चितता के साथ अमुक काल में हुआ मानते हैं, उनके बारे में भी कितनी ही ऐसी नई नई समस्याएं उपस्थित होती रहती हैं, जो मानी हुई निश्चितता को शकाशील बना देती है। इसलिये हमारे इन इतिहास की पहेलियो का ठीक ठीक वास्तविक उत्तर ढूंढ निकालना बडा कठिन कार्य है। इसमें कोई शक नहीं है कि इसके लिये बहुत अन्वेषण, बहुत सशोधन, बहुत परिशीलन, और बहुत आलोचन-प्रत्यालोचन की आवश्यकता है। किसी प्रकार के अभिनिवेश से रहित होकर, केवल सत्य के शुद्ध स्वरूप को जानने की इच्छा से प्रेरित होकर, जो विद्वान् इस मार्ग में प्रवृत्त होते हैं वे ही अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, दूसरे तो भ्रम की भूलभुलैया में आजीवन भटकते रहते हैं और अन्त तक प्रगति के मार्ग से पराङ्मुख बने रहते हैं। न उनको आगे बढने का कोई रास्ता मिलता है और न वे आगे बढ सकते हैं। इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक इन जटिल समस्याओ का, निरभिनिवेशता के साथ आलोचन-प्रत्यालोचन करना और तद्द्वारा सम्यग्ज्ञान का, यथाशक्ति प्रकाश और प्रसार करना, यही एक प्रधान नीति, सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले ग्रन्थो के सपादनकार्य मे रखी गई है। और उसी नीति के आदर्शानुसार ये ग्रन्थरत्न सुयोग्य संपादक विद्वानो द्वारा संपादित और परिष्कृत होकर प्रसिद्ध हो रहे है। ग्रन्थमाला के सचालन में, इस प्रकार अपने इन सुहृद् मित्रो का जो हमें सहयोग प्राप्त हो रहा है उसके लिये हम इनके पूर्ण कृतज्ञ हैं।

श्रावणशुक्ला पचमी
सवत् १९९६
बवई

जिनविजय

प्राक्कथन

§ १. प्राकृतयुग और संस्कृतयुग का अन्तर–

जैन परम्परा मे प्राकृतयुग वह है जिसमें एकमात्र प्राकृत भाषाओ मे ही साहित्य रचने की प्रवृत्ति थी। सस्कृतयुग वह है जिसमे सस्कृत भाषा मे भी साहित्यनिर्माण की प्रवृत्ति व प्रतिष्ठा स्थिर हुई। प्राकृतयुग के साहित्य को देखने से यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय भी जैन विद्वान् सस्कृत भाषासे, तथा सस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित अवश्य थे। फिर भी सस्कृतयुग मे सस्कृत भाषा में ही शास्त्र रचने की ओर झुकाव होने के कारण यह अनिवार्य था कि सस्कृत भाषा, तथा दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक हो। वाचक उमास्वाति के पहले की संस्कृत-जैन-रचना का हमें स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। फिर भी सभव है उनके पहले भी वैसी कोई रचना जैन-साहित्य में हुई हो। कुछ भी हो सस्कृत-जैन-साहित्य नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाओ में विकसित तथा पुष्ट हुआ जान पडता है।

१–तत्त्वज्ञान तथा आचार के पदार्थों का सिर्फ आगमिक शैली मे संस्कृत-भाषा में रूपान्तर, जैसे कि तत्त्वार्थभाष्य, प्रशमरति आदि।

२–उसी शैली के सस्कृत रूपान्तर में कुछ दार्शनिक छाया का प्रवेश, जैसे सर्वार्थसिद्धि।

३–इने गिने आगमिक पदार्थ (खासकर ज्ञानसबन्धी) को लेकर उसपर मुख्यतया तार्किकदृष्टि से अनेकान्तवाद की ही स्थापना, जैसे समन्तभद्र और सिद्धसेन की कृतियाँ।

४–ज्ञान और तत्सबन्धी आगमिक पदार्थों का दर्शनान्तरीय प्रमाण शास्त्र की तरह तर्कबद्ध शास्त्रीकरण, तथा दर्शनान्तरीय चिन्तनो का जैन वाङ्मय में अधिकाधिक सगतीकरण, जैसे अकलंक और हरिभद्र आदि की कृतियाँ।

५–पूर्वाचार्यों की तथा निजी कृतियो के ऊपर विस्तृत-विस्तृतर टीकाएँ लिखना और उनमें दार्शनिक वादो का अधिकाधिक समावेश करना, जैसे विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेव आदि की कृतियाँ।

६—श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय दोनो प्राचीन कृतियो की व्याख्याओ मे तथा निजी मौलिक कृतियो में नव्यन्याय की परिष्कृत शैली का संचार, तथा उसी शैली की अपरिमित कल्पनाओ के द्वारा पुराने ही जैन-तत्त्वज्ञान तथा आचार सम्बन्धी पदार्थों का अभूतपूर्व विशदीकरण, जैसे उपाध्याय यशोविजयजी की कृतियाँ।

उपर्युक्त प्रकार से जैन-साहित्य का विकास व परिवर्द्धन हुआ है, फिर भी उस प्रबल तर्कयुग में कुछ जैन पदार्थ ऐसे ही रहे हैं जैसे वे प्राकृत तथा आगमिक युग मे रहे। उनपर तर्क-शैली या दर्शनान्तरीय चिन्तन का कोई प्रभाव आजतक नहीं पड़ा है। उदाहरणार्थ—सम्पूर्ण कर्मशास्त्र, गुणस्थानविचार, षड्द्रव्यविचारणा, खासकर लोक तथा जीवविभाग आदि। सारांश यह है कि संस्कृत भाषा की विशेष उपासना, तथा दार्शनिक ग्रन्थो के विशेष परिशीलन के द्वारा जैन आचार्यों ने जैन तत्त्वचिन्तन में जो और जितना विकास किया है, वह सब मुख्यतया ज्ञान और तत्सम्बन्धी नय, अनेकान्त आदि पदार्थों के विषय मे ही किया है। दूसरे प्रमेयो मे जो कुछ नयी चर्चा हुई भी है वह बहुत ही थोड़ी है और प्रासंगिक मात्र है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-मीमांसक, बौद्ध आदि दर्शनों के प्रमाणशास्त्रो का अवगाहन जैसे जैसे जैनपरम्परा में बढता गया वैसे वैसे जैन आचार्यों की निजी प्रमाणशास्त्र रचनेकी चिन्ता भी तीव्र होती चली और इसी चिन्ता मे से पुरातन पंचविध ज्ञानविभाग की भूमिका के उपर नये प्रमाणशास्त्र का महल खडा हुआ।

§ २. सिद्धसेन और समन्तभद्र—

जैन परम्परा मे तर्कयुग की या न्याय-प्रमाण-विचारणा की नींव डालने वाले येही दो आचार्य हैं। इनमें से कौन पहले या कौन पीछे है इत्यादि अभी सुनिश्चित नहीं है। फिर भी इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उक्त दोनो आचार्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अनन्तर ही हुए हैं। नये साधनो के आधार पर सिद्धसेन दिवाकर का समय छठी शताब्दी का अन्त भी सभवित है। जो कुछ हो पर स्वामी समन्तभद्र के बारे में अनेकविध ऊहापोह के बाद मुझको अब अतिस्पष्ट हो गया है कि—वे 'पूज्यपाद देवनन्दी' के पूर्व तो हुए ही नहीं। 'पूज्यपाद के द्वारा स्तुत आप्त के समर्थन में ही उन्होंने आप्तमीमांसा लिखी है' यह बात विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्री में सर्वथा स्पष्टरूप से लिखी है। स्वामी समन्तभद्र की सब कृतियो की भाषा, उनमें प्रतिपादित दर्शनान्तरीय मत, उनकी युक्तियाँ, उनके निरूपण का ढंग और उनमें विद्यमान विचारविकास, यह सब वस्तु पूज्यपाद के पहले तो जैन परंपरा में न आई है न आने का संभव ही था। जो दिग्नाग, भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थो के साथ समन्तभद्र की कृतियो की बाह्यान्तर तुलना करेगा और जैन संस्कृत साहित्य के विकासक्रम की ओर ध्यान देगा वह मेरा उपर्युक्त विचार बड़ी सरलता से समझ लेगा।

अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंक के बीच साक्षात् विद्या का सम्बन्ध हो; क्योंकि समन्तभद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की ही व्याख्या है। यह हो नहीं सकता कि अनेकान्तदृष्टि को असाधारण रूपसे स्पष्ट करनेवाली समन्तभद्र की विविध कृतियो में अतिविस्तार से और आकर्षक रूप से प्रतिपादित सप्तभंगियों को तत्त्वार्थ की व्याख्या में अकलंक तो सर्वथा अपनावे, जब कि पूज्यपाद अपनी व्याख्या में उसे छुऍं तक नहीं। यह भी सम्भव है कि–शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह-गत पात्रस्वामी शब्द स्वामी समन्तभद्र का ही सूचक हो। कुछ भी हो पर इतना निश्चित है कि श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के बाद तुरन्त जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हुए और दिगम्बर परंपरा में स्वामी समन्तभद्र के बाद तुरन्त ही अकलंक आए।

§ ३. जिनभद्र और अकलंक–

यद्यपि श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपरा में संस्कृत की प्रतिष्ठा बढ़ती चली। फिर भी दोनो में एक अन्तर स्पष्ट देखा जाता है, वह यह कि–दिगम्बर परंपरा संस्कृत की ओर झुकने के बाद दार्शनिक क्षेत्र में अपने आचार्यों को केवल संस्कृत में ही लिखने को प्रवृत्त करती है जब कि श्वेताम्बर परंपरा अपने विद्वानो को उसी विषय मे प्राकृत रचनाएँ करने को भी प्रवृत्त करती है। यही कारण है कि श्वेताम्बरीय साहित्य मे सिद्धसेन से यशोविजयजी तक की दार्शनिक चिन्तनवाली प्राकृत कृतियाँ भी मिलती हैं। जब कि दिगम्बरीय साहित्य में मात्र संस्कृतनिबद्ध ही वैसी कृतियाँ मिलती है। श्वेताम्बर परंपरा का संस्कृत-युग में भी प्राकृत भाषा के साथ जो निकट और गंभीर परिचय रहा है, वह दिगम्बरीय साहित्य में विरल होता गया है। क्षमाश्रमण जिनभद्र ने अपनी प्रधान कृतियाँ प्राकृत में रचीं जो तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही हैं। भट्टारक अकलंक ने अपनी विशाल और अनुपम कृति राजवार्त्तिक संस्कृत में लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य की तरह तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही है। परन्तु जिनभद्र की कृतियो मे ऐसी कोई स्वतन्त्र संस्कृत कृति नहीं है जैसी अकलंक की है। अकलंक ने आगमिक ग्रन्थ राजवार्त्तिक लिखकर दिगम्बर साहित्य में एक प्रकार से विशेषावश्यक के स्थान की पूर्त्ति तो की, पर उनका ध्यान शीघ्र ही ऐसे प्रश्न पर गया जो जैन-परंपरा के सामने जोरो से उपस्थित था। बौद्ध और ब्राह्मण प्रमाणशास्त्रो की कक्षा में खड़ा रह सके ऐसा न्याय-प्रमाण की समग्र व्यवस्थावाला कोई जैन प्रमाण-ग्रन्थ आवश्यक था। अकलंक, जिनभद्र की तरह पाँच ज्ञान, नय आदि आगमिक वस्तुओ की केवल तार्किक चर्चा करके ही चुप न रहे, उन्होंने उसी पञ्चज्ञान, सप्तनय आदि आगमिक वस्तु का न्याय और प्रमाण-शास्त्ररूप से ऐसा विभाजन किया, ऐसा लक्षण प्रणयन किया, जिससे जैन न्याय और प्रमाण ग्रन्थो के स्वतन्त्र प्रकरणो की माँग पूरी हुई। उनके सामने वस्तु तो आगमिक थी ही, दृष्टि और तर्क का मार्ग भी सिद्ध-

सेन तथा समन्तभद्र के द्वारा परिष्कृत हुआ ही था, फिर भी प्रबल दर्शनान्तरों के विकसित विचारो के साथ प्राचीन जैन निरूपण का तार्किक शैली में मेल बिठाने का काम जैसा तैसा न था जो कि अकलंक ने किया। यही सबब है कि अकलंक की मौलिक कृतियाँ बहुत ही संक्षिप्त हैं, फिर भी वे इतनी अर्थघन तथा सुविचारित हैं कि आगे के जैन न्याय का वे आधार बन गई हैं।

यह भी संभव है कि भट्टारक अकलंक क्षमाश्रमण जिनभद्रकी महत्त्वपूर्ण कृतियो से परिचित होगे। प्रत्येक मुद्दे पर अनेकान्त दृष्टि का उपयोग करने की राजवार्तिकगत व्यापक शैली ठीक वैसी ही है जैसी विशेषावश्यक भाष्य में प्रत्येक चर्चा में अनेकान्त दृष्टि लागू करने की शैली व्यापक है।

§ ४ अकलंक और हरिभद्र आदि–

तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेन गणि जो गन्धहस्तीरूपसे सुनिश्चित हैं, उनके और याकिनीसूनु हरिभद्र के समकालीनत्व के सम्बन्ध मे मैं अपनी सभावना तत्त्वार्थ के हिन्दी विवेचन के परिचय में बतला चुका हूँ। हरिभद्र की कृतियो में अभी तक ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया गया जो निर्विवादरूपसे हरिभद्र के द्वारा अकलंक की कृतियो के अवगाहन का सूचक हो। सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में पाया जानेवाला सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख अगर अकलंक के सिद्धिविनिश्चय का ही बोधक हो तो यह मानना पड़ेगा कि गन्धहस्ती सिद्धसेन कमसे कम अकलंक के सिद्धिविनिश्चय से तो परिचित थे ही। हरिभद्र और गन्धहस्ती अकलंक की कृतियों से परिचित हो या नहीं फिर भी अधिक सभावना इस बातकी है कि अकलङ्क और गन्धहस्ती तथा हरिभद्र ये अपने दीर्घ जीवन में थोडे समय तक भी समकालीन रहे होंगे। अगर यह सभावना ठीक हो तो विक्रम की आठवीं और नवमी शताब्दी का अमुक समय अकलङ्क का जीवन तथा कार्यकाल होना चाहिए।

मेरी धारणा है कि विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जो अकलङ्क की कृतियो के सर्व प्रथम व्याख्याकार हैं वे अकलङ्क के साक्षात् विद्याशिष्य नहीं तो अनन्तरवर्ती अवश्य हैं; क्योंकि इनके पहिले अकलङ्क की कृतियो के ऊपर किसी के व्याख्यान का पता नहीं चलता। इस धारणा के अनुसार दोनों व्याख्याकारों का कार्यकाल विक्रम की नववीं शताब्दी का उत्तरार्ध तो अवश्य होना चाहिए, जो अभी तक के उनके ग्रन्थो के आन्तरिक अवलोकन के साथ मेल खाता है।

§ ५ गन्धहस्तिभाष्य

दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र के गन्धहस्ति महाभाष्य होने की चर्चा कभी चल पड़ी

थी। इस बारे में मेरा असंदिग्ध निर्णय यह है कि—तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर या उसकी किसी व्याख्या के ऊपर स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा के अतिरिक्त कुछ भी लिखा ही नहीं है। यह कभी संभव नहीं कि समन्तभद्र की ऐसी विशिष्ट कृति का एक भी उल्लेख या अवतरण अकलंक और विद्यानन्द जैसे उनके पदानुवर्ती अपनी कृतियों में बिना किए रह सके। बेशक अकलंक का राजवार्तिक गुण और विस्तार की दृष्टिसे ऐसा है जिसे कोई भाष्य ही नहीं महाभाष्य भी कह सकता है। श्वेताम्बर परंपरा में गन्धहस्ती की वृत्ति जब गन्धहस्तिमहाभाष्य नाम से प्रसिद्ध हुई तब करीब गन्धहस्ती के ही समानकालीन अकलंक की उसी तत्त्वार्थ पर बनी हुई विशिष्ट व्याख्या अगर दिगम्बर परम्परा में गन्धहस्ति-भाष्य या गन्धहस्ति महाभाष्य रूपसे प्रसिद्ध या व्यवहृत होने लगे तो यह क्रम दोनो फिरको की साहित्यिक परम्परा के अनुकूल ही है।

परन्तु हम राजवार्तिक के विषय में गन्धहस्ति-महाभाष्य विशेषण का उल्लेख कहीं नहीं पाते। तेरहवीं शताब्दी के बाद ऐसा विरल उल्लेख मिलता है जो समन्तभद्र के गन्धहस्तिभाष्य का सूचन करता हो। मेरी दृष्टि में पीछे के ऐसे सब उल्लेख निराधार और किंवदन्तीमूलक हैं। तथ्य यह ही हो सकता है कि—अगर तत्त्वार्थ-महाभाष्य या तत्त्वार्थ-गन्धहस्ति-महाभाष्य नाम का दिगम्बर साहित्य में मेल बैठाना हो तो वह अकलंकीय राजवार्तिक के साथ ही बैठ सकता है।

❀ ❀ ❀

§ ६. प्रस्तुत संस्करण—

प्रस्तुत पुस्तक में अकलंकीय तीन मौलिक कृतियाँ एक साथ सर्वप्रथम सम्पादित हुई हैं। इन कृतियो के सबन्ध में तात्त्विक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से जितना साधन उपलब्ध है उसे विद्वान् सम्पादक ने टिप्पण तथा अनेक उपयोगी परिशिष्टो के द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में सन्निविष्ट किया है। जो जैन, बौद्ध और ब्राह्मण, सभी परंपरा के विद्वानो के लिए मात्र उपयोगी ही नहीं बल्कि मार्गदर्शक भी है। बेशक अकलंक की प्रस्तुत कृतियॉ अभी तक किसी पाठ्यक्रम में नहीं हैं तथापि उनका महत्त्व और उपयोगित्व दूसरी दृष्टि से और भी अधिक है।

अकलंकग्रन्थत्रय के सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार जी के साथ मेरा परिचय छह साल का है। इतना ही नहीं बल्कि इतने असे के दार्शनिक चिन्तन के अखाड़े में हम लोग समशील साधक है। इससे मै पूरा ताटस्थ्य रखकर भी नि संकोच कह सकता हूँ कि—पं० महेन्द्रकुमार जी का विद्याव्यायाम कम से कम जैन परंपरा के लिए तो सत्कारास्पद ही नहीं अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रन्थ का बहुश्रुत सम्पादन उक्त कथन का साक्षी है। प्रस्तावना में विद्वान् सम्पादक ने अकलंकदेव के समय केबारे में जो विचार प्रकट किया है,

मेरी समझ में अन्य समर्थ प्रमाणों के अभाव में वही विचार आन्तरिक यथार्थ तुलना मूलक होने से सत्य के विशेष निकट है। समयविचार में सम्पादक ने जो सूक्ष्म और विस्तृत तुलना की है वह तत्त्वज्ञान, तथा इतिहास के रसिको के लिए बहुमूल्य भोजन है। ग्रन्थ के परिचय में सम्पादक ने उन सभी पदार्थों का हिन्दी में वर्णन किया है जो अकलकीय प्रस्तुत ग्रन्थत्रय में ग्रथित हैं। यह वर्णन सम्पादक के जैन और जैनेतर शास्त्रों के आकंठ पान का उद्गार मात्र है। सम्पादक की दृष्टि यह है कि--जो अभ्यासी जैन प्रमाण-शास्त्र में आने वाले पदार्थों को उनके असली रूप में हिन्दी भाषा के द्वारा ही अल्पश्रम में जानना चाहे उन्हें वह वर्णन उपयोगी हो। पर उसे साद्यन्त सुन लेने के बाद मेरे ध्यान में तो यह बात आई है कि संस्कृत के द्वारा ही जिन्होंने जैनन्याय-प्रमाण शास्त्र का परिशीलन किया है वैसे जिज्ञासु अध्यापक भी अगर उस वर्णन को पढ जायँगे तो संस्कृत मूलग्रन्थों के द्वारा भी स्पष्ट एवं वास्तविक रूप मे अज्ञात, कई प्रमेयो को वे सुज्ञात कर सकेंगे। उदाहरणार्थ कुछ प्रमेयों का निर्देश भी कर देता हूँ--प्रमाणसम्प्लव, द्रव्य और सन्तान की तुलना आदि। सर्वज्ञत्व भी उनमे से एक है, जिसके बारे में सम्पादक ने ऐसा ऐतिहासिक प्रकाश डाला है जो सभी दार्शनिको के लिए ज्ञातव्य है। विशेषज्ञों के ध्यान मे यह बात बिना आए नहीं रह सकती कि--कम से कम जैन-न्याय-प्रमाण के विद्यार्थियों के वास्ते तो सभी जैन संस्थाओ में यह हिन्दी विभाग वाचनीय रूप से अवश्य सिफारिश करने योग्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ उस प्रमाणमीमांसा की एक तरह से पूर्ति ही करता है जो थोड़े ही दिनो पहले सिंघी जैन सिरीज में प्रकाशित हुई है। प्रमाणमीमासा के हिन्दी टिप्पणो में तथा प्रस्तावना में नहीं आए ऐसे प्रमेयो का भी प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी वर्णन मे समावेश है, और उसमें आए हुए अनेक पदार्थों का सिर्फ दूसरी भाषा तथा शैली में ही नहीं बल्कि दूसरी दृष्टि, तथा दूसरी सामग्री के साथ समावेश है। अत एव कोई भी जैनतत्त्वज्ञान का एव न्याय-प्रमाणशास्त्र का गभीर अभ्यासी सिंघी जैन सिरीज के इन दोनो ग्रन्थो से बहुत कुछ जान सकेगा।

प्रसंगवश मैं अपने पूर्व लेख की सुधारणा भी कर लेता हूँ। मैंने अपने पहले लेखो में अनेकान्त की व्याप्ति बतलाते हुए यह भाव सूचित किया है कि--प्रधानतया अनेकान्त तात्त्विक प्रमेयों की ही चर्चा करता है। अलबत्ता उस समय मेरा वह भाव तर्कप्रधान ग्रन्थो को लेकर ही था। पर इसके स्थान में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि--तर्कयुग मे अनेकान्त की विचारणा भले ही प्रधानतया तात्त्विक प्रमेयो को लेकर हुई हो फिर भी अनेकान्तदृष्टि का उपयोग तो आचार के प्रदेश में आगमो में उतना ही हुआ है जितना कि तत्त्वज्ञान के प्रदेश में। तर्कयुगीन साहित्य में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ बने हैं जिन में प्रधानतया आचार के विषयो को लेकर ही अनेकान्तदृष्टि का उपयोग हुआ है। अतएव समुच्चय रूप से यही कहना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि आचार और विचार के प्रदेश में एकसी लागू की गई है।

सिंघी जैन सिरीज़ के लिए यह सुयोग ही है कि जिसमें प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य की कृतियो का एक विशिष्ट दिगम्बर विद्वान् के द्वारा ही सम्पादन हुआ है। यह भी एक आकस्मिक सुयोग नहीं है कि दिगम्बराचार्य की अन्यत्र अलभ्य परन्तु श्वेताम्बरीय भाण्डार से ही प्राप्त ऐसी विरल कृति का प्रकाशन श्वेताम्बर परंपरा के प्रसिद्ध बाबू श्री बहादुर-सिंह जी सिघी के द्वारा स्थापित और प्रसिद्ध ऐतिहासिक मुनि जिनविजय जी के द्वारा संचालित सिंघी जैन सिरीज़ में हो रहा है। जब मुझको विद्वान् मुनि श्री पुण्यविजय जी के द्वारा प्रमाणसग्रह उपलब्ध हुआ तब यह पता न था कि वह अपने दूसरे दो सहोदरो के साथ इतना अधिक सुसज्जित होकर प्रसिद्ध होगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी
१४–८–१९३९ ई०

—सुखलाल संघवी
[जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी,
भूतपूर्व जैनवाङ्मयाध्यापक गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद]

येनाशेषकुतर्कविभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम् ।
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः ॥
स्याद्वादाप्रतिघप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः ।
स श्रीमान् अकलङ्कभानुरसमो जीयाज्जिनेन्द्रः प्रभुः ॥

—प्रभाचन्द्रः

सम्पादकीय वक्तव्य

§ १. सम्पादन गाथा—

सन् १९३५ के अप्रैल माह में मैंने सिद्धिविनिश्चयटीका के पारायण के लिए उसकी एक कापी करना प्रारम्भ किया। उसमें कई जगह 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ का नाम देखकर अकलङ्ककृत प्रमाणसंग्रह के खोज करने की इच्छा हुई। जुलाई १९३५ में मान्यवर पंडित सुखलालजी जब ग्रीष्मावकाश के बाद काशी आए तो मैंने प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ की चरचा उनसे की। पंडितजी जहां कहीं शास्त्रभण्डार देखने की सुविधा पाते हैं बड़ी सूक्ष्मता से उसका निरीक्षण कर अतिमहत्त्व के ग्रन्थों को अपनी यादी मे लिखवा लेते हैं। उन्होंने जब अपनी नोटबुक के पन्ने उलटवाये तो सचमुच पाटन के भंडार के चुने हुये ग्रन्थो में प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ का नाम दर्ज था। अभी यह निश्चितरूप से मालूम नहीं हुआ था कि यह हमारा इष्ट प्रमाणसंग्रह है या अन्य कोई।

पंडितजी ने सहज शास्त्ररसिक श्री मुनि पुण्यविजयजी को पत्र लिखा। उनका यह उत्तर पाकर कि 'उक्त प्रमाणसग्रह अकलंककर्तृक है तथा उसकी कापी भिजवाएँगे' हम लोग आनन्दविभोर हो गये, और मार्च १९३६ में उनके द्वारा भिजवाई गई फलन्मनोरथरूप कापी को पाकर तो सचमुच नाच ही उठे। पंडितजी ने इसकी सूचना और संक्षिप्त परिचय उसी समय 'वीर, जैनदर्शन तथा जैनसिद्धान्तभास्कर' आदि पत्रो में भिजवा दिया था। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ को २-४ बार बाच जाने पर भी मुझे सन्तोष न हुआ; अतः उसके अक्षरशः वाचननिमित्त मैंने उसकी एक कापी की।

समस्त दर्शनशास्त्रो में भारतीय रूप से अखण्डश्रद्ध पंडितजी ने इस प्रकरण के साथ ही साथ अकलङ्क के स्वोपज्ञविवृतियुक्त लघीयस्त्रय को जो उस समय उपलब्ध था, एकही सग्रह में प्रकाशित करने की योजना बनाई और उसे सिंघी सीरिज के सम्पादक अपने पडितरूप समशीलसखा मुनि जिनविजयजी से कही। मुनिजी ने कलाप्रिय बाबू बहादुरसिंहजी सिंघी के सद्विचारानुसार संचालित और परिपोषित सिंघी सीरिज में इन्हे प्रकाशित करना स्वीकार करके बाबूजी के साहित्यिक-असाम्प्रदायिकभाव को कार्यरूप मे परिणत किया।

पंडित सुखलालजी की योजनाएँ वस्तुतः गहरी अर्थभरी तथा बेजोड़ होती हैं। उन्होने जब तक न्यायकुमुदचन्द्र का कार्य चलता रहा तब तक मुझसे इसकी चरचा ही नहीं की कि—मुझे इनका सम्पादन करना है। नवम्बर १९३७ मे जब न्यायकुमुद का कार्य किनारे आलगा तब एक दिन टहलते समय उन्होंने अपनी चिरपोपित योजना बताई कि—'प्रमाणसग्रह और लघीयस्त्रय के साथ ही साथ न्यायविनिश्चयमूल को भी मिलाकर

'अकलङ्क ग्रन्थत्रय' को एक साथ प्रकाशित किया जाय और इनका सम्पादन मैं करूँ।' मेरा अभी तक यही ख्याल था कि जिस प्रकार जैनतर्कभाषा प्रमाणमीमांसा आदि का कार्य हम लोग पंडितजी के सम्पादकत्व में आंशिक भार को उठा कर करते आए हैं उसी तरह प्रमाणसंग्रहादि का कार्य भी इसी संभूयकारिता में ही निष्पन्न होगा। पंडितजी का क्षीणशरीर पर अद्भुत पुष्टमनोगति एवं समुचित व्यवस्थाप्रणाली का ध्यान करके तो मुझे ऐसा लगा कि–पंडित जी क्यों मेरे ही ऊपर यह भार डाल रहे है ? क्या अब पंडितजी सचमुच सन्मतितर्क की कार्यसमाप्तिकाल की भाति फिर लम्बा विश्राम करना चाहते हैं ? पर मेरी ये आशंकाएँ प्रमाणमीमासा के अवशिष्ट कार्य के भार का विचार आते ही विलीन हो गईं। वस्तुतः उस समय मीमासा का कार्य इतना बाकी पड़ा था कि उसके निवटते निवटते ही करीब १॥ साल का समय लग गया।

पंडितजी के इस स्नेहल आश्वासन के बीच कि–'भाई, जिम्मेवारी तुम्हारी है कार्य तो हम लोगो का एक दूसरे की पूर्ण मदद से चलेगा ही' मैंने इसका सम्पादन भार बड़े उत्साह से ले लिया; क्योंकि उनके साथ ३–४ वर्षो के प्रत्यक्षकार्यानुभव से मैं यह समझता ही था कि–पंडितजी के इतने का कहने अर्थ है–संपादन की रूपरेखा, योजना एवं व्यवस्था के निदर्शन का बौद्धिक भार लेना। इस तरह पूर्ण साधनों तथा आश्वस्त-वातावरण के बीच इसका सम्पादन चालू किया गया। उसका फलद्रूप यह संस्करण है।

इस संस्करण में मुद्रित स्वोपज्ञविवृत्तिसहित लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाण-सग्रह ये तीनो ग्रन्थ सर्वप्रथम ही प्रकाशित हो रहे हैं। सिर्फ इतः पूर्व लघीयस्त्रय की मूलकारिकाएँ अभयनन्दि की वृत्ति के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई हैं।

§ २. संस्करण परिचय–

प्रस्तुत संस्करण में प्रस्तावना के अतिरिक्त तीन स्थूल विभाग हैं–१ मूलग्रन्थ, २ टिप्पण, ३ परिशिष्ट। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

मूलग्रन्थ–मूलग्रन्थों में सर्वप्रथम लघीयस्त्रय ततः न्यायविनिश्चय फिर प्रमाणसंग्रह का मुद्रण हुआ है। इस क्रम में ग्रन्थो की रचनाकाल के इतिहास का आधार लिया है। रचनाशैली तथा विचारो की प्रौढ़ता का ध्यान से निरीक्षण करने पर मालूम होता है कि प्रस्तुतग्रन्थत्रय में लघीयस्त्रय ही अकलंकदेव की आद्यकृति है तथा प्रमाणसंग्रह अन्तिम। लघीयस्त्रय स्वोपज्ञविवृति सहित मुद्रित कराया है। प्रभाचन्द्राचार्य ने इसके उपर १८ हजार श्लोक प्रमाण 'न्यायकुमुदचन्द्र' नाम की बृहत्काय टीका लिखी है। वह इतनी विस्तृत एवं शास्त्रार्थबहुल है कि उसमें से मूल कारिकाओ एव विवृति को ढूँढ़ निकालना अत्यन्त कठिन है। फिर अभी तो उसके मात्र दो परिच्छेद ही मुद्रित हुए है, जिनमें सिर्फ ९ कारिकाओ की ही विवृति आती है। अतः अकलंक के हार्द को जानने के लिए यह आव-श्यक हुआ कि इसका अखण्ड रूप से पृथक् मुद्रण हो। इन्हीं ग्रन्थों के शाब्दिक एवं

आर्थिक शिलाधार पर ही उत्तरकालीन आचार्यों ने जैनन्याय का महाप्रासाद खड़ा किया है। अकलंकदेव का वाक्यविन्यास एवं प्रतिपादनशैली इतनी दुरवगाह है कि उसमें न्यायशास्त्र की योग्यभूमिका रखनेवाले लोगो को भी विना आलम्बन के सीधे ही प्रवेश करना वस्तुतः कठिन है। इसीलिए प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र से कारिकाओं के अनेक उत्थानवाक्यो से चुन कर ये उत्थान वाक्य दिए हैं, जिनसे कारिका का सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ भी भासित हो जाय, और प्रतिपाद्य विषयों का स्थूल वर्गीकरण भी हो जाय।

इसी तरह न्यायविनिश्चय के ऊपर वादिराजसूरिविरचित २० हजार श्लोक प्रमाण 'न्यायविनिश्चयविवरण' नाम की टीका उपलब्ध है, जो आजतक अमुद्रित है। उसमें न्यायविनिश्चय की कारिकाओ के शाब्दिक तथा आर्थिक दृष्टि से दस दस अर्थ तक किए गए हैं। साधारणतः २।३ अर्थ तो चलते ही हैं। उस लिखितविवरण से विषय-वर्गीकरण को ध्यान में रखकर कारिकार्थस्पर्शी उत्थानवाक्य न्यायविनिश्चय में छाँटकर दे दिए हैं। उत्थानवाक्यों के द्वारा विषयावगाहन को सुलभ बनाने के लिए कहीं कहीं एक ही कारिका के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षो के अंशों को पृथक् उत्थान देकर छपाना पड़ा है। इन उत्थानवाक्यो के विस्तृत अंश को इसलिए संक्षिप्त किया है कि-जिससे व्यर्थका संभार भी न बढ़े और आवश्यक भाग भी न छूटे।

प्रमाणसंग्रह की एक मात्र प्रति पाटन के भंडार में मिली। यह नितान्त अशुद्ध है। इसमें जो कारिकांश गद्यभाग में प्रतीक रूप से शामिल थे, उन्हे पृथक् करके कारिका के रूप में [ ] इस ब्रेकिट में छपाया है। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ पर सिद्धिविनिश्चयटीका के उल्लेखानुसार एक 'प्रमाणसंग्रहालंकार या प्रमाणसंग्रहभाष्य' नाम की टीका का पता तो चलता है; पर वह न जाने किस भंडार में कीटकों का भोजन बनकर शास्त्रभक्तों की हास्यास्पद शास्त्रभक्ति का उदाहरण बन अपना जीवन निःशेष कर रही होगी। यद्यपि इसके विषयो का सामान्य विभाजन कर अपनी ओर से उत्थानवाक्य देने का पहिले विचार किया था; पर यह सोचकर कि-'जब लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चयमें प्राचीन टीकाकारो के ही उत्थानवाक्य दिए हैं तब इसमे अपनी ओर से अभी कुछ न लिखकर जैसा का तैसा मूलग्रन्थ ही प्रकाशित करना समुचित होगा' अपनी ओर से उत्थानवाक्य देने की इच्छा को विषयसूची में ही सीमित कर दिया और प्रमाणसंग्रह को विना किसी उत्थानवाक्य के मूलमात्र ही छपाया है।

लघीयस्त्रय में आए हुए अवतरणवाक्यों को इटालिक टाइप में " " डबल इनवर्टेड कामा में तथा प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों को चालूटाइप में ही डबल इनवर्टेड कामा में छपाया है। सब ग्रन्थों में कारिकाओं का टाइप चालू टाइप से बड़ा रखा है।

टिप्पण-टिप्पण लिखते समय पहिले तो यह विचार कर लिखना शुरू किया

कि—प्रस्तुतग्रन्थगत खास खास शब्दों पर ऐतिहासिक एवं तात्त्विक विवेचन के साथ ही साथ भावोद्घाटन भी संस्कृत में ही किया जाय। तदनुसार ही लघीयस्त्रयके प्रमाणप्रवेश के प्रथमपरिच्छेद के टिप्पण लिखे भी। पीछे तो एक तरफ से इस कार्य की बहुसमय-साध्यता और विस्तार, तथा दूसरी ओर इने गिने विद्वानो के सिवाय साधारण अभ्यासियों के लिए इसकी अल्पोपयोगिता का विचार करने से यही उचित प्रतीत हुआ कि इस टिप्पणभाग को इतना विस्तृत न किया जाय। अतः मध्यममार्ग निकालकर मुख्यतया निम्नदृष्टियो के अनुसार टिप्पण लिखे हैं—

१—अकलंकदेव ने प्रस्तुतग्रन्थो में जिन पूर्ववर्ती और समवर्ती वादो या विचारो की समालोचना की है उन पूर्वपक्षीय विचारो का उन्हीं ग्रन्थकारों के ग्रन्थो से अवतरण देकर संग्रह तथा स्पष्टीकरण।

२—यदि पूर्वपक्ष के आधारभूत पूर्वकालीन या समकालीन ग्रन्थ उपलब्ध न हो तब भी उन पूर्वपक्षीय विचारों का अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थकारो के ग्रन्थो के अवतरण द्वारा भी स्पष्टीकरण।

३—पूर्वपक्ष के भाव को समानतन्त्रीय ग्रन्थो में आए हुए पूर्वपक्ष के शब्दो द्वारा विशदीकरण। तात्पर्य यह कि—प्रस्तुतग्रन्थगत पूर्वपक्षीय विचारो का पूर्ववर्ती, समवर्ती और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थो से, तथा अकलंकदेवकी तरह उन पूर्वपक्षो का खंडन करने वाले बौद्धादिग्रन्थो से भी अवतरण देकर पूरा पूरा खुलासा करना।

४—अकलंकदेव ने जिन शब्दो या विचारो द्वारा इतरमतो का निरसन किया है उन उत्तरपक्षीय शब्दो और विचारो की पूर्वकालीन, समकालीन तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों से शाब्दिक और आर्थिक तुलना।

५—प्रस्तुत तीनो ग्रन्थो के गद्य-पद्यांश जिन जिन ग्रन्थो में जिस जिस पाठभेद से उद्धृत मिलते हैं, उन ग्रन्थो का स्थलनिर्देश करके उन गद्यपद्यांशोका पाठभेद के साथ आकलन। जिससे मूलग्रन्थों की पाठशुद्धि का समर्थन हो।

६—प्रस्तुतग्रन्थगत कारिकाओ की अन्य आचार्यों द्वारा की गई विविध व्याख्याओ का तत्तद्ग्रन्थों से सञ्चयन।

७—अकलंक के प्रस्तुतग्रन्थत्रयगत विचारो की जिन ग्रन्थो में आलोचना की गई है उन ग्रन्थों के उस आलोचनात्मक भाग का संकलन।

८—प्रस्तुत ग्रन्थो में आए हुए दर्शनान्तरीय पारिभाषिक शब्दो का प्रामाणिक रूप से भावोद्घाटन।

९—प्रमाणसंग्रह के टिप्पण लिखते समय यह बात और भी ध्यान में रखी गई है कि—इसकी कारिकाओ या गद्यभाग की अन्य ग्रन्थो में जो भी व्याख्या उपलब्ध हो उसका पूरा संग्रह किया जाय। जिससे इस ग्रन्थ की उत्थानवाक्य न देने की कमी भी यथासंभव पूर्ण हो जाय और अमुकभाग का अर्थ भी स्पष्ट हो जाय।

इस टिप्पणसग्रह में मुद्रित दार्शनिकग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनीटीका, हेतुबिन्दु, हेतुबिन्दुटीका, मोक्षकरीय तर्कभाषा, सिद्धिविनिश्चयटीका से उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चय, नयचक्रवृत्ति आदि अलभ्य लिखित तथा प्रूफपुस्तकों का विशिष्ट उपयोग किया गया है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थत्रय की यावत् ऐतिहासिक और तात्त्विक सामग्री के संग्रह करने का समग्र प्रयत्न किया है।

टिप्पण में जिस ग्रन्थ का पाठ दिया गया है उस ग्रन्थ का नाम [ ] इस ब्रेकिट में दिया गया है, शेष द्रष्टव्य ग्रन्थों के नाम ब्रेकिट के बाहिर दिए हैं।

परिशिष्ट–इस संस्करण में ९ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट लगाए हैं। इन ग्रन्थो की कारिकाओं के आधे भाग भी अन्य ग्रन्थो में उद्धृत पाए जाते हैं, अतः कारिकाओ के आधे आधे भागो का अनुक्रम बनाया है, जिससे अनुक्रम बनाने का उद्देश सर्वांश में सफल हो।

१–लघीयस्त्रय के कारिकार्ध का अकारादिक्रमसे अनुक्रम।
२–लघीयस्त्रय में आए हुए अवतरणवाक्यो का अनुक्रम।
३–न्यायविनिश्चय के कारिकार्ध का अनुक्रम।
४–प्रमाणसंग्रह के कारिकार्ध का अनुक्रम।
५–प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों की सूची।
६–लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रय के सभी लाक्षणिक और दार्शनिक शब्दो की सूची।
७–टिप्पणसंग्रह में उपयुक्त ग्रन्थो के सकेत का विवरण तथा स्थलनिर्देश।
८–टिप्पणनिर्दिष्ट आचार्यों की सूची।
९–अकलंकदेव के नाम से अन्य ग्रन्थों मे उद्धृत उन गद्यपद्यभागों की सूची, जो प्रस्तुतग्रन्थत्रय में नहीं है। इसमें उन्हीं गद्यपद्यभागों का संग्रह किया है, जिन्हे ग्रन्थकारों ने अकलंककर्तृकरूप से उद्धृत किया है।

प्रस्तावना–इसके दो विभाग किए हैं–पहिला ग्रन्थकार से सम्बन्ध रखता है, तथा दूसरा ग्रन्थों से।

ग्रन्थकार विभाग में अकलंकदेव के समयनिर्णय के लिए उपयोगी नवीन सामग्री का संकलन है। इसमें ग्रन्थों का आन्तरिक परीक्षण कर उन विशिष्ट एवं तथ्य विचारो का चयन है जिनके आधार से विचार करने पर ग्रन्थकार के इतिहास विवेचन में खासी मदद मिलेगी। अभी तक के इस दिशा में हुए प्रयत्न बाह्यनिरीक्षण से अधिक सम्बन्ध रखते हैं।

ग्रन्थविभाग में ग्रन्थो का बाह्यस्वरूप, उनका अकलंककर्तृत्व, उनके नाम का

इतिहास तथा विस्तृत आन्तरिक विषयपरिचय है। आन्तरिक विषयपरिचय में अकलंकदेव के प्रस्तुत ग्रन्थो में आए हुए विचारों का विषयदृष्टि से विवेचन है। यह परिचय प्रस्तुतग्रन्थत्रय के हार्द को समझने में तो सहायक होगा ही पर इससे भी अधिक मदद न्यायशास्त्र की साधारण भूमिकावाले जैनन्याय के प्रवेशार्थियों को देगा। इस विषयपरिचय में प्रस्तुतग्रन्थत्रय का सार तो आ ही गया है, साथ ही साथ बहुत से महत्त्वपूर्ण विषयो का स्वतन्त्र विवेचन भी है। इससे जैनन्याय के विशिष्ट अभ्यासी भी नवीन विचार-सामग्री पा सकेंगे।

§ ३. संशोधन सामग्री–

लघीयस्त्रय सविवृति–न्यायकुमुदचन्द्र की ईडरभंडारवाली प्रति के प्रारम्भ में विवृति के ११ त्रुटितपत्र विद्यमान हैं। सर्वप्रथम इन्हीं पत्रोके आधार से इसकी टीका न्यायकुमुदचन्द्र से मैंनें और मित्रवर पं० कैलाशचन्द्रजी ने विवृति का पूरा सकलन किया था। उन त्रुटित विवृति के पत्रो में करीब ६१ कारिकाओ की ही विवृति थी। इन त्रुटित पत्रों का भी प्रस्तुत संस्करण में उपयोग किया है। इनकी संज्ञा 'ई०' रखी है। इसके पश्चात् मास्टर मोतीलालजी संघी तथा पं० चैनसुखदासजी काव्यतीर्थ की कृपा से जयपुर से एक विवृति की प्रति प्राप्त हुई। यह प्रति प्रायः शुद्ध है। इस प्रति के मिलने से सकलित विवृति को पूर्णता तथा प्रामाणिकता प्राप्त हुई। इस प्रति का 'ज०' संकेत रखा है। इसमें कुल १५ पत्र है। एक पत्रमे १३ पक्तियाँ है। एक दो पत्रोंमें १२ तथा ११ पंक्तियाँ भी है। पत्र की लम्बाई चौडाई "१०$\frac{1}{2}$×४$\frac{1}{2}$" इंच है। एक पंक्ति में ४१–४२ अक्षर हैं।

न्यायविनिश्चय–न्यायविनिश्चयमूल की कोई प्रति आज तक नहीं मिली। इसका उद्धार न्यायविनिश्चयविवरण से किया गया है। 'अनेकान्त' (द्वितीयवर्ष पृ० १०४) में पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इसकी उद्धार कथा में लिखा है कि–'इसके उद्धार का सर्वप्रथम प्रयत्न प० जिनदास-पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर ने किया। वह उद्धृत अंश मुख्तार सा० को प्राप्त हुआ। मुख्तार सा० ने उसकी बहुत सी त्रुटियाँ निकालकर पं० माणिकचन्द्रजी सहारनपुर की सहायता से उसे क्रमबद्ध तथा पूर्णप्राय किया।' यह कापी मुख्तार सा० द्वारा इसके सम्पादनकाल मे मुझे प्राप्त हुई।

इसके बाद दूसरा प्रयत्न स्याद्वादविद्यालय के धर्माध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने किया। मुख्तार सा० के संग्रह से उसका मिलान करने पर मालुम हुआ कि–मुख्तार सा० के संग्रह में कुछ कारिकाश विवरण में आए हुए पूर्वपक्षीय ग्रन्थो के थे। इन्होने कुछ नवीन पर सन्दिग्ध पद्यो का पता लगाया। जब यह निश्चय हुआ कि–प्रस्तुत संस्करण में न्यायविनिश्चय मूल भी छपाया जाय, तो मैंने भी न्यायविनिश्चयविवरण से मूलभाग

छॉटना शुरू किया, और उसी के आधार से प्रेस कापी बनाई। मुख्तार सा० के संग्रह से मिलान करने पर, जिसमें पं० कैलाशचन्द्रजी के परिवर्तनो की भी सूचना थी, मैंने अपने संग्रह को पं० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से बहुत कुछ मिलता जुलता पाया। बाद में कारिकाओं की संख्या तथा पाठ के निर्णयार्थ प० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से मिलान भी किया।

मुख्तार सा० के संग्रह मे तो विवादग्रस्त कारिकाओ की सख्या ५--६ है। जिसे मुख्तार सा० ने प० कैलाशचन्द्रजी की सूचनानुसार विचाराधीन रखा है। पर पं० कैलाशचन्द्रजी तथा मेरे संग्रह में पारस्परिक विचार विमर्श के बाद विवादग्रस्त कारिका सिर्फ एक ही बची है। प्रथमपरि० की चौथी 'हिताहितासि' वाली कारिका पं० कैलाशचन्द्रजी मूल की नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि--न्यायविनिश्चयविवरण की प्रति में 'स्वलक्षणमसङ्कीर्णं' कारिका पर ११७ का अङ्क पड़ा है। जो मेरे संग्रह से यदि 'हिताहितासि' वाली कारिका निकाल दी जाय तो ठीक बैठता है। अर्थात् ११७॥ वां अंक उसपर आयगा। आधी कारिका का हेर फेर तो किसी श्लोक को ३ चरण का मानने से भी हो सकता है। मेरा विचार है कि--जिस तरह अन्य कारिकाएँ हम लोगो ने व्याख्यान के आधार से ही सकलित की हैं उसी तरह जब इस कारिका का भी यथावत् व्याख्यान विवरण में पाया जाता है तब इसे भी मूल की ही मानना चाहिए। इस कारिका में इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण करने के बाद ही विवरण में शका की गई है कि--अनिन्द्रियप्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर यह दिया है कि वृत्ति में इसका लक्षण है। इससे भी मालूम होता है कि--अकलङ्कदेव ने इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण तो कारिका में किया है तथा अनिन्द्रिय और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण वृत्ति में। ११७ वाली सख्याका निर्वाह तो तीन कारिकाओ को तीन तीन चरण वाली मानकर भी किया जा सकता है। बाकी कारिकाओ के विषय में मेरा तथा प० कैलाशचन्द्रजी का प्रायः समान मत है।

इस तरह तीन भिन्न सग्रहो के आधार से न्यायविनिश्चय मूल का संपादन किया गया है। न्यायविनिश्चयविवरण की बनारसवाली प्रति अत्यन्त अशुद्ध ही नहीं है, किन्तु उसमे कई जगह ४--४ पत्र तक के पाठ छूटे हैं, २--४ पक्तियॉ छूटना तो साधारणसी बात है। मैंने इसकी शुद्धि के लिए मूडबिद्री के वीरवाणीविलास भवन से न्यायविनिश्चयविवरण की ताडपत्रीय प्रति बुलाई। प्रति कनडी अक्षरों में है। अतः एक कनडीवाचक की सहायता से कारिकाओ के मूलस्थलों के विवरणाश को शुद्ध किया और छूटे हुए पत्रो में से मूलाश का संग्रह किया। इतना सभव प्रयत्न होने पर यह सग्रह पाठको के सामने आया है। मैं स्वय अभी इसकी पूर्णता के विषय में निःशंक नहीं हूँ; क्योकि--सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ६१ B) मे आए हुए "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये

सहभुवो गुणाः इत्यस्य 'सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्। शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥' इत्युदाहरणं स्यात्" इस अवतरण से मालूम होता है कि–'सुखमाह्लादनाकारं' कारिका न्यायविनिश्चय की है। पर विवरण में यह कारिका मूल की नहीं मालूम होती; क्योंकि एक तो इसका व्याख्यान नहीं किया गया, दूसरे विवरण (पृ० २३० B) में यह कारिका 'तदुक्तं स्याद्वादमहार्णवे' लिखकर विना किसी उत्थानवाक्य के उद्धृत पाई जाती है। हाँ, इतना विश्वास अवश्य है कि–यह संग्रह शुद्धि के बहुत पास होगा।

प्रमाणसंग्रह–मैं पहिले लिख आया हूँ कि–पं० सुखलालजी और मुनि पुण्यविजयजी के प्रयत्न से इसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई। उसी प्रतिलिपि के अनुसार प्रेसकापी की गई थी। प्रेसकापी का ताड़पत्र से मिलान तथा कुछ शुद्धपाठों की सूचना श्रीमान् मुनि पुण्यविजयजी ने की। प्रमाणसंग्रह की यह एक मात्र प्रति अत्यन्त अशुद्ध है। इसकी मूलप्रति के अनुसार शुद्धता के लिए मुनि पुण्यविजयजी ने इसके प्रूफों का मिलान भी ताडपत्र की प्रति से किया है। इसका परिचय भी मुनिजी ने इस प्रकार लिखा है–

पाटन के संघवी के पाडे के ताडपत्रीय पुस्तक भंडार की यह प्रति है। डब्बा नं० १३५, प्रति नं० २ है। इस पोथी में स्त्रीनिर्वाण केवलिभुक्ति आदि निम्नलिखित १४ प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं–

१–स्त्रीनिर्वाण, पत्र ११–१३ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदंतपादकृत, श्लोक ४५।
२–केवलिभुक्ति, पत्र १३–१५ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदन्तपादकृत, श्लोक ३३।
३–मोक्षोपदेशपञ्चाशक, पत्र १५–१८ तक, संस्कृत, मुनिचन्द्रसूरिकृत, श्लोक ५१।
४–**प्रमाणसंग्रह**, पत्र ६०–९२ तक, संस्कृत, अकलङ्कदेवकृत।
५–ईश्वरकर्तृत्वप्रकरण, पत्र ९३–९८ तक, सस्कृत, चन्द्रप्रभकृत।
६–ब्राह्मणजातिनिराकरण, पत्र ९८–१०४ तक, सस्कृत।
७–बोटिकप्रतिषेध, पत्र १०४–१०८ तक, सस्कृत, हरिभद्रसूरिकृत।
८–सर्वज्ञव्यवस्थाप्रकरण, पत्र १०८–१२१ तक, सस्कृत।
९–क्षणिकवादनिरासप्रकरण, पत्र १२२–१२७ तक, सस्कृत।
१०–गणकारिका रत्नटीकासमेत, पत्र १२८–१५५, सस्कृत, भासर्वज्ञकृत।
११–यमप्रकरण, पत्र १५५–१५६ तक, सस्कृत, विशुद्धमुनि पङ्गोचर शिष्यकृत, श्लोक २१।
१२–लकुलिशप्रार्थना, पत्र १५७, सस्कृत, श्लोक १३।
१३–कारणपदार्थ, पत्र १५७–१५९ तक, सस्कृत, श्लोक ३६।
१४–पुराणोक्तस्कन्दनामानि, पत्र १५९, सस्कृत, श्लोक ७।

इनमें प्रमाणसंग्रह पत्र ६० से ९२ में है।

पत्रो की लम्बाई चौड़ाई "१४$\frac{1}{2}$×२$\frac{1}{2}$" इंच है। एक पत्र में ४ से ८ तक पंक्तियाँ हैं। दो विभाग में लिखा गया है। एक पक्ति में ६०-६२ अक्षर है। ताड़पत्रीय प्रतियो के पत्र प्रायः छोटे वड़े होते हैं। इस प्रति में १$\frac{3}{4}$ इंच से लेकर २$\frac{1}{2}$ इंच तक के चौड़े पत्र हैं।

लिपि के ऊपर से प्रति १२ वीं सदी की लिखी हुई मालूम होती है। प्रति में लेखक का पुष्पिका लेख नहीं है। प्रति मे कहीं कहीं किसी विद्वान् वाचक ने अक्षर सुधारे हैं, अवग्रह, पदच्छेद तथा टिप्पण भी किये हैं।

प्रति की लिपि सुन्दर, स्वच्छ तथा स्पष्ट है। हाँ, कुछ अक्षरो में विपर्यास हुआ है। जैसे कि—श के वदले स, स के वदले श वहुत जगह लिखा है। सकल के वदले शकल शास्त्र के वदले सास्त्र इत्यादि। व और व का भेद तो लेखक ने रखा ही नहीं है। निम्न अक्षरो को समझने में भ्रम होता है—व ध, त्व न्व न्ध, ध्य ग्र थ्व, न्त न्न त्त, न् म आदि। कहीं कहीं परसवर्ण किया है। व्यजन न् के वदले नु तथा नु के वदले न्, कु के वदले क अथवा क्र लिखा है। कर्म्म धर्म्म शर्म्म तर्क्क सर्व्व इत्यादि शब्द द्वित्व करके लिखे हैं। प्रति प्राचीन, अखड तथा सुरक्षित है। कहीं कहीं दीमक के जाने के निशान मालूम होते हैं; पर प्रति के अक्षर खराव नहीं हुए हैं।

अन्य प्रमाणसंग्रह—मद्रास प्रान्त की प्राइवेट् लाइब्रेरियो के सूचीपत्र में निम्नस्थानों पर प्रमाणसंग्रह का पता चला है—

केटलाग नं० १४९७—अनन्तस्वामी श्रौति भवानी (coimbatore)

२३८०—सरस्वती भंडारकमेटी Tiruvalli kkeni (ट्रिप्लिकेन)

३१७०—सीताराम शास्त्रियर आस्थानपंडित मैसूर।

५०९८—Attan Alaka PPangar of Alvar Truna Pari (Tinni velly)

५३८७—अनन्तस्वामी ऑफ श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली)

५८०७—विद्वान् श्रीरंगाचारियर of Shri valli Puttur (Tinni velly)

मैंने इन सव स्थानो को जवावी पत्र लिखे पर कहीं से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। मालूम नहीं कि इन स्थानो मे प्रमाणसंग्रह अकलङ्ककृत जैन ग्रन्थ है या अन्य कोई अजैन प्रमाणसग्रह। अडयार लाइब्रेरी के सूचीपत्र मे भी प्रमाणसग्रह का नाम था। खोज करने पर मालूम हुआ कि—वह कोई अजैन ग्रन्थ है और उसमे दायभाग के प्रमाणो का संग्रह है। शास्त्ररसिक महानुभावो को उक्त स्थानो मे प्रमाणसग्रह की खोज करनी चाहिए।

§ ४. आभार प्रदर्शन—

श्रद्धेय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी—आपने अत्यन्त कठिनता से प्राप्त प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ के सम्पादनका भार मुझे सौंपा। आपकी अमूल्य तथा मार्मिक सूचनाओ के अनुसार ही इसका सम्पादन किया गया है। आपकी सूक्ष्मदृष्टि एव सत्साहित्य-प्रवृद्धिविषयक

उदारभाव से मैं बिना किसी कठिनाई के इसका सम्पादन करने में समर्थ हुआ। ग्रन्थ के टिप्पण हिन्दीलेखन आदि सभी कार्य आपकी सूचना एवं परामर्श के अनुसार ही हुए हैं। सिंघी ग्रन्थमाला के संस्थापक सदाशय बाबू बहादुरसिंह जी सिंघी–जो बिना किसी सम्प्रदायभेद के उत्तम साहित्य का अकल्पित औदार्य से प्रकाशन कर संस्कृति के इस अंग की भी सुदृढ़ रक्षा कर रहे हैं। ग्रन्थमाला के संपादक विद्वान् मुनि श्रीजिनविजयजी–जिनकी सुसंस्कृत कार्यप्रणाली से ग्रन्थमाला का सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशन हो रहा है, तथा जिनने सम्पादन के आभ्यन्तर एवं बाह्य स्वरूपनिर्धारण में अपने चिरकालीन सम्पादन प्रकाशन के अनुभव से अनेकों सूचनाएँ दीं।

मुनि श्रीपुण्यविजयजी–आपने प्रमाणसंग्रह की प्रेसकापी को तथा प्रूफों को ताड़पत्र से मिलाकर अनेक शुद्ध पाठों की सूचना दी। प्रमाणसंग्रह का प्रतिपरिचय भी आपने ही लिखा है। आप जैसा निःस्वार्थ साहित्यप्रेम अन्यत्र कम दिखाई देता है। आप की इस सहज परकार्यपरायणता से मुझे बड़ा आश्वासन मिला है। भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री–आपकी सहायता से ही सर्वप्रथम विवृति का संकलन किया गया था। आपने अपने संकलित न्यायविनिश्चय से हमें जब जरूरत हुई तब कारिकानिर्णय, अशुद्धिशोधन तथा पाठान्तर देने में सहज भ्रातृत्व से पूर्ण योग दिया। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार–आपने बड़े श्रम से तैयार किया हुआ न्यायविनिश्चयमूल का लिखित संग्रह पं० सुखलाल-जी का पत्र पाते ही तुरन्त भेज दिया। जिसके आधार से कारिकानिर्णय आदि में बड़ी सहायता मिली।

त्रिपिटिकाचार्य भिक्षुवर राहुलसांकृत्यायन–आपने अपनी असाधारण कर्मठता से प्राप्त प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दिनी टीका, प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति और स्वोपज्ञवृत्ति टीका के प्रूफ दिए, तथा प्रमाणवार्तिकालंकार की सर्वथा अलभ्य प्रेसकापी से नोट लेने दिए। आप की इस आन्तरिक उदारता के कारण मैं टिप्पणों में अलभ्य अव-तरणों का संग्रह कर सका हूँ। मि० P. तारकस M. A. ने हेतुबिन्दुमूल देखने दिया।

कविरत्न पं० चैनसुखदासजी, तथा मास्टर मोतीलालजी संघी जयपुर ने लघीयस्त्रय-स्वविवृति की प्रति भेजी। पं० लोकनाथ पार्श्वनाथ शास्त्री मूडबिद्री ने न्यायविनिश्चया-लङ्कार की प्रति भेजी। भाई पं० दलसुखजी न्यायतीर्थ ने छपाई परिशिष्ट आदि बनाने की सूचनाएँ दीं। प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री मैसूर तथा प्रो० ए. एन. उपाध्याय कोल्हापुर ने अकलङ्क के समय विषयक अपने मन्तव्य की पत्र द्वारा विस्तार से सूचना दी। अतएव मैं उक्त महानुभावों का आन्तरिक आभार प्रदर्शन करता हूँ। इति शम्।

श्रुतपचमी, ज्येष्ठ शुक्ल ५,
वीरनिर्वाण सं० २४६६
स्याद्वाद विद्यालय काशी

सम्पादक–
न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री

प्रस्तावना

१. ग्रन्थकार

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव की जीवनगाथा न तो उन्होने स्वयं ही लिखी है और न तन्निकट-समयवर्ती किन्हीं दूसरे आचार्यों ने ही। उपलब्ध कथाकोशो में सबसे पुराने हरिषेणकृत कथाकोश मे समन्तभद्र और अकलंक जैसे युगप्रधान आचार्यों की कथाएँ ही नहीं हैं। हरिषेण ने स्वय अपने कथाकोश का समाप्तिकाल शकसंवत् ८५३ (ई० ९४१) लिखा है। प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोश में अकलंक की कथा मिलती है। पं० नाथूराम जी प्रेमी इसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं सदी अनुमान करते हैं। प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश को ही ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने विक्रमसंवत् १५७५ के आसपास पद्यरूप में परिवर्तित किया है। देवचन्द्रकृत कनडी भाषा की 'राजावलीकथे' में भी अकलंक की कथा है। इसका रचनाकाल १६ वीं सदी के बाद है। इस तरह कथाग्रन्थो में चौदहवीं सदी से पहिले का कोई कथाग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें अकलंक का चरित्र तो क्या निर्देश तक भी हो। अकलंकदेव के ६०० वर्ष बाद की इन कथाओ का इतिवृत्तज्ञ विद्वान पूरे पूरे रूप में अनुसरण नहीं करते हैं। इनके सिवाय अकलंक के शास्त्रार्थ का उल्लेख मल्लिषेण-प्रशस्ति में है। यह प्रशस्ति विक्रमसंवत् ११८५ में लिखी गई थी। अकलंक के पिता का नाम राजवार्तिक प्रथमाध्याय के अन्त में आए हुए 'जीयाच्चिर' श्लोक में 'लघुहव्व' लिखा हुआ है। इस तरह अकलंक के जीवनवृत्त की सामग्री नहीं वत् है। जो है भी वह इतनी बाद की है कि उस पर अन्य प्रबल साधक प्रमाणो के अभाव में सहसा जोर नहीं दिया जा सकता।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने कथाकोश आदि के आधार से जैनहितैषी (भाग ११ अंक ७-८) में अकलंकदेव का जीवन वृत्तान्त लिखा है। उसीके आधार से न्याय-कुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में भी बहुत कुछ लिखा गया है। यहां मैं उसका पिष्टपेषण न करके सिर्फ उन्हीं मुद्दों पर कुछ विचार प्रकट करूँगा, जिनके विषय में अभी कुछ नया जाना गया है तथा अनुमान करने के लिए प्रेरकसामग्री संकलित की जा सकी है। खास कर समयनिर्णयार्थ कुछ आभ्यन्तर सामग्री उपस्थित करना ही इस समय मुख्यरूप से प्रस्तुत है; क्योंकि इस दिशा मे जैसी गुंजाइश है वैसा प्रयत्न नहीं हुआ।

§ १. जन्मभूमि-पितृकुल—

प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश तथा उसीके परिवर्तितरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्त के आरा-धनाकथाकोश के लेखानुसार अकलंक का जन्मस्थान मान्यखेट नगरी है। वे वहां के राजा

शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के ज्येष्ठ पुत्र थे। श्री देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाके राजावलीकथे नामक ग्रन्थ में उन्हे काञ्ची के जिनदास ब्राह्मण का पुत्र बताया है। इनकी माता का नाम जिनमती था। तीसरा उल्लेख राजवार्तिक के प्रथम अध्यायके अन्तमें पाया जाने वाला यह श्लोक है—

"जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥"

इस श्लोकके अनुसार वे लघुहव्व राजाके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र थे। विद्वानो की आजतक की पर्यालोचना से ज्ञात होता है कि वे राजावलीकथे का वर्णन प्रमाणकोटि में नहीं मानते और कथाकोश के वर्णन की अपेक्षा उनका झुकाव राजवार्तिक के श्लोक की ओर अधिक दिखाई देता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि—लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति है। राष्ट्रकूट-वंशीय इन्द्रराजद्वितीय तथा कृष्णराजप्रथम भाई भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्गद्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्याधिकारी हुआ। कर्नाटक प्रान्त में पिता को अव्व या अप्प शब्द से कहते हैं। सम्भव है कि दन्तिदुर्ग अपने चाचा कृष्ण-राज को भी अव्व शब्द से कहता हो। यह तो एक साधारणसा नियम है कि जिसे राजा 'अव्व' कहता हो, उसे प्रजा भी 'अव्व' शब्द से ही कहेगी। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभंतुग था, दन्तिदुर्ग के बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि—पुरुषोत्तम कृष्णराज के प्रथम से ही लघु सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग एवं प्रजाजन इनको 'लघु अव्व' शब्द से कहते होगे। बाद में कृष्णराज के राज्यकाल में ये कृष्णराज के मंत्री बने होगे। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्था में राज्याधिकारी हुए थे। इसलिये यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि—पुरुषोत्तम की अवस्था भी करीब करीब उतनी ही होगी और उनका ज्येष्ठ पुत्र अकलक दन्तिदुर्ग की सभा में, जिनका उपनाम 'साहसतुंग' कहा जाता है, अपने हिमशीतल की सभा में होने वाले शास्त्रार्थ की बात कहे। पुरुषोत्तम का 'लघुअव्व' नाम इतना रूढ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तम की अपेक्षा प्रसिद्ध नाम 'लघुअव्व' अधिक पसन्द करते होगे। यदि राजवार्तिकवाला श्लोक अकलंक या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्य का है तो उसमे पुरुषोत्तम की जगह 'लघुअव्व' नाम आना स्वाभाविक ही है। 'लघुअव्व' एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही और इसीलिए वे भी नृपति कहे जाते थे। अकलंक उनके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र या श्रेष्ठ पुत्र थे।

यद्यपि अभी तक इतिहास से यह मालूम हो सका है कि—मान्यखेट राजधानी की प्रतिष्ठा महाराज अमोघवर्ष ने की थी। पर इसमें सभी ऐतिहासिक विद्वानो का एकमत नहीं है। यह तो सम्भव है कि अमोघवर्ष ने इसका जीर्णोद्धार करके पुनः प्रतिष्ठा की हो,

क्योकि अमोघवर्ष के पहिले भी 'मान्यपुर, मान्यान्' आदि उल्लेख मिलते हैं। अथवा यह मान भी लिया जाय कि अमोघवर्ष ने ही मान्यखेट को प्रतिष्ठित किया था। तब भी इससे कथाकोश की बाते सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कही जा सकती। इससे तो इतना ही कहा जा सकता है कि–कथाकोशकार के समय मे राष्ट्रकूटवशीय राजाओ की राजधानी आमतौर से मान्यखेट प्रसिद्ध थी और इसीलिये कथाकोशकार ने शुभतुग की राजधानी भी मान्यखेट लिख दी है।

यदि पुरुषोत्तम और लघुअव्व के एक ही व्यक्ति होने का अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलकदेव की जन्मभूमि मान्यखेट के ही आस पास होगी तथा पिता का असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअव्व' होगा। 'लघुअव्व' की जगह 'लघुहव्व' का होना तो उच्चारण की विविधता और प्रति के लेखनवैचित्र्य का फल है।

§ २. समय विचार–

अकलक के समय के विषय मे मुख्यतया दो मत हैं। पहिला स्वर्गीय डॉ० के० बी० पाठक का और दूसरा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री तथा प० जुगलकिशोर मुख्तार का। डॉ० पाठक मल्लिषेणप्रशस्ति के 'राजन् साहसतुग' श्लोक के आधार से इन्हे राष्ट्रकूटवशीय राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम का समकालीन मानते हैं, और अकलकचरित के–

"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥"

इस श्लोक के 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्द का शकसवत् अर्थ करते हैं। अतः इनके मतानुसार अकलकदेव शकसवत् ७०० (ई० ७७८) मे जीवित थे।

दूसरे पक्ष मे श्रीकण्ठशास्त्री तथा मुख्तारसा० 'विक्रमार्कशकाब्द' का विक्रमसवत् अर्थ करके अकलक देवकी स्थिति विक्रम स० ७०० (ई० ६४३) मे बतलाते हैं।

प्रथममत का समर्थन स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण तथा प० नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानो ने किया है। इसके समर्थनार्थ हरिवशपुराण (१।३१) मे अकलकदेव का स्मरण, अकलक द्वारा धर्मकीर्ति का खडन तथा प्रभाचन्द्र के कथाकोश मे अकलक को शुभतुग का मन्त्रिपुत्र बतलाया जाना आदि युक्तियॉ प्रयुक्त की गई है।

दूसरे मत के समर्थक प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि हैं। इस मत के समर्थनार्थ वीरसेन द्वारा धवलाटीका में राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना, हरिभद्र के द्वारा 'अकलंक न्याय' शब्द का प्रयोग, सिद्धसेनगणि का सिद्धिविनिश्चय वाला उल्लेख, जिनदासगणि महत्तर द्वारा निशीथचूर्णि मे सिद्धिविनिश्चय का दर्शनप्रभावक शास्त्ररूपसे लिखा जाना आदि प्रमाण दिए गए हैं[१]।

१ इन दोनो मतो के समर्थन की सभी युक्तियो का विस्तृत सग्रह न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में देखना चाहिए।

हमारी विचारसरणि–किसी एक आचार्य का या उसके ग्रन्थ का अन्य आचार्य समकालीन होकर भी उल्लेख और समालोचन कर सकते हैं, और उत्तरकालीन होकर भी। पर इस में हमें इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उल्लेखादि करनेवाला आचार्य जैन है या जैनेतर। अपने सम्प्रदाय में तो जब मामूली से थोड़ा भी अच्छा व्यक्ति, जिसकी प्रवृत्ति इतरमत निरसन के द्वारा मार्गप्रभावना की ओर अधिक होती है, बहुत जल्दी ख्यात हो जाता है, तब असाधारण विद्वानों की तो बात ही क्या? स्वसम्प्रदाय में प्रसिद्धि के लिये अधिक समय की आवश्यकता नहीं होती। अतः स्वसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा पूर्वकालीन तथा समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया जाना ठीक है। इतना ही नहीं; पर स्वसम्प्रदाय में तो किसी वृद्ध आचार्य द्वारा असाधारणप्रतिभाशाली युवक आचार्य का भी उल्लेख होना संभव है। पर अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा समालोचन या उल्लेख होने योग्य प्रसिद्धि के लिए कुछ समय अवश्य ही अपेक्षित होता है। क्योंकि १२-१३ सौ वर्ष पूर्व के साम्प्रदायिक वातावरण में असाधारण प्रसिद्धि के विना अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों पर इस प्रकार की छाप नहीं पड़ सकती, जिससे वे उल्लेख करने में तथा समालोचन या अनुसरण करने में प्रवृत्त हो। अतः सम्प्रदायान्तर के उल्लेख या समालोचन करने वाले आचार्य से समालोच्य या उल्लेखनीय आचार्य के समय में समकालीन होने पर भी १५-२० वर्ष जितने समय का पौर्वापर्य मानना विशेष सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं और मिलते भी हैं; पर साधारणतया यह प्रणाली सत्यमार्गोन्मुख होती है। दूसरे समानकालीन लेखको के द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्री के अभाव में ग्रन्थों के आन्तरिकपरीक्षण को अधिक महत्त्व देना सत्य के अधिक निकट पहुँचने का प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षण के सिवाय अन्य बाह्य साधनो का उपयोग तो खींचतान करके दोनो ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं। मैं यहां इसी विचार पद्धति के अनुसार विचार करूँगा।

अकलङ्क के ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के आधार से मेरा विचार स्पष्टरूप से अकलंक के समय के विषय में डॉ० पाठक के मत की ओर ही अधिक झुकता है। हॉ, मेरी समर्थनपद्धति डॉ० पाठक की समर्थन पद्धति से भिन्न है। मैं पहिले विरोधी मत की उन एक दो खास युक्तियों की आलोचना करूँगा जिनके आधार पर उनका मत स्थिर है, फिर उन विचारो को विस्तार से लिखूँगा जिनने मेरी मति डॉ० पाठक के मतसमर्थन की ओर झुकाई।

आलोचना–(१) निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का दर्शनप्रभावकरूप से उल्लेख है तो सही। यह भी ठीक है कि इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं, क्योंकि निशीथचूर्णि के अन्त में दी हुई गाथा से उनका नाम स्पष्टरूपसे निकल आता है। पर अभी इस

चूर्णि के रचनाकाल का पूरा निश्चय नहीं है। यद्यपि नन्दीचूर्णि की प्राचीन और विश्वसनीय प्रति में उसका रचनासमय शक ५९८ (ई० ६७६) दिया है पर इसके कर्त्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं यह अभी संदिग्ध है। इसके कारण ये हैं–

१–अभी तक परम्परागत प्रसिद्धि ही ऐसी चली आ रही है कि नन्दीचूर्णि जिनदास की है, पर कोई साधकप्रमाण नहीं मिला। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर के जैनागम कैटलॉग में प्रो० H R कापड़िया ने स्पष्ट लिखा है कि–नन्दीचूर्णि के कर्त्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है।

२–निशीथचूर्णि की तरह नन्दीचूर्णि के अन्त में जिनदास ने अपना नाम नहीं दिया।

३–नन्दीचूर्णि के अन्त मे पाई जाने वाली–

"णिरेण गामेत्त महासहा जिता, पसूयती सख जगद्धिताकुला।
कमद्धिता वीसंत चिंतितक्खरो फुडं कहेयं अभिहाणकम्मुणा॥"

इस गाथा के अक्षरो को लौट पलटने पर भी 'जिनदास' नाम नहीं निकलता।

४–नन्द्यध्ययन टीका के रचयिता आचार्य मलयगिरि को भी चूर्णिकार का नाम नहीं मालुम था; क्योकि वे अपनी टीका में पूर्वटीकाकार आचार्यों का स्मरण करते समय हरिभद्रसूरि का तो नाम लेकर स्मरण करते हैं जब कि हरिभद्र के द्वारा आधार रूप से अवलम्बित चूर्णि के रचयिता का वे नामोल्लेख नहीं करके 'तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु' इतना लिखकर ही चुप हो जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि–आचार्य मलयगिरि चूर्णिकार के नाम से अपरिचित थे; अन्यथा वे हरिभद्र की तरह चूर्णिकार का नाम लिये बिना नहीं रहते।

अतः जब नन्दीचूर्णि की और निशीथचूर्णि की एककर्तृकता ही अनिश्चित है तब नन्दीचूर्णि के समय से निशीथचूर्णि के समय का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस तरह अनिश्चितसमयवाला निशीथचूर्णि का सिद्धिविनिश्चय वाला उल्लेख अकलंक का समय ई० ६७६ से पहिले ले जाने में साधक नहीं हो सकता।

(२) अकलंकचरित के 'विक्रमार्क शकाब्द' वाले उल्लेख को हमे अन्य समर्थ प्रमाणों के प्रकाश में ही देखना तथा संगत करना होगा; क्योकि अकलंकचरित १५ वीं १६ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। यह अकलंक से करीब सात आठ सौ वर्ष बाद बनाया गया है। अकलंकचरित के कर्ता के सामने यह परम्परा रही होगी कि 'सवत्

---

१ भाण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर के जैनागम कैटलॉग (Part II. P. 302) मे मलयगिरिरचित लिखित तीन नन्दिसूत्रविवरणो का परिचय हैं। उनमें चूर्णकार तथा हरिभद्र का निम्न श्लोकों में स्मरण किया हैं—

"नन्द्यध्ययन पूर्वं प्रकाशितं येन विषमभावार्थम्। तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोस्तु विबुधे परोपकृते॥१॥
मध्ये समस्तभूपीठं यशो यस्याभिवर्द्धत। तस्मै श्रीहरिभद्राय नमष्टीकाविधायिने॥२॥"

७०० में अकलंक का शास्त्रार्थ हुआ था'; पर उन्हें यह निश्चित मालूम नहीं था कि–यह संवत् विक्रम है या शक अथवा और कोई ? आगे लिखे हुए 'अकलंक के ग्रन्थों की तुलना' शीर्षक स्तम्भ से यह स्पष्ट हो जायगा कि अकलंक ने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि आदि आचार्यों के विचारो की आलोचना की है। कुमारिल आदि का कार्यकाल सन् ६५० ई० से पहिले किसी भी तरह नहीं जाता; क्योंकि भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) की आलोचना कुमारिल आदि के ग्रन्थो में पाई जाती है। यदि विक्रमार्क शकाब्द से विक्रमसंवत् विवक्षित किया जाय तो अकलक को कुमारिल आदि से पूर्वकालीन नहीं तो ज्येष्ठ तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यह अकलंक के द्वारा जिन अन्य आचार्यों की समालोचना की गई है, उनके समय से स्पष्ट ही विरुद्ध पड़ता है। अतः हम इस श्लोक को इतना महत्त्व नहीं दे सकते, जिससे हमे सारी वस्तुस्थिति को उलट कर भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णकगोमि को, जिनमें स्पष्टरूप से पौर्वापर्य है खींचतान कर समान काल में लाना पड़े। अकलकदेव के ग्रन्थो से मालूम होता है कि उनका बौद्धदर्शनविषयक अभ्यास धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्यो के मूल एवं टीकाग्रन्थों का था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि–उन्होने वसुवन्धु या दिग्नाग के ग्रन्थ नहीं देखे थे। किन्तु बौद्धो के साथ महान् शास्त्रार्थ करनेवाले अकलक को उन पूर्वग्रन्थों का देखना भर पर्याप्त नहीं था, उन्हे तो शास्त्रार्थ में खण्डनीय जटिल युक्तिजाल का विशिष्ट अभ्यास चाहिए था। इसलिये शास्त्रार्थ में उपयोगी दलीलो के कोटिक्रम मे पूर्ण निष्णात अकलक का महान् वाद विक्रम ७०० में असभव मालूम होता है; क्योकि धर्मकीर्ति आदि का ग्रन्थरचनाकाल सन् ६६० से पहिले किसी तरह सभव नहीं है। साराश यह कि–हमें इस उल्लेख की संगति के लिए अन्य साधक एवं पोषक प्रमाण खोजने होगे। मैंने इसी दिशा में यह प्रयत्न किया है।

अन्य हरिभद्र, सिद्धसेनगणि आदि द्वारा अकलंक का उल्लेख, हरिवंशपुराण में

---

१ हरिवशपुराण के "इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिण। देवस्य देवसघस्य न वन्दन्ते गिरः कथम् ॥" (१-३१) इस श्लोक में प० कैलाशचन्द्रजी देवनन्दि का स्मरण मानते हैं। उसके लिये 'देवसघन्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठ शुद्ध बताते हैं (न्यायकुमुद प्रस्ता०)। पर इस श्लोक का 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिण' विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि–वे देव इन्द्र चन्द्र अर्क जैनेन्द्र व्याडि आदि व्याकरणों के ईक्षिन्-द्रष्टा–विशिष्ट अभ्यासी थे। देवनन्दि इन्द्र आदि व्याकरणो के अभ्यासी तो हो सकते हैं पर जैनेन्द्र व्याकरण के तो वे रचयिता थे। यदि देवनन्दि का स्मरण हरिवंशकार को करना था तो वे 'जैनेन्द्रकर्त्तु. या जैनेन्द्रप्रणेतुः' ऐसा कोई पद रखते। एक ही पद में जैनेन्द्र के कर्त्ता तथा इन्द्रादि व्याकरणो के अभ्यासी देवनन्दि का उल्लेख व्याकरणशास्त्र के नियमो से विरुद्ध है। देवनन्दि का स्मरण मानने के लिए 'देवसघस्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठरूप कल्पनागौरव का, तथा 'देवनन्दस्य' पाठ के भ्रष्ट रूप मे देवनन्दि का सकेत मानने रूप क्लिष्टकल्पना का भार व्यर्थ ही ढोना पड़ता है। अतः इस श्लोक में शब्दशास्त्रनिष्णात अकलक का ही स्मरण मानना चाहिए।

अकलंक का उल्लेख, वीरसेन द्वारा राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना आदि ऐसे रबरप्रकृतिक प्रमाण हैं, जिन्हे खींचकर कहीं भी बिठाया जा सकता है। अतः उनकी निराधार खींचतान में मैं अपना तथा पाठको का समय खर्च नहीं करूँगा।

§ ३. अकलंक के ग्रन्थों की तुलना–

हमें अकलंक के ग्रन्थो के साथ जिन आचार्यों के ग्रन्थो की तुलना करना है उनके पारस्परिक पौर्वापर्य एव समय के निर्णय की खास आवश्यकता है। अतः तुलना लिखने के पहिले उन खास खास आचार्यों के पौर्वापर्य तथा समय के विषय की आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रथम भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित आदि आचार्यों के समय आदि का विचार होगा फिर इनके साथ अकलंक की तुलना करके अकलकदेव का समय निर्णीत होगा।

भर्तृहरि और कुमारिल–इत्सिग के उल्लेखानुसार भर्तृहरि उस समय के एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उस समय इनका वाक्यविषयकचर्चावाला वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध था। इत्सिग ने जब (सन् ६९१) अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरि की मृत्यु हुए ४० वर्ष हो चुके थे। अतः भर्तृहरि का समय सन् ६००-६५० तक सुनिश्चित है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत दर्शन के प्रस्थापक थे। मीमासकधुरीण कुमारिल ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय से अनेकों श्लोक उद्धृत कर उनकी समालोचना की है। यथा–

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥" [वाक्यपदीय २।१२१]

तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में यह श्लोक दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-१०) में कुमारिल ने वाक्यपदीय के "तत्त्वावबोध. शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते" (वाक्यप० १।७) अश को उद्धृत कर उसका खडन किया है। मीमासाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लोक ५१ से) मे वाक्यपदीय (२।१-२) में आए हुए दशविध वाक्यलक्षणों का समालोचन किया है। भर्तृहरि के स्फोटवाद की भी आलोचना कुमारिल ने (मी० श्लो० स्फोटवाद) बड़ी प्रखरता से की है। डॉ० के. बी. पाठक ने यह निर्धारित किया है कि–कुमारिल इसवी सन् की ८ वीं शताब्दी के पूर्वभाग में हुए हैं। डॉ० पाठक के द्वारा अन्विष्ट प्रमाणो से इतना तो स्पष्ट है कि कुमारिल भर्तृहरि (सन् ६५०) के बाद हुए हैं। अत. कम से कम उनका कार्यकाल सन् ६५० के बाद तो होगा; पर वे इतने बाद तो कभी नहीं हो सकते। मेरे 'धर्मकीर्ति और कुमारिल' के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि–कुमारिल भर्तृहरि के बाद होकर भी धर्मकीर्ति के कुछ पूर्व हुए हैं; क्योकि धर्मकीर्ति ने कुमारिल के विचारो का खडन किया है। डॉ० पाठक कुमारिल और धर्मकीर्ति के पारस्परिक पौर्वापर्य के विषय में अभ्रान्त नहीं थे। यही कारण है कि–वे कुमारिल का समय ई०

८ वीं का पूर्वभाग मानते थे। धर्मकीर्ति का समय आगे सन् ६२० से ६९० तक निश्चित किया जायगा। अतः कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक मानना ही समुचित होगा।

भर्तृहरि और धर्मकीर्ति–कुमारिल की तरह धर्मकीर्ति ने भी भर्तृहरि के स्फोट-वाद तथा उन के अन्य विचारो का खंडन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्वोपज्ञ-वृत्ति में किया है। यथा—

१–धर्मकीर्ति स्फोटवाद का खंडन प्रमाणवार्तिक (३।२५१ से) में करते हैं।

२–भर्तृहरि की–"नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥" [वाक्यप० १।८५]

इस कारिका में वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकार का खडन धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२५३) में इस प्रकार उल्लेख कर के करते हैं–

"समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या।"

अतः धर्मकीर्ति का समय भर्तृहरि के अनन्तर मानने में कोई सन्देह नहीं है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति–डॉ० विद्याभूषण आदि को विश्वास था कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति की आलोचना की है। मद्रास युनि० से प्रकाशित बृहती के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में प्रो० रामनाथ शास्त्री ने उक्त मन्तव्य की पुष्टि के लिये मीमासाश्लोक-वार्तिक के ४ स्थल (मी० श्लो० पृ० ६१ श्लो० ७६, पृ० ८३ श्लो० १३१, पृ० १४४ श्लो० ३६, पृ० २५० श्लो० १३१) भी खोज निकाले हैं। मालूम होता है कि–इन स्थलो की पार्थसारथिमिश्र विरचित न्यायरत्नाकर व्याख्या में जो उत्थान वाक्य दिए हैं, उन्हीं के आधार से ही प्रो० रामनाथ जी ने उन श्लोको को धर्मकीर्ति के मतखंडन-परक समझ लिया है। यहाँ पार्थसारथिमिश्र की तरह, जो कुमारिल से ४-५ सौ वर्ष बाद हुए हैं, शास्त्रीजी भी भ्रम में पड़ गए हैं। क्योंकि उन श्लोकों में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसके बल पर उन श्लोकों का अर्थ साक्षात् धर्मकीर्ति के मतखडनपरक रूप में लगाया जा सके। ४-५ सौ वर्ष बाद हुए टीकाकार को, जिसकी दृष्टि ऐतिहासिक की अपेक्षा तात्त्विक अधिक है ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। इसी तरह डॉ० पाठक[१] का यह लिखना भी अभ्रान्त नहीं है कि–"मीमासा श्लोकवार्तिक के शून्यवाद प्रकरण में कुमा-रिल ने बौद्धमत के 'बुद्ध्यात्मा ग्राह्य ग्राहक रूप से भिन्न दिखाई देता है' इस विचार का खडन किया है। श्लोकवार्तिक की व्याख्या में इस स्थान पर सुचरितमिश्र धर्मकीर्ति का निम्न श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने भी उद्धृत किया है, बारम्बार उद्धृत करते हैं–

१ यह उद्धरण न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना से लिया है।

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥"

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के

डॉ० पाठक जिन श्लोकों की व्याख्या में

उद्धृत किए जाने का जिक्र करते हैं, व श्लोक ये हैं—

"मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः ।
चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद्वासनाभिरुपप्लवात् ।
प्रविभक्तमिवोत्पन्न नान्यमर्थमपेक्षते ।"

इन श्लोकों की व्याख्या में न केवल कु
भी 'अविभागोऽपि' श्लोक को उद्धृत कर बौद्ध
श्लोकों की शब्दावली का ध्यान से पर्यवेक्षण
श्लोकों को सीधे तौर से पूर्वपक्ष के किसी
शब्दावली 'अविभागोऽपि' श्लोक की शब्दा
यद्यपि आर्थिक दृष्टि से 'अविभागोऽपि' श्लोक
बैठ सकती है. पर यह विषय स्वय धर्मकीर्ति
के पूर्वज आचार्य वसुबन्धु आदि ने विज्ञप्ति
सिद्धि आदि ग्रन्थों में बड़े विस्तार से
जिस प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्ति ने
विवेचन होगा ही। स्थिरमति आदि
मात्रतासिद्धि पर भाष्य आदि रचके
धर्मकीर्ति तो उक्त मत के अनुवादक हैं।
उद्धृत श्लोक के बल पर कुमारिल को

अब मैं कुछ ऐसे स्थल उद्धृत
कि धर्मकीर्ति ही कुमारिल का खण्डन

१—कुमारिल ने शाबरभाष्य की
अपने द्वारा किए गए सर्वज्ञनिराकरण
"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयु
अर्थात्—सर्वज्ञत्व के निराकरण का
सब पदार्थों के जाननेवाले का निषेध
धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (१

... समय मृत्यु हो ... समस्त विद्वानों ... कीर्ति का नाम ... धर्मकीर्ति जैसे ... से

१ यह श्लोक कुमारिल ... उद्धृत है।

ही पूरे जोर से सिद्ध करते हैं, उन्हे सुगत की सर्वज्ञता अनुपयोगी मालूम होती है। वे लिखते हैं कि–

"हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु। प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥"
[प्रमाणवा० १।३४-३५]

अर्थात्–जो हेय-दुख, उपादेय-निरोध, हेयोपाय-समुदय, और उपादेयोपाय-मार्ग इन चार आर्यसत्यो का जानता है वही प्रमाण है। उसे समस्त पदार्थों का जाननेवाला होना आवश्यक नहीं है। वह दूर-अतीन्द्रिय पदार्थों को जाने या न जाने, उसे इष्टतत्त्व का परिज्ञान होना चाहिए। यदि दूरवर्ती पदार्थों का द्रष्टा ही उपास्य होता हो तब तो हम को दूरद्रष्टा गृद्धो की उपासना पहिले करनी चाहिए।

२–कुमारिल ने शब्द को नित्यत्व सिद्ध करने में जिन क्रमबद्ध दलीलों का प्रयोग किया है धर्मकीर्ति उनका प्रमाणवार्तिक में (३।२६५ से आगे) खण्डन करते हैं।

३–कुमारिल के 'वर्णानुपूर्वी वाक्यम्' इस वाक्यलक्षण का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२५९) में 'वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेत्' उल्लेख करके उसका निराकरण करते है।

४–कुमारिल के "नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता" [मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४] इस वाक्य का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं–

"मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतक वचः।
सत्यार्थं व्यतिरेकेण विरोधिव्यापनाद् यदि ॥" [प्रमाणवा० ३।२८९]

५–कुमारिल के "अतोऽत्र पुन्निमित्तत्वादुपपन्ना मृषार्थता" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १६९] इस श्लोक का खडन धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२९१) में किया है–"ततो यत्किञ्चिन्मिथ्यार्थं तत्सर्वं पौरुषेयमित्यनिश्चयात्।"

६–कुमारिल ने "आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता" दिग्नाग के इस वचन की मीमासाश्लोकवार्तिक में (पृ० ४१८ और ९१३) में समालोचना की है। इसका उत्तर धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२१६) में देते हैं।

७–कुमारिल श्लोकवार्तिक (पृ० १६८) में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का निम्नरूप से वर्णन करते हैं–

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञान प्रथम निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥"

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका "केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवद-कल्पनाम्। आहुर्बाला · " उल्लेख करके खण्डन किया है।

८–कुमारिल वेद के अपौरुषेयत्वसमर्थन में वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु का भी प्रयोग करते हैं–

"वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययन यथा ॥" [मी० श्लो० पृ० ९४९]

धर्मकीर्ति अपौरुषेयत्वसाधक अन्य हेतुओ के साथ ही साथ कुमारिल के इस हेतु का भी उल्लेख करके खडन करते है–

"यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेमं वर्णपदक्रमम् ।
वक्तु समर्थः पुरुषः तथान्योऽपीति कथ्यन ॥" [प्रमाणवा० ३।२४०]

प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्ति के टीकाकार कर्णकगोमि इस श्लोक की उत्थानिका इस प्रकार देते है–"तदेव कर्तुरस्मरणादिति हेतु निराकृत्य अन्यदपि साधनम् वेदस्याध्ययन सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् इति दूषयितुमुपन्यस्यति यथेत्यादि ।" इससे स्पष्ट है कि–इस श्लोक मे धर्मकीर्ति कुमारिल के वेदध्ययनवाच्यत्व हेतु का ही खडन कर रहे है ।

इन उद्धरणो से यह बात असन्दिग्धरूप से प्रमाणित हो जाती है कि–धर्मकीर्ति ने ही कुमारिल का खडन किया है न कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति का । अतः भर्तृहरि का समय सन् ६०० से ६५० तक, कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक, तथा धर्मकीर्ति का समय सन् ६२० से ६९० तक मानना समुचित होगा । धर्मकीर्ति के इस समय के समर्थन मे कुछ और विचार भी प्रस्तुत किए जाते है–

धर्मकीर्ति का समय–डॉ० विद्याभूषण आदि धर्मकीर्ति का समय सन् ६३५ से ६५० तक मानते है । यह प्रसिद्धि है कि–धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष धर्मपाल के शिष्य थे । चीनी यात्री हुएनसाग जब सन् ६३५ मे नालन्दा पहुँचा तब धर्मपाल अध्यक्षपद से निवृत्त हो चुके थे और उनका वयोवृद्ध शिष्य शीलभद्र अध्यक्षपद पर था । हुएनसाग ने इन्हीं से योगशास्त्र का अध्ययन किया था । हुएनसाग ने अपना यात्रा विवरण सन् ६४५ ई० के बाद लिखा है । उसने अपने यात्रावृत्तान्त मे नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वानो की जो नामावली दी है, उसमे ये नाम है–धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र । धर्मकीर्तिका नाम न देने के विषय मे साधारणतया यही विचार है, और वह युक्तिसगत भी है कि–धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होगे ।

भिक्षु राहुलसाकृत्यायन जी का विचार है[1] कि–'धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी । चूकि हुएनसाग को तर्कशास्त्र से प्रेम नहीं था और यत- वह समस्त विद्वानो के नाम देने को बाध्य भी नहीं था, इसी लिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्ति का नाम नहीं लिया ।' राहुलजी का यह तर्क उचित नहीं मालुम होता; क्योकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधानतार्किक का नाम हुएनसाग को उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने

---

१ देखो वादन्याय की प्रस्तावना ।

पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धु आदि का लिया है। तर्कशास्त्र से प्रेम न होने पर भी गुणमति स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किको का नाम जब हुएनसाग लेता है तब धर्मकीर्ति ने तो बौद्धदर्शन के विस्तार में उनसे कहीं अधिक एव ठोस प्रयत्न किया है। इसलिए धर्मकीर्ति का नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था, किन्तु हुएनसाग की सहज गुणानुरागिता का द्योतक भी था। यह ठीक है कि–हुएनसाग सबके नाम लेने को बाध्य नहीं था, पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण व्यक्ति नहीं था जिसकी ऐसी उपेक्षा अनजान में भी की जाती। फिर यदि धर्मकीर्ति का कार्यकाल गुणमति स्थिरमति आदि से पहिले ही समाप्त हुआ होता तो इनके ग्रन्थो पर धर्मकीर्ति की विशालग्रन्थराशि का कुछ तो असर मिलना चाहिए था। जो उनके ग्रन्थो का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। हुएनसाग ने एक जिनमित्र नामके आचार्य का भी उल्लेख किया है। इत्सिंग के "धर्मकीर्ति ने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा" इस उल्लेख के अनुसार तो यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि धर्मकीर्ति का कार्यकाल 'जिन' के पश्चात् था; क्योकि हुएनसाग के 'जिनमित्र'[1] और इत्सिंग के 'जिन' एक ही व्यक्ति मालुम होते है। अतः यही उचित मालुम होता है कि–धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब हुएनसाग ने अपना यात्राविवरण लिखा।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था। इसने सन् ६७१ से ६९५ तक भारतवर्ष की यात्रा की। यह सन् ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय में रहा। इसने अपना यात्रावृत्तान्त सन् ६९१-९२ में लिखा है। इत्सिग ने नालन्दा विश्वविद्यालय की शिक्षाप्रणाली आदि का अच्छा वर्णन किया है। वह विद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ स्नातको की चर्चा के सिलसिले में लिखता है कि–"प्रत्येक पीढी मे ऐसे मनुष्यो में से केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चॉद या सूर्य से होती है और उन्हे नाग और हाथी की तरह समझा जाता है। पहिले समय में नागार्जुनदेव, अश्वघोष, मध्यकाल में वसुबन्धु, असङ्ग, संघभद्र और भवविवेक, अन्तिम समय मे जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे।" (इत्सिंग की भारतयात्रा पृ० २७७) इत्सिग (पृ० २७८) फिर लिखते हैं कि–"धर्मकीर्ति ने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा। प्रज्ञागुप्त ने (मतिपाल नहीं) सभी विपक्षी मतो का खडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया।" इन उल्लेखो से मालूम होता है कि– सन् ६९१ तक में धर्मकीर्ति की प्रसिद्धि ग्रन्थकार के रूप में हो रही थी। इत्सिग ने धर्मकीर्ति के द्वारा हेतुविद्या के सुधारने का जो वर्णन किया है वह सम्भवतः धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु ग्रन्थ को लक्ष्य में रखकर किया गया है, जो हेतुविद्या

१ दिग्नागके प्रमाणसमुच्चय पर जिनेन्द्रविरचित टीका उपलब्ध है। सभव है ये जिनेन्द्र ही हुएनसाग के जिनमित्र हो।

का एक प्रधान ग्रन्थ है। वह इतना परिष्कृत एवं हेतुविद्या पर सर्वाङ्गीण प्रकाश डालनेवाला है कि केवल उसीके अध्ययन से हेतुविद्या का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

इत्सिग के द्वारा धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति आदि के साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्ति के टीकाकार शिष्य प्रज्ञागुप्त का नाम लिए जाने से यह मालूम होता है कि–उसका उल्लेख किसी खास समय के लिए नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैसे लम्बे समय वाले युग के लिए है। इससे यह भी ज्ञा॰ होता है कि–धर्मकीर्ति इत्सिग के यात्राविवरण लिखने तक जीवित थे। यदि राहुलजी की कल्पनानुसार धर्मकीर्ति की मृत्यु हो गई होती तो इत्सिग जिस तरह भर्तृहरि को धर्मपाल का समकालीन लिखकर उनकी मृत्यु के विषय मे भी लिखता है कि–'उसे मरे हुए अभी ४० वर्ष हो गए' उसी तरह अपने प्रसिद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति की मृत्यु पर भी आँसू बहाए विना न रहता।

यद्यपि इत्सिग धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप से लिखता है, परन्तु वह हेतुविद्या मे पाण्डित्य प्राप्त करने के लिये पठनीय शास्त्रो की सूची मे हेतुद्वारशास्त्र, हेत्वाभासद्वार, न्यायद्वार, प्रज्ञप्तिहेतु, एकीकृत अनुमानो पर शास्त्र, आदि ग्रन्थो का ही नाम लेता है, धर्मकीर्ति के किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम नहीं लेता। इसके ये कारण हो सकते हैं–इत्सिग ने अपना यात्रा विवरण चाइनी भाषा मे लिखा है अत· अनुवादको ने जिन शब्दो का हेतुद्वार न्यायद्वार तथा हेत्वाभासद्वार अनुवाद किया है उनका अर्थ हेतुबिन्दु और न्यायबिन्दु भी हो सकता हो। अथवा धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप में जानकर भी इत्सिग उनके ग्रन्थो से परिचित न हो। अथवा उस समय धर्मकीर्ति के ग्रन्थो की अपेक्षा अन्य आचार्यो के ग्रन्थ नालन्दा में विशेषरूप से पठन पाठन मे आते होगे।

इस विवेचन से हमारा यह निश्चित विचार है कि–भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) के साथ ही साथ उसके आलोचक कुमारिल (सन् ६२० से ६८०) की भी आलोचना करने वाले, तथा प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्ध परीक्षा आदि ६ प्रौढ, विस्तृत और सटीक प्रकरणो के रचयिता धर्मकीर्ति की समयावधि सन् ६३५–६५० से आगे लम्बानी ही होगी। और वह अवधि सन् ६२० से ६९० तक रखनी समुचित होगी। इससे हुएनसाग के द्वारा धर्मकीर्ति के नाम का उल्लेख न होने का, तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेख का वास्तविक अर्थ भी सगत हो जाता है। तथा तिब्बतीय इतिहासलेखक तारानाथ का धर्मकीर्ति को तिब्बत के राजा स्रोङ् त्सन् गम् पो का, जिसने सन् ६२९ से ६८१ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अकलङ्कदेव ने भर्तृहरि कुमारिल तथा धर्मकीर्ति की समालोचना के साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर आदि के विचारो का भी आलोचन किया है। इन सब आचार्यों के ग्रन्थों के साथ अकलंक के ग्रन्थो की आन्तरिक तुलना अकलङ्क के

समयनिर्णय में खास उपयोगी होगी। इसलिए अकलंक के साथ उक्त आचार्यों की तुलना क्रमशः की जाती है–

भर्तृहरि और अकलंक–भर्तृहरि के स्फोटवाद की आलोचना के सिलसिले में अकलंक देव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० २३१) में वाक्यपदीय की (१।७९) "इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा।" इस कारिका में वर्णित इन्द्रियसंस्कार, शब्द-सस्कार तथा उभयसस्कार रूप तीनो पक्षो का खंडन किया है।

राजवार्तिक (पृ० ४०) में वाक्यपदीय की "शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते" [वाक्यप० २।२३५] यह कारिका उद्धृत की गई है। सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिवि० टी० पृ० ५४६ से) के शब्दसिद्धि प्रकरण में भी स्फोटवाद का खंडन है। शब्दाद्वैतवाद का खडन भी सिद्धिविनिश्चय मे (टी० पृ० ४५८ से) किया गया है।

कुमारिल और अकलंक–अकलकदेव के ग्रन्थो में कुमारिल के मन्तव्यों के आलोचन के साथ ही साथ कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है–

१–कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि–

"प्रत्यक्षाद्यविसवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्तं को नु त कल्पयिष्यति॥" [मी० श्लो० पृ० ८५]

अर्थात्–जब प्रत्यक्षादिप्रमाणो से अबाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञ का सद्भाव रोक रहे हैं तब कौन उसे सिद्ध करने की कल्पना भी कर सकेगा?

अकलकदेव इसका प्रतिवन्दि उत्तर अपनी अष्टशती (अष्टसह० पृ० ५८) में देते हैं कि–"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षण पुष्णाति त कथ चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितु वा" अर्थात्–जब प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्व हेतु का पोषण कर रहे हैं तब कौन चेतन उस सर्वज्ञ का प्रतिषेध या उसके सद्भाव में सशय कर सकता है?

२ तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित के लेखानुसार कुमारिल ने सर्वज्ञनिराकरण में यह कारिका भी कही है कि–

"दश हस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशत गन्तु शक्तोऽभ्याशतैरपि॥" [तत्त्वस० पृ० ८२६]

अर्थात्–यह समव है कि कोई प्रयत्नशील पुरुष अभ्यास करने पर अधिक से अधिक १० हाथ ऊँचा कूद जाय; पर सैकड़ो वर्षों तक कितना भी अभ्यास क्यों न करे वह १०० योजन ऊँचा कभी भी नहीं कूद सकता। इसी तरह कितना भी अभ्यास क्यो न किया जाय ज्ञान का प्रकर्ष अतीन्द्रियार्थ के जानने में नहीं हो सकता।

अकलकदेव सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० ४२५ B.) में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं कि–

"दश हस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृशः।योजनाना सहस्रं किं वोत्प्लवेदधुना नरैः॥"

अर्थात्—जब शारीरिक असामर्थ्य के कारण आप दस हाथ भी ऊँचा नहीं कूद सकते तब दूसरो से हजार योजन कूदने की आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि अमुक मर्यादा से ऊँचा कूदने में शारीरिकगुरुत्व बाधक होता है।

३—कुमारिल ने जैनसम्मत केवलज्ञान की उत्पत्ति को आगमाश्रित मानकर यह अन्यो-न्याश्रय दोष दिया है कि—'केवलज्ञान हुए बिना आगम की सिद्धि नहीं हो सकती तथा आगम सिद्ध हुए बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती'—

"एवं यै. केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषय जीवस्य परिकल्पितम्॥
"नर्ते तदागमात्सिद्ध्येत् न च तेनागमो विना।" [मी० श्लो० पृ० ८७]

अकलंकदेव न्यायविनिश्चय (का० ४१२-१३) में मीमासाश्लोकवार्तिक के शब्दो को ही उद्धृत कर इसका उत्तर यह देते हैं कि—सर्वज्ञ और आगम की परम्परा अनादि है। इस पुरुष को केवलज्ञान पूर्व आगम से हुआ तथा उस आगम की उत्पत्ति तत्पूर्व सर्वज्ञ से। यथा—

"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्। नर्ते तदागमात्सिद्ध्येत् न च तेन विनागमः॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः। प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥"

शाब्दिक तुलना—

"पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।" [मी० श्लो० पृ० ६९५]
"प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।" [न्यायवि० का० ११७]
"तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत्।" [प्रमाणसं० पृ० ११२]

धर्मकीर्ति और अकलंक—अकलंक ने धर्मकीर्ति की केवल मार्मिक समालोचना ही नहीं की है, किन्तु परपक्ष के खंडन में उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है। अकलंक के साहित्य का बहुभाग बौद्धो के खंडन से भरा हुआ है। उसमें जहा धर्मकीर्ति के पूर्वज दिग्नाग आदि विद्वानो की समालोचना है वहा धर्मकीर्ति के उत्तरकालीन प्रज्ञाकर तथा कर्णकगोमि आदि के विचारों का भी निरसन किया गया है। अकलंक और धर्मकीर्ति की पारस्परिक तुलना कुछ उद्धरणो द्वारा स्पष्ट रूप से नीचे की जाती है—

१—धर्मकीर्ति के सन्तानान्तरसिद्धि प्रकरण का पहिला श्लोक यह है—

"बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्। मन्यते बुद्धिसद्भाव सा न येषु न तेषु धीः॥"

अकलंकदेव ने राजवार्तिक (पृ० १९) में इसे 'तदुक्तम्' लिख कर उद्धृत किया है, तथा सिद्धिविनिश्चय (द्वितीय परि०) मे तो 'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्' इस हेरफेर के साथ मूल में ही शामिल करके इसकी समालोचना की है।

२—हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेद का "अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते" यह वाक्य लघीयस्त्रय की स्वोपज्ञविवृति (पृ० ३) में मूलरूप से पाया जाता है। हेतुबिन्दु की—

"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः । अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"

इस आद्यकारिका की आलोचना सिद्धिविनिश्चय की हेतुलक्षणसिद्धि में की गई है ।

३–प्रमाणविनिश्चय के "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" वाक्य की अष्टशती (अष्टसह० पृ० २४२) में उद्धरण देकर आलोचना है ।

४–वादन्याय की–"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥"

इस आद्यकारिका की समालोचना न्यायविनिश्चय (का० ३७८) में, सिद्धिविनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण में, तथा अष्टशती (अष्टसह० पृ० ८१) में हुई है ।

५–प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति का "तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावन्त्यस्तदपेक्षाः तदसम्भविकार्यकारणाः तस्य भेदात् यावन्त्यश्च व्यावृत्तयः तावत्यः श्रुतयः ।" यह अंश अष्टशती (अष्टसह पृ० १३८) के "ततो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि" इस अंश से शब्द तथा अर्थदृष्ट्या तुलनीय है ।

६–प्रमाणवार्तिक की आलोचना तथा तुलना के लिए उपयोगी अवतरण न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थो में प्रचुर रूप से पाए जाते हैं । ये सब अवतरण प्रस्तुतग्रन्थत्रय के टिप्पणो में संगृहीत किए हैं। देखो–लघी० टि० पृ० १३१-१३३, १३६-१३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२ तथा न्यायविनिश्चय टि० पृ० १५५-१५७, १५९-१७० मे आए हुए प्रमाणवार्तिक के अवतरण ।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलंक–धर्मकीर्ति के टीकाकारो में प्रज्ञाकरगुप्त एक मर्मज्ञ टीकाकार है । ये केवल टीकाकार ही नहीं हैं किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी रखते हैं । इनका समय अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है । डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण उन्हे १०वीं सदी का विद्वान् बताते है । भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजी ने टिबेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार इनका समय सन् ७०० दिया है । इनका नामोल्लेख अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चयटीका में, विद्यानन्द अष्टसहस्री में, तथा प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में करते हैं । जयन्तभट्ट ने (न्यायम० पृ० ७४) जिनका समय ईस्वी ८ वीं का मध्य भाग है, इनके वार्तिकालंकार के "एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्" इस वाक्य का खडन किया है । अतः इनका समय ८ वीं सदी का प्रारम्भिक भाग तो होना ही चाहिये । इत्सिग ने अपने यात्रा विवरण में एक प्रज्ञागुप्त नाम के विद्वान् का उल्लेख करते हुए लिखा है कि–"प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतो का खडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया ।" हमारे विचार से इत्सिंग के द्वारा प्रशंसित प्रज्ञागुप्त दूसरे व्यक्ति नहीं है । वे वार्तिकालंकार के रचयिता प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं; क्योंकि इनके वार्तिकालंकार में विपक्ष खडन का भाग अधिक है ।

इस तरह सन् ६९१–९२ में लिखे गए यात्रा विवरण में प्रज्ञाकरगुप्त का नाम

होने से ये भी धर्मकीर्ति के समकालीन ही हैं। हाँ, धर्मकीर्ति वृद्ध तथा प्रज्ञाकर युवा रहे होंगे। अतः इनका समय भी करीब ६७० से ७२५ तक मानना ठीक है। यह समय भिक्षु राहुलजी द्वारा सूचित टिबेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार भी ठीक बैठता है। प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालङ्कार की भिक्षु राहुलजी द्वारा की गई प्रेसकापी पलटने से मालूम हुआ कि प्रज्ञाकर ने मात्र प्रमाणवार्तिक की टीका ही नहीं की है; किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किए हैं। जैसे—

१—सुषुप्त अवस्था में ज्ञान की सत्ता नहीं मानकर जाग्रत् अवस्था के ज्ञान को प्रबोध अवस्थाकालीन ज्ञान में कारण मानना तथा भाविमरण को अरिष्ट—अपशकुन में कारण मानना। तात्पर्य यह कि—अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनो ही प्रज्ञाकर के द्वारा आविष्कृत हैं। वे वार्तिकालंकार में लिखते हैं कि—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्य्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात्।
गाढसुप्तस्य विज्ञान प्रबोधे पूर्ववेदनात्। जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्। कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते॥
भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव। मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति।" [वार्तिकालंकार पृ० १७६]

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ११० A) का यह उल्लेख—"ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृतिकोदयस्य गमकत्वात् कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भावः"—इस बात का सबल प्रमाण है कि—प्रज्ञाकरगुप्त भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारणवाद के सिलसिले में अनन्तवीर्य का यह लिखना कि "इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते।" [सिद्धिवि० टी० पृ० १६१A.] प्रज्ञाकर के व्यवहितकारणवादी होने का खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकर के इस मत को समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि नहीं मानते थे।

२—स्वप्नान्तिकशरीर—प्रज्ञाकर स्वप्न में स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर मानता है। स्वप्न में जो शरीर का दौड़ना, त्रास, भूख, प्यास, मेरुपर्वतादि पर गमन आदि देखे जाते हैं वे सब क्रियाएँ, मौजूदा स्थूलकाय के अतिरिक्त जो सूक्ष्मशरीर बनता है, उसीमें होती हैं। इस सूक्ष्मशरीर को वह स्वप्नान्तिकशरीर शब्द से कहता है। यथा—
"यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलङ्घनधावनैः। जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि॥"
"स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात्" [वार्तिकालंकार पृ० १४८, १८४]

अनन्तवीर्याचार्य के सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १३८ B.) में उल्लिखित "प्रज्ञाकरस्तु स्वप्नान्तिकशरीरवादी · " वाक्य से स्पष्ट है कि यह मत भी प्रज्ञाकरगुप्त का था।

३—धर्मकीर्ति ने सुगत की सर्वज्ञता के समर्थन में अपनी शक्ति न लगाकर धर्मज्ञत्व का समर्थन ही किया है। पर प्रज्ञाकर धर्मज्ञत्व के साथ ही साथ सर्वज्ञत्व का भी समर्थन करते हैं। सर्वज्ञत्व के समर्थन मे वे 'सत्यस्वप्रज्ञान' का दृष्टान्त भी देते हैं। यथा—

"इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीतादिक सविदन्त्येव" [वार्तिकालङ्कार पृ० ३१६]

४—पीतशंखादिज्ञानो के द्वारा अर्थक्रिया नही होती, अतः वे प्रमाण नहीं है, पर सस्थानमात्र अंश से होने वाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अश में उन्हे अनुमानरूप से प्रमाण मानना चाहिए, तथा अन्य अंश में संशयरूप। इस तरह इस एक ज्ञान में आशिक प्रमाणता तथा आशिक अप्रमाणता है। यथा—

"पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्। सस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्; तथाहि—
'प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः। एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत्॥'
ततोऽनुमानं सस्थाने, संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च, अनेन मणिप्रभाया मणिज्ञान व्याख्यातम्।" [वार्तिकालंकार पृ० ६]

अकलकदेव ने प्रज्ञाकरगुप्त के उक्त सभी सिद्धान्तो का खडन किया है। यथा—

१—अकलंकदेव ने सिद्धिविनिश्चय में जीव का स्वरूप बताते हुए 'अभिन्नः सविदात्मार्थः स्वापप्रबोधादौ' विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य है कि—स्वाप और प्रबोध तथा मरण और जन्म आदि मे जीव अभिन्न रहता है, उसकी सन्तान विच्छिन्न नहीं होती। इसीका व्याख्यान करते हुए उन्होने लिखा है कि—'तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः' यदि सुप्तादि अवस्थाओ में ज्ञान का अभाव माना जायगा तो मिद्ध-अतिनिद्रा मूर्च्छा आदि नहीं बन सकेगी; क्योकि सर्वथा ज्ञान का अभाव मानने से तो मृत्यु ही हो जायगी। मूर्छा और अतिनिद्रा व्यपदेश तो ज्ञानका सद्भाव मानने पर ही हो सकता है। हाँ, उन अवस्थाओ में ज्ञान तिरोहित रहता है। अनन्तवीर्याचार्य 'तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः' वाक्य का व्याख्यान निम्नरूप से करते हैं—"ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेदत्राह—'तदभाव इत्यादि' · ज्ञानस्य असति मिद्धादे· अनुपपत्तेः इति। मिद्धो निद्रा आदिः यस्य मूर्च्छादेः तस्यानुपपत्तेः मरणोपपत्तेः अवस्थाचतुष्टयाभावः तदवस्थ एव।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ५७१ A] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि—अकलंकदेव सुषुप्तावस्था में ज्ञान नहीं मानने वाले प्रज्ञाकर का खंडन करते है। अत एव वे न्यायविनिश्चय (का० २२२) में भी जीवस्वरूप का निरूपण करते हुए 'सुषुप्तादौ बुद्धः' पद देते है। इसके अतिरिक्त व्यवहितकारणवाद पर भी उन्होने आक्षेप किया है। (देखो सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A।)

इसके सिवाय अकलकदेव सिद्धिविनिश्चय प्रथमपरिच्छेद में स्पष्टरूप से लिखते हैं कि—" न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभाव प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति " अर्थात्—जो लोग स्वापादि अवस्थाओ में निर्विकल्पक और सविकल्पकज्ञान का अभाव मानते

हैं उनका ऐसा मानना प्रमाणशून्य है। इस पंक्ति से अकलंक के द्वारा प्रज्ञाकर के अतीतकारणवाद के ऊपर किए गए आक्षेप की वात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

२–न्यायविनिश्चय (का० ४७) में अकलंकदेव ने प्रज्ञाकर के स्वप्नान्तिकशरीर का अन्तःशरीर शब्द से उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है। सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० १३८ B.) में भी अकलंक ने स्वप्नान्तिक शरीर पर आक्रमण किया है।

३–अकलंकदेव प्रज्ञाकर की तरह सर्वज्ञता के समर्थन में न्यायविनिश्चय (कारि० ४०७) में स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं। तथा प्रमाणसंग्रह (पृ० ९९) में तो स्पष्ट ही सत्यस्वप्नज्ञान का ही उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा–"स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हः सार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत्।"

४–जिस प्रकार प्रज्ञाकरगुप्त ने पीतशंखादिज्ञान को संस्थानमात्र अंश में प्रमाण तथा इतरांश में अप्रमाण कहा है। उसी तरह अकलंक भी लघीयस्त्रय तथा अष्टशती में द्विचन्द्रज्ञान को चन्द्रांश में प्रमाण तथा द्वित्वांश में अप्रमाण कहते हैं। दोनों ग्रन्थों के अवतरण के लिए देखो –लघी० टि० पृ० १४० पं० २० से। अष्टशती में तो अकलंकदेव प्रज्ञाकर गुप्त की संस्थानमात्र में अनुमान मानने की वात पर आक्षेप करते हैं। यथा–"नापि लैङ्गिकं लिंगलिंगिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्।" [अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७]

इसके अतिरिक्त हम कुछ ऐसे वाक्य उपस्थित करते हैं जिससे प्रज्ञाकर और अकलंक के ग्रन्थो की शाब्दिक और आर्थिक तुलना में बहुत मदद मिलेगी।

"एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्" [वार्तिकालंकार]

"हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिं कः प्रेक्षावान् प्रतिजानीते।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ५२६ B.] शेष के लिए देखो–लघी० टि० पृ० १३५ पं० ३१, न्यायवि० टि० पृ० १५१ पं० ११, पृ० १६२ पं० १३, पृ० १६५ पं० २०।

प्रज्ञाकरगुप्त ने प्रमाणवार्तिक की टीका का नाम प्रमाणवार्तिकालंकार रखा है। इसीलिए उत्तरकाल में इनकी प्रसिद्धि 'अलङ्कारकार' के रूप में भी रही है। अकलंकदेव का 'तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार' या 'तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार' नाम भी वार्तिकालंकार के नामप्रभाव से अछूता नहीं मालूम होता। इस तरह उपर्युक्त दलीलों के आधार से कहा जा सकता है कि–अकलंकदेव ने धर्मकीर्ति की तरह उनके टीकाकार शिष्य प्रज्ञाकरगुप्त को देखा ही नहीं था किन्तु उनकी समालोचना भी डट कर की है।

कर्णकगोमि और अकलंक–धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम-स्वार्थानुमान परिच्छेद पर ही वृत्ति वनाई थी। इस वृत्ति की कर्णकगोमिरचित टीका के प्रूफ हमारे सामने हैं। कर्णकगोमि के समय का विलकुल ठीक निश्चय न होने पर भी इतना तो

उनके ग्रन्थ देखने से कहा जा सकता है कि-ये मंडनमिश्र के बाद के हैं। इन्होंने अनेकों जगह मण्डनमिश्र का नाम लेकर कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा उनका खंडन किया है। इनने प्रमाणवा० स्ववृ० टीका (पृ० ८८) में 'तदुक्तं मण्डनेन' कहकर "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥" यह कारिका उद्धृत की है, तथा इसका खंडन भी किया है।

मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि (पृ० १९३) में मी० श्लोकवार्तिक (पृ०५४२) की "वर्णा वा ध्वनयो वापि" कारिका उद्धृत की है, तथा विधिविवेक (पृ० २७९) में तन्त्रवार्तिक (२।१।१) की 'अभिधाभावनामाहुः' कारिका उद्धृत की है। इसलिए इनका समय कुमारिल (सन् ६०० से ६८०) के बाद तो होना ही चाहिए। बृहती द्वितीयभाग की प्रस्तावना में इनका समय सन् ६७० से ७२० सूचित किया है, जो युक्तियुक्त है।

अतः मण्डन का उल्लेख करनेवाले कर्णकगोमि का समय ७०० ई० के बाद होना चाहिए। ये प्रज्ञाकरगुप्त के उत्तरकालीन मालूम होते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में (पृ० १३७) 'अलङ्कार एव अवस्तुत्वप्रतिपादनात्' लिखकर वार्तिकालंकार का उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६९० से पहिले होना संभव ही नहीं है।

अकलङ्कदेव ने प्रमाणसंग्रह में इनके मत की भी आलोचना की है। यथा-

जब कुमारिल आदि ने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूप पर आक्षेप करते हुए कहा कि कृतिकोदयादि हेतु तो शकटोदयादि पक्ष मे नहीं रहते, अतः हेतु का पक्षधर्मत्वरूप अव्यभिचारी कैसे कहा जा सकता है? तब इसका उत्तर कर्णकगोमि ने अपनी स्ववृत्तिटीका में इस प्रकार दिया है कि-काल को पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। यथा- "तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमान चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्? [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ११]

अकलङ्कदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि-यदि कालादि को धर्मी मानकर पक्षधर्मत्व सिद्ध करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। यथा-"कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः।" [प्रमाणसं० पृ० १०४]

धर्मोत्तर और अकलंक-प्रज्ञाकर की तरह धर्मोत्तर भी धर्मकीर्ति के यशस्वी टीकाकार हैं। इन्होंने प्रमाणविनिश्चय न्यायबिन्दु आदि पर टीका लिखने के सिवाय कुछ स्वतन्त्र प्रकरण भी लिखे हैं। न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० ३९० B) के लेखानुसार मालूम होता है कि-अकलङ्कदेव ने न्यायविनिश्चय (का० १६२) में धर्मोत्तर (न्यायबि० टी० पृ० ११) के मानसप्रत्यक्ष विषयक विचारो की आलोचना की है। इसी तरह वे न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० २६ B) में लिखते हैं कि-चूर्णि में अकलंकदेव ने धर्मोत्तर के (न्यायबिन्दुटीका पृ० १) आदिवाक्यप्रयोजन तथा शास्त्रशरीरोपदर्शन का प्रतिक्षेप किया है। यह चूर्णि अकलंकदेव की ही है; क्योंकि-'तथा च सूक्तं चूर्णौ

देवस्य वचनम्' इस उल्लेख के साथ ही एक श्लोक न्यायविनिश्चयविवरण में उद्धृत देखा जाता है (देखो इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट ६ वां)। इसी तरह अनन्तवीर्याचार्य ने सिद्धिविनिश्चय के अनेक वाक्यो को धर्मोत्तर के खडन रूप में सूचित किया है। धर्मोत्तर करीब करीब प्रज्ञाकर के समकालीन मालूम होते हैं।

शान्तरक्षित और अकलंक—धर्मकीर्ति के टीकाकारो में शान्तरक्षित भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होने वादन्याय की टीका के सिवाय तत्त्वसंग्रह नाम का विशाल ग्रन्थ भी लिखा है। इनका समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता है। (देखो तत्त्वसंग्रह की प्रस्तावना) अकलंक और शान्तरक्षित की तुलना के लिए हम कुछ वाक्य नीचे देते है—

"वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मतिः।" [तत्त्वसं० पृ० २६७]

"तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः।" [न्यायविनि० का १०४, प्रमाणसं० का० २६]

"अविकल्पमविभ्रान्त तद्योगीश्वरमानसम्।" [तत्त्वसं० पृ० ६३४]

"अविकल्पकमभ्रान्त प्रत्यक्षं न पटीयसाम्।" [न्यायवि० का० १५५]

"एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः। निहन्तु हेतवोऽशक्ता· को न त कल्पयिष्यति॥" [तत्त्वसं० पृ० ८८५]

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति त कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति सशयितु वा।" (अष्टश० अष्टसह० पृ० ५८)

इनके सिवाय शान्तरक्षित ने सर्वज्ञसिद्धि में ईक्षणिकादिविद्या का दृष्टान्त दिया है।

यथा—"अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या या (या) सुविभाविता।
परचित्तपरिज्ञान करोतीहैव जन्मनि॥" [तत्त्वसं० पृ० ८८८]

अकलकदेव भी (न्यायवि० का० ४०७) सर्वज्ञसिद्धि मे ईक्षणिकाविद्या का दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणों से अकलंक और शान्तरक्षित के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आभास हो सकता है।

अकलंक के साथ की गई प्रज्ञाकर आदि की तुलना से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि अकलंकदेव इनके उत्तरकालीन नहीं तो लघुसमकालीन तो अवश्य ही हैं। उक्त समस्त आचार्यों को खींच कर एक काल में किसी भी तरह नहीं रखा जा सकता। अतः भर्तृहरि के समालोचक कुमारिल, कुमारिल का निरसन करने वाले धर्मकीर्ति, धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त तथा प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालंकार के बाद बनी हुई कर्णकगोमि की टीका तक का आलोचन करने वाले अकलंक किसी भी तरह कुमारिल और धर्मकीर्ति के समकालीन नहीं हो सकते। धर्मकीर्ति के समय से इनको अवश्य ही कम से कम ५० वर्ष बाद रखना होगा। इन पचास वर्षों में प्रमाणवार्तिक की टीका वार्तिकालकार की रचना तथा कर्णकगोमि की ... वृत्तिटीका ...नी होगी,

और उसने इतनी प्रसिद्धि पाई होगी कि जिससे वह अकलक जैसे तार्किक को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अतः अकलंक का समय ७२० से ७८० तक मानना चाहिए। पुराने जमाने में आज जैसे प्रेस डॉंक आदि शीघ्र प्रसिद्धि के साधन नहीं थे, जिनसे कोई लेखक या ग्रन्थकार ५ वर्ष में ही दुनिया के इस छोर से उस छोर तक ख्याति प्राप्त कर लेता है। फिर उस समय का साम्प्रदायिक वातावरण ऐसा था जिससे काफी प्रसिद्धि या विचारो की मौलिकता ही प्रतिपक्षी विद्वानो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकती थी, और इस प्रसिद्धि में कम से कम १५-२० वर्ष का समय तो लगना ही चाहिए। इस विवेचना के आधार पर हम निम्न आचार्यों का समय इस प्रकार रख सकते हैं—

भर्तृहरि ६०० से ६५० तक	प्रज्ञाकर ६७० से ७२५ तक
कुमारिल ६०० से ६८० तक	कर्णकगोमि ६९० से ७५० तक
धर्मकीर्ति ६२० से ६९० तक	शान्तरक्षित ७०५ से ७६२ तक
धर्मोत्तर ६५० से ७२० तक	अकलंक ७२० से ७८० तक

तात्पर्य यह कि— भर्तृहरि की अन्तिम कृति वाक्यपदीय सन् ६५० के आसपास बनी होगी। वाक्यपदीय के श्लोकों का खंडन करने वाला कुमारिल का मीमासाश्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक जैसा महान् ग्रन्थ सन् ६६० से पहिले नहीं रचा गया होगा। कुमारिल के मीमांसाश्लोकवार्तिक की समालोचना जिस धर्मकीर्तिकृत बृहत्काय प्रमाणवार्तिक में है, उसकी रचना सन् ६७० के आसपास हुई होगी। प्रमाणवार्तिक पर प्रज्ञाकरगुप्त की अतिविस्तृत वार्तिकालंकार टीका सन् ६८५ के करीब रची गई होगी। वार्तिकालकार का उल्लेख करने वाली कर्णकगोमि की विशाल प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्ति-टीका की रचना ७२० से पहिले कम संभव है। अतः इन सब ग्रन्थो की आलोचना करने वाले अकलंक का समय किसी भी तरह सन् ७२० से पहिले नहीं जा सकता। अकलंक चरित के '७०० विक्रमार्कशताब्द' वाले उल्लेख को हमें इन्हीं प्रमाणो के प्रकाश में देखना है। यदि १६ वीं सदी के अकलक चरित की दी हुई शास्त्रार्थ की तिथि ठीक है तो वह विक्रमसवत् की न होकर शक सवत् की होनी चाहिए। शकसंवत् का उल्लेख भी 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्द से पाया जाता है। अकलक का यह समय मानने से प्रभाचन्द्र के कथाकोश का उन्हे शुभतुग (कृष्णराज प्र० राज्य सन् ७५८ के बाद) का मन्त्रिपुत्र बतलाना, मल्लिषेणप्रशस्ति का साहसतुंग (दन्तिदुर्गद्वि०, राज्य सन् ७४५-७५८) की सभा में उपस्थित होना आदि घटनाए युक्तिसगत समयवाली सिद्ध हो जाती हैं। सोलहवीं सदी के अकलंकचरित की अपेक्षा हमे १४ वीं सदी के कथाकोश तथा १२ वी सदी की मल्लिषेणप्रशस्ति को अग्रस्थान देना ही होगा, जब कि उसके साधक तथा पोषक अन्य आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। इति।

२. ग्रन्थ

[बाह्यस्वरूपपरिचय]

§ १. ग्रन्थत्रय की अकलङ्ककर्तृकता–

प्रस्तुत ग्रन्थत्रय के कर्त्ता प्रखर तार्किक, वाग्मी श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव हैं। अकलङ्क-देव की यह शैली है कि–वे अपने ग्रन्थो में कहीं न कहीं 'अकलङ्क' नाम का प्रयोग करते हैं। कहीं वह प्रयोग जिनेन्द्र के विशेषणरूप से हुआ है तो कहीं ग्रन्थ के विशे-षणरूप से और कहीं किसी लक्ष्य के लक्षणभूत शब्दो में विशेषणरूप से।

लघीयस्त्रय के प्रमाणनयप्रवेश के अन्त में आए हुए 'कृतिरियं सकलवादिचक्र-चक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य' इस पुष्पिकावाक्य से, कारिका नं० ५० में प्रयुक्त 'प्रेक्षावानकलङ्कमेति' पद से, तथा कारिका न० ७८ में कथित 'भगवदकलङ्कानाम्' पद से ही लघीयस्त्रय की अकलङ्ककर्तृकता स्पष्ट है और अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चय-टीका (पृ० ९९ B) में उद्धृत "तदुक्तम् लघीयस्त्रये-प्रमाणफलयोः ......" इस वाक्य से, आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षा (पृ० ६९) एवं अष्टसहस्री (पृ० १३४) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत लघीयस्त्रय की तीसरी कारिका से, तथा तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक (पृ० २३९) में 'अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः' करके उद्धृत लघीयस्त्रय की १० वीं कारिका से लघीयस्त्रय की अकलङ्ककर्तृकता समर्थित होती है। आचार्य मलय-गिरि आवश्यकनिर्युक्ति की टीका (पृ० ३७० B.) में 'तथा चाहाकलङ्कः' कहकर लघीयस्त्रय की ३० वीं कारिका उद्धृत करके लघीयस्त्रय की अकलङ्ककर्तृता का अनुमो-दन करते हैं।

न्यायविनिश्चय कारिका न० ३८६ में प्रयुक्त 'विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो' पद से, तथा कारिका न० ४८० में 'आभव्यादकलङ्कमङ्गलफलम्' पद के प्रयोग से केवल न्यायविनिश्चय की अकलङ्ककर्तृकता द्योतित ही नहीं होती; किन्तु न्यायविनिश्चय-विवरणकार वादिराजसूरि के उल्लेखो से तथा आचार्य अनन्तवीर्यद्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २०८ B.) में, एवं आचार्य विद्यानन्द द्वारा आप्तपरीक्षा (पृ० ४९) में 'तदुक्तम-कलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत की गई इसकी ५१ वीं कारिका से इसका प्रबल समर्थन भी होता है। आचार्य धर्मभूषण ने तो न्यायदीपिका (पृ० ८) में 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर न्यायविनिश्चय की तीसरी कारिका उद्धृत करके इसका अस-न्दिग्ध अनुमोदन किया है।

बनाकर बाकी को गद्य भाग में लिखते हैं। अतः विषय की दृष्टि से गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थ की अखण्डता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक की वृत्ति भी कुछ इसी प्रकार की है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थ की पूर्ति तथा स्पष्टता के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। अकलङ्क के प्रमाणसंग्रह का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अकलङ्क के गद्यभाग को हम शुद्ध वृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध वृत्ति में मात्र मूलकारिका का व्याख्यान होना ही आवश्यक है, पर लघीयस्त्रय की विवृति या प्रमाणसंग्रह के गद्यभाग में व्याख्यानात्मक अंश नहीं के ही बराबर है। हाँ, कारिकोक्त पदो को आधार बनाकर उस विषय का शेष वक्तव्य गद्यरूप में उपस्थित कर दिया है। व्याख्याकार प्रभाचन्द्र ने इसको विवृति माना है और वे कारिका का व्याख्यान करके जब गद्य भाग का व्याख्यान करते है तब 'विवृतिं विवृण्वन्नाह' लिखते हैं। विवृति शब्द का प्रयोग हमारे विचार से खालिस टीका या वृत्ति के अर्थ मे न होकर तत्सम्बद्ध शेष वक्तव्य के अर्थ में है।

लघीयस्त्रयमे चर्चित विषय सक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथमपरि० मे—सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता, प्रत्यक्ष परोक्ष का लक्षण, प्रत्यक्ष के साव्यवहारिक और मुख्य रूप से दो भेद, साव्यवहारिक के इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष रूपसे भेद, मुख्यप्रत्यक्ष का समर्थन, साव्यवहारिक के अवग्रहादिरूप से भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्वादिरूप भेद, भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय के लक्षण, पूर्व पूर्वज्ञान की प्रमाणता में उत्तरोत्तर ज्ञानो की फलरूपता आदि विषयो की चरचा है।

द्वितीयपरि० में—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में क्रमयौगपद्यरूपसे अर्थक्रियाकारित्व का अभाव, नित्य मानने पर विक्रिया तथा अविक्रिया का अविरोध आदि प्रमाण के विषय से सम्बन्ध रखनेवाले विचार प्रकट किए हैं।

तृतीयपरि० में—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोध का शब्दयोजना से पूर्व अवस्था में मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्था में श्रुतव्यपदेश, व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा असभव होने से व्याप्तिग्राही तर्क का प्रामाण्य, अनुमान का लक्षण, जलचन्द्र के दृष्टान्त से कारण हेतु का समर्थन, कृत्तिकोदय आदि पूर्वचर हेतु का समर्थन, अदृश्यानुपलब्धि से भी परचैतन्य आदि का अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमान का सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान के वैसदृश्य आपेक्षिक प्रतियोगि आदि भेदो का निरूपण, बौद्ध मत में स्वभावादि हेतुओ के प्रयोग मे कठिनता, अनुमानानुमेयव्यवहार की वास्तविकता एव विकल्पबुद्धि की प्रमाणता आदि परोक्षज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों की चरचा है।

चतुर्थपरि० में—किसी भी ज्ञान में ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणता का निषेध करके प्रमाणाभास का स्वरूप, सविकल्पज्ञान में प्रत्यक्षाभासता का अभाव, अविसंवाद

'प्रमाणनयप्रवेश' एक अखण्ड प्रकरण नहीं था, वे उसे दो स्वतन्त्र प्रकरण मानते थे। इसका आधार यह है कि–सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० ५७२ B.) में शब्दनयादि का लक्षण करके वे लिखते हैं कि " एतेषामुदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणादवगन्तव्यानि "– इनके उदाहरण नयप्रवेशकप्रकरण से जानना चाहिए। यहां नयप्रवेश को स्वतन्त्र प्रकरण रूप में उल्लेख करने से अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तवीर्य की दृष्टि मे प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश दो प्रकरण थे। और यह बहुत कुछ संभव है कि उनने ही प्रवचनप्रवेश को मिलाकर इनकी 'लघीयस्त्रय' संज्ञा दी हो। उस समय प्रवेशक और लघु ग्रन्थो को प्रकरण शब्द से कहने की परम्परा थी। जैसे न्यायप्रवेशप्रकरण, न्यायविन्दुप्रकरण आदि। अनन्तवीर्य के इस लघीयस्त्रय संज्ञाकरण के बाद तो इनकी प्रमाणनयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश संज्ञा लघीयस्त्रय के तीन प्रवेशो के रूप मे ही रही ग्रन्थ के नाम के रूप में नहीं।

अस्तु, लघीयस्त्रय नाम का इतिहास जान लेने के बाद अब हम इसका एक अखण्ड ग्रन्थ के रूप में ही वर्णन करेगे; क्योकि आज तक निर्विवाद रूप से यह एक ही ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत चला आ रहा है। इस ग्रन्थ में तीन प्रवेश हैं–१ प्रमाण प्रवेश, २ नय प्रवेश, ३ निक्षेप प्रवेश। प्रमाण प्रवेश के चार परिच्छेद हैं–१ प्रत्यक्ष परिच्छेद, २ विषय परिच्छेद, ३ परोक्ष परिच्छेद, ४ आगम परिच्छेद। इन चार परिच्छेदों के साथ नयप्रवेश तथा प्रवचन प्रवेश को मिलाकर कुल ६ परिच्छेद स्वोपज्ञविवृति की प्रति में पाए जाते हैं। लघीयस्त्रय के व्याख्याकार आ० प्रभाचन्द्र ने प्रवचनप्रवेश के भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदों पर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है। प्रवचनप्रवेश में जहाँ तक प्रमाण और नय का वर्णन है वहाँ तक प्रभाचन्द ने छठवाँ परिच्छेद, तथा निक्षेप के वर्णन को स्वतन्त्र सातवाँ परिच्छेद माना है।

लघीयस्त्रय में कुल ७८ कारिकाएँ है। मुद्रित लघीयस्त्रय में ७७ ही कारिकाएँ है। उसमें ' लक्षणं क्षणिकैकान्ते' (का० ३५) कारिका नहीं है। नयप्रवेश के अन्त में 'मोहेनैव परोऽपि' इत्यादि पद्य भी विवृति की प्रति मे लिखा हुआ मिलता है। पर इस पद्य का प्रभाचन्द्र तथा अभयनन्दि ने व्याख्यान नहीं किया है, तथा उसकी मूलग्रन्थ के साथ कोई संगति भी प्रतीत नहीं होती, अतः इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिए। प्रथम परि० में ६।।, द्वि० परि० में ३, तृ० परि० में १२, चतु० परि० में ७, पंचम परि० में २१, तथा ६ प्रवचन प्र० में २८, इस तरह कुल ७८ कारिकाएँ हैं।

मूल लघीयस्त्रय के साथ ही स्वयं अकलंकदेव की संक्षिप्त विवृति भी इसी संस्करण में मुद्रित है। यह विवृति कारिकाओं का व्याख्यानरूप न होकर उस में सूचित विषयो की पूरक है। अकलकदेव ने इसे मूल श्लोकों के साथ ही साथ लिखा है। मालूम होता है कि–अकलंक देव जिस पदार्थ को कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंश की कारिका

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का वर्णन है। यदि धर्मकीर्ति का प्रमाणविनिश्चय के अतिरिक्त भी कोई न्यायविनिश्चय ग्रन्थ है तब तो ज्ञात होता है कि–प्रस्तावविभाजन तथा नामकरण की कल्पना में उसी ने कार्य किया है। यह भी संभव है कि–प्रमाणविनिश्चय को ही वादिदेवसूरि ने न्यायविनिश्चय समझ लिया हो। इसके तीन प्रस्तावों में निम्न-विषयो का विवेचन है–

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्ताव मे–प्रत्यक्ष का लक्षण, इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण, प्रमाणसम्प्लव-सूचन, चक्षुरादिबुद्धियो का व्यवसायात्मकत्व, विकल्प के अभिलापवत्त्व आदि लक्षणो का खंडन, ज्ञान को परोक्ष मानने का निराकरण, ज्ञान के स्वसंवेदन की सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थ का निराकरण, अवयवो से भिन्न अवयवी का खण्डन, द्रव्य का लक्षण, गुणपर्याय का स्वरूप, सामान्य का स्वरूप, अर्थ के उत्पादादादित्रयात्मकत्व का समर्थन, अपोहरूप सामान्य का निरास, व्यक्ति से भिन्न सामान्य का खडन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षण का खंडन, बौद्धकल्पित स्वसंवेदनयोगिमानसप्रत्यक्षनिरास, साख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षण का खडन, नैयायिक के प्रत्यक्ष का समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण आदि विषयो का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्ताव में–अनुमान का लक्षण, प्रत्यक्ष की तरह अनुमान की बहिर्र्थविषयता, साध्य-साध्याभास के लक्षण, बौद्धादिमतो में साध्यप्रयोग की असभवता, शब्द का अर्थवाचकत्व, शब्दसंकेतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवाद का निराकरण, गुणगुणि भेद का निराकरण, साधन-साधनाभास के लक्षण, प्रमेयत्व हेतु की अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतु की परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्य खडन पूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्क की प्रमाणता, अनुपलम्भहेतु का समर्थन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासों का विवेचन, दूषणाभास लक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास विचार, वाद का लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमान से सम्बन्ध रखने वाले विषयो का वर्णन है।

तृतीय प्रवचनप्रस्ताव में–प्रवचन का स्वरूप, सुगत के आप्तत्व का निरास, सुगत के करुणावत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्व का परिहास, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्नज्ञान तथा इक्षणिकादिविद्या के दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्यभावना की निरर्थकता, मोक्ष का स्वरूप, सप्तभंगीनिरूपण, स्याद्वाद में दिए जाने वाले सशयादि दोषों का परिहार, स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य, प्रमाण का फल आदि विषयो का विवेचन है।

लघीयस्त्रय की तरह न्यायविनिश्चय पर भी स्वयं अकलङ्ककृत विवृति अवश्य रही है। जैसा कि न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० १२० B.) के 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्'

और विसंवाद से प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृष्टविषयों में श्रुत की प्रमाणता, हेतुवाद और आप्तोक्तरूप से द्विविध श्रुत की अविसंवादि होने से प्रमाणता, शब्दों के विवक्षामात्रवाचित्व का खण्डन कर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातों का विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का निरूपण कर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

पंचमपरि० में–नय दुर्नय के लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप से मूलभेद, सद्रूप से समस्त वस्तुओं के ग्रहण का संग्रहनयत्व, ब्रह्मवाद का संग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत एकान्तक्षणिकता का निरास, गुण गुणी, धर्म धर्मी की गौण मुख्य विवक्षा में नैगमनय की प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादि के एकान्त भेद का नैगमाभासत्व, प्रामाणिक भेद का व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेद का व्यवहाराभासत्व, कालकारकादि के भेद से अर्थभेद निरूपण की शब्दनयता, पर्यायभेद से अर्थभेदक कथनका समभिरूढनयत्व, क्रियाभेद से अर्थभेद प्ररूपण का एवंभूतनयत्व, सामग्रीभेद से अभिन्नवस्तु में भी षट्कारकी का संभव आदि समस्त नयपरिवार का विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

६ प्रवचन प्रवेश में–प्रमाण, नय, और निक्षेप के कथन की प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोक की ज्ञानकारणता का खंडन, अन्धकार को ज्ञान का विषय होने से आवरणरूपता का अभाव, तज्जन्म, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय का प्रामाण्य में अप्रयोजकत्व, श्रुत के सकलादेश विकलादेश रूप से दो उपयोग, 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य की विकलादेशता, 'स्याज्जीव एव' इस वाक्य की सकलादेशता, शब्द की विवक्षा से भिन्न वास्तविक अर्थ की वाचकता, नैगमादि सात नयों में से आदि के नैगमादि चार नयों का अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयों का शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपों के लक्षण, अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थ का निरूपण रूप निक्षेप का फल, इत्यादि प्रवचन के अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण किया गया है।

न्यायविनिश्चय–धर्मकीर्ति का एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना गद्यपद्यमय है। न्यायविनिश्चय नाम स्पष्टतया इसी प्रमाणविनिश्चय नाम का अनुकरण है। नाम की पसन्दगी में आन्तरिक विषय का निश्चय भी एक खास कारण होता है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों का विवेचन किया है। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रस्ताव रखे हैं–१ प्रत्यक्ष प्रस्ताव, २ अनुमान प्रस्ताव, ३ प्रवचन प्रस्ताव। अतः संभव है कि–अकलङ्क के लिए विषय की पसन्दगी में तथा प्रस्ताव के विभाजन में न्यायावतार प्रेरक हो, और इसीलिए उन्होंने न्यायावतार के 'न्याय' के साथ प्रमाणविनिश्चय के 'विनिश्चय' का मेल बैठाकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो। वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० २३) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य ...' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चय के तीन परिच्छेदों में क्रमशः प्रत्यक्ष,

नुपपत्तिरूप हेतुलक्षण का समर्थन, हेतु के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि भेदों का विवेचन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन आदि हेतुसम्बन्धी विचार है।

पंचम प्रस्ताव में–१०॥ कारिकाएँ हैं। इनमें विरुद्धादि हेत्वाभासों का निरूपण, सर्वथा एकान्त में सत्त्वहेतु की विरुद्धता, सहोपलम्भनियमहेतु की विरुद्धता, विरुद्धाव्यभिचारी का विरुद्ध में अन्तर्भाव, अज्ञात हेतु का अकिञ्चित्कर में अन्तर्भाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण है, तथा अन्तर्व्याप्ति का समर्थन है।

षष्ठ प्रस्ताव में–१२॥ कारिकाएँ हैं। इनमें वाद का लक्षण, जयपराजय व्यवस्था का स्वरूप, जाति का लक्षण, दध्युष्ट्रत्वादि के अभेदप्रसंग का जात्युत्तरत्व, उत्पादादित्रयात्मकत्व-समर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करने में सत्त्वहेतु का सिद्धसेनादि के मत से असिद्धत्वादिनिरूपण आदि वादविषयक कथन है। अन्त में–धर्मकीर्ति आदि ने अपने ग्रन्थो में प्रतिवादियों के प्रति जिन जाड्य आदि अपशब्दों का प्रयोग किया है उनका बहुत सुन्दर मुंहतोड़ उत्तर दिया है। लिखा है कि–शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, परमाणुसञ्चय को प्रत्यक्ष का विषय मानना, अपोहवाद तथा मिथ्यासन्तान ये सात बातें माननेवाला ही वस्तुतः जड़ है। प्रतिज्ञा को असाधन कहना, अदृश्यानुपलब्धि को अगमक कहना आदि ही अह्रीकता–निर्लज्जता है। निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के सिवाय सब ज्ञानों को भ्रान्त कहना, साकार ज्ञान मानना, क्षणभङ्गवाद तथा असत्कार्यवाद ही पशुता के द्योतक हैं। परलोक न मानना, शास्त्र न मानना, तप दान देवता आदि से इन्कार करना ही अलौकिकता है। अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदि में शब्द-वेद को ही प्रमाण मानना, किसी चेतन को उसका ज्ञाता न कहना ही तामस है। संस्कृत आदि शब्दो में साधुता असाधुता का विचार तथा उनके प्रयोग मात्र से पुण्य-पाप मानना ही प्राकृत-ग्रामीणजन का लक्षण है।

सप्तम प्रस्ताव में–१० कारिकाएँ हैं। इसमें प्रवचन का लक्षण, सर्वज्ञता में किए जाने वाले सन्देह का निराकरण, अपौरुषेयत्व का खंडन, तत्त्वज्ञानचारित्र की मोक्षहेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयों का विवेचन है।

अष्टम प्रस्ताव में–१३ कारिकाएँ हैं। इनमें सप्तभंगी का निरूपण तथा नैगमादिनयों का कथन है।

नवम प्रस्ताव में–२ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रमाण नय और निक्षेप का उपसंहार है।

§ ३. रचनाशैली–

अकलङ्क के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं–१ टीका ग्रन्थ, २ स्वतंत्र प्रकरण। टीका ग्रन्थों मे राजवार्तिक तथा अष्टशती हैं। स्वतंत्र ग्रन्थों में लघीयस्त्रयसविवृति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति और प्रमाणसंग्रह ये चार ग्रन्थ निश्चित रूप से अकलंककर्तृक हैं। परम्परागत प्रसिद्धि की दृष्टि से स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूलिका, अकलंक प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रायश्चित्तसंग्रह आदि हैं, जिनके कर्त्ता प्रसिद्ध अकलंकदेव न होकर अन्य अकलंक हैं।

आदि वाक्यो से तथा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १२० A.) में न्यायविनिश्चय के नाम से उद्धृत "नचैतद्बहिरेव·· " आदि गद्यभाग से पता चलता है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० १६१ B.) में 'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' कहकर "समारोपव्यवच्छेदात्···" श्लोक उद्धृत मिलता है। बहुत कुछ संभव है कि इसी विवृतिरूप गद्यभाग का ही विवरणकार ने चूर्णि शब्द से उल्लेख किया हो। न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराज ने न्यायविनिश्चय के केवल पद्यभाग का व्याख्यान किया है।

प्रमाणसंग्रह–प० सुखलालजी की कल्पना है कि–'प्रमाणसंग्रह नाम दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय तथा शान्तरक्षित के तत्त्वसग्रह का स्मरण दिलाता है।' यह कल्पना हृदय को लगती है। पर तत्त्वसग्रह के पहिले भी प्रशस्तपादभाष्य का पदार्थसंग्रह नाम प्रचलित रहा है। संभव है कि संग्रहान्त नाम पर इसका भी कुछ प्रभाव हो। जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणो–युक्तियो का संग्रह ही है। इस ग्रन्थ की भाषा और खासकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनता से समझने लायक है। अकलङ्क के इन तीन ग्रन्थो में यही ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया है, क्योकि इसके कई प्रस्तावो के अन्त में न्यायविनिश्चय की अनेको कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्य के लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़-शैली से ज्ञात होता है कि यह अकलङ्कदेव की अन्तिम कृति है, और इसमें उन्होने अपने यावत् अवशिष्ट विचारों के लिखने का प्रयास किया है, इसीलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओं के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेको भेदो का विस्तृत विवेचन है; जब कि न्यायविनिश्चय में मात्र उनका नाम ही लिया गया है। अतः यह सहज ही समझा जा सकता है कि–यह न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया होगा।

इसमें ९ प्रस्ताव हैं, तथा कुल ८७½ कारिकाएँ।

प्रथम प्रस्ताव में–९ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रत्यक्ष का लक्षण, श्रुत का प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाण का फल, मुख्यप्रत्यक्ष का लक्षण आदि प्रत्यक्ष विषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्ताव में– ९ कारिकाएँ है। इनमें स्मृति का प्रामाण्य, प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता, तर्क का लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भ से तर्क का उद्भव, कुतर्क का लक्षण, विवक्षा के बिना भी शब्दप्रयोग का संभव, परोक्ष पदार्थों में श्रुत से अविनाभावग्रहण आदि का वर्णन है। अर्थात् परोक्ष के भेद स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क का निरूपण है।

तृतीय प्रस्ताव में– १० कारिकाएँ हैं। इनमें अनुमान के अवयव साध्य साधन का लक्षण, साध्याभास का लक्षण, सदसदेकान्त में साध्यप्रयोग की असंभवता, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु की साध्यता तथा उसमें दिए जानेवाले संशयादि आठ दोषो का परिहार आदि का वर्णन है।

चतुर्थ प्रस्ताव में–११॥ कारिकाएँ है। इनमें त्रिरूप का खडन करके अन्यथा-

रही है। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति को देखकर तो यह और भी स्पष्ट मालूम होने लगता है कि उस समय कुछ ऐसी ही सूत्र रूप से लिखने की परम्परा थी। लेखनशैली में परिहास का पुट भी कहीं कहीं बड़ी व्यंजना के साथ मिलता है, जैसे– न्यायविनिश्चय में धर्मकीर्ति के–"जब सब पदार्थ द्रव्यरूपसे एक हैं तब दही और ऊँट भी द्रव्यरूपसे एक हुए, अतः दही को खानेवाला ऊँट को क्यो नहीं खाता ?" इस आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है कि–भाई, जैसे सुगत पूर्व भव में मृग थे, तथा मृग भी सुगत हुआ था, अतः सन्तानदृष्टि से एक होने पर भी आप मृग की जगह सुगत को क्यो नहीं खाते और मृग की वन्दना क्यो नहीं करते ? अतः जिस तरह वहाँ पर्यायभेद होने से वन्द्यत्व और खाद्यत्व की व्यवस्था है उसी तरह दही और ऊँट के शरीर में पुद्गलद्रव्यरूपसे एकता होने पर भी पर्याय की अपेक्षा भिन्नता है। यथा–

"सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतस्तथा। तथापि सुगतो वन्द्यो मृग. खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥"
[न्यायवि० ३।३७३-७४]

अकलंक के प्रकरणो का सूक्ष्मता से अनुसंधान करने पर मालूम होता है कि–अकलंकदेव की सीधी चोट बौद्धो के ऊपर है। इतरदर्शन तो प्रसंग से ही चर्चित हैं, और उनकी समालोचना में बौद्धदर्शन का सहारा भी लिया गया है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक से तो अनेकों पूर्वपक्ष शब्दशः लेकर समालोचित हुए हैं। धर्मकीर्ति के साथ ही साथ उनके शिष्य एव टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि प्रभृति भी अकलंक केद्वारा युक्तिजालो में लपेटे गए हैं। जहाँ भी मौका मिला सौत्रान्तिक या विज्ञानवादी के ऊपर पूरा पूरा प्रहार किया गया है। कुमारिल की सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियाँ प्रबलप्रमाणो से खडित की गई हैं। जैननिरूपण में समन्तभद्र, पूज्यपाद का प्रभाव होने पर भी न्यायविनिश्चय में सिद्ध-सेन दिवाकर के न्यायावतार तथा लघीयस्त्रय के नयनिरूपण में सन्मतितर्क के नयकाण्ड तथा मल्लवादि के नयचक्र का भी प्रभाव है। उत्तरकालीन ग्रन्थकार अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, शान्तिसूरि, वादिराज, वादिदेव, हेमचन्द्र तथा यशोविजय आदि सभी आचार्यों ने अकलंक के द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायकी रेखा का विस्तार किया तथा उनके वाक्यो को बड़ी श्रद्धा से उद्धृत कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

अकलंक द्वारा प्रणीत व्यवस्था में अनुपपत्ति शान्तिसूरि तथा मलयगिरि' आचार्य ने दिखाई है। शान्तिसूरि ने जैनतर्कवार्तिक में अकलङ्क द्वारा प्रमाणसंग्रह में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमनिमित्तक त्रिविध श्रुत की जगह द्विविध-अनुमानज और शब्दज श्रुत माना है। मलयगिरि आचार्य ने सम्यग्नय में स्यात्पद के प्रयोग का इस आधार पर समालोचन किया है कि स्यात् पद का प्रयोग करने से तो प्रमाण और नय में कोई भेद नहीं रहेगा। पर इसका उत्तर उ० यशोविजय ने गुरुतत्त्वविनिश्चय में दे दिया है कि–मात्र स्यात् पद

राजवार्तिक के सिवाय प्रायः सभी ग्रन्थ अष्टशती जितने ८०० श्लोक प्रमाण ही मालूम होते हैं। धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु, वादन्याय, प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ भी करीब करीब इतने ही छोटे हैं। उस समय संक्षिप्त पर अर्थबहुल, गंभीर तथा तलस्पर्शी प्रकरणों की रचना का ही युग था।

अकलंक जब आगमिक-विषय पर कलम उठाते हैं तब उनके लेखन की सरलता, विशदता एवं प्रसाद गुण का प्रवाह पाठक को पढ़ने से ऊबने नहीं देता। राजवार्तिक की प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलङ्क तार्किक विषयों पर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। अकलंक के प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित प्रकरणग्रन्थ अत्यन्त जटिल, गूढ एवं इतने संक्षिप्त हैं कि कहीं कहीं उनका आधार लेकर टीकाकारों द्वारा किए गए अर्थ अकलङ्क के मनोगत थे या नहीं यह संदेह होने लगता है। अकलंक के प्रकरणों की यथार्थज्ञता का दावा करने वाले अनन्तवीर्य भी इनकी गूढता के विषय में बरबस कह उठते हैं कि–

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वथा। न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥"

अर्थात्–"अनन्तवीर्य भी अकलङ्क देव के पदों के व्यक्त अर्थ को नहीं जान पाता यह बड़ा आश्चर्य है।" ये अनन्तवीर्य उस समय अकलंक के प्रकरणों के मर्मज्ञ, तत्वद्रष्टा समझे जाते थे। प्रभाचन्द्र एवं वादिराज अनन्तवीर्य की अकलंकीय प्रकरणों की तलस्पर्शिता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि–"मैंने त्रिलोक के यावत् पदार्थों को संक्षेपरूपसे वर्णन करनेवाली अकलंक की पद्धति को अनन्तवीर्य की उक्तियों का सैकड़ों वार अभ्यास करके समझ पाया है।" "अकलंक के गूढ प्रकरणों को यदि अनन्तवीर्य के वचनदीप प्रकट न करते तो उन्हें कौन समझ सकता था?" आदि।

सविवृति लघीयस्त्रय पर प्रभाचन्द्र की टीका उपलब्ध होने से तथा उसका विषय कुछ प्रारम्भिक होने से समझने में उतनी कठिनाई नहीं मालूम होती जितनी न्यायविनिश्चय में। प्रमाणसंग्रह में तो यह कठिनाई अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है। एक ही प्रकरण में अनेक चर्चाओं का समावेश हो जाने से तो यह जटिलता और भी बढ जाती है। उदाहरणार्थ–न्यायविनिश्चय में भूतचैतन्यवाद का निराकरण करते हुए जहाँ यह लिखा है कि ज्ञान भूतों का गुण नहीं है, वहीं लगे हाथ गुण शब्द का व्याख्यान तथा वैशेषिक के गुणगुणिभेद का खंडन भी कर दिया है। समझनेवाला इससे विषय के वर्गीकरण में बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। अकलङ्कदेव का षड्दर्शन का गहरा अभ्यास तथा बौद्धशास्त्रों का अतुलभावनापूर्वक आत्मसात्करण ही उन के प्रकरणों की जटिलता में कारण मालूम होता है। वे यह सोचते हैं कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सूक्ष्म और बहु पदार्थ ही नहीं किन्तु बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह शब्दसंक्षिप्तता बड़े बड़े प्रकाण्डपण्डितों को अपनी बुद्धि को मापने का मापदण्ड बन

प्रमाणसम्प्लव विचार—यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने अज्ञातार्थप्रकाश और अनधिगतार्थग्राहि शब्दो का प्रयोग करके प्रमाणसम्प्लव का निषेध किया है। एक प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाणसम्प्लव कहते हैं। बौद्ध पदार्थों को एकक्षणस्थायी मानते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ ज्ञान में कारण होता है। अतः जिस विवक्षित पदार्थ से कोई भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह पदार्थ दूसरे क्षण में नियम से नष्ट हो जाता है। इसलिए किसी भी अर्थ में दो ज्ञानो के प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं है। दूसरे, बौद्धों ने प्रमेय के दो भेद किए हैं—१ विशेष (स्वलक्षण), २ सामान्य (अन्यापोहरूप)। विशेष पदार्थ को विषय करने वाला प्रत्यक्ष है तथा सामान्य को जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह विषयद्वैविध्य से प्रमाणद्वैविध्यात्मक व्यवस्था होने से कोई भी प्रमाण अपनी विषयमर्यादा को नहीं लाँघ सकता। इसलिए विजातीय प्रमाण की तो स्वनियत विषय से भिन्न प्रमेय में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तर के सम्प्लव की बात, सो द्वितीय क्षण में जब वह पदार्थ रहता ही नहीं है तब सम्प्लव की चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है।

यहां यह प्रश्न होता है कि—'जैन तो पदार्थ को एकान्तक्षणिक नहीं मानते और न विषयद्वैविध्य को ही। जैन की दृष्टि से तो एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थ सभी प्रमाणों का विषय होता है। तब अनधिगतार्थग्राहि पद का जैनोक्त प्रमाणलक्षण में क्या उपयोग हो सकता है?' अकलंकदेव ने इसका उत्तर दिया है कि—वस्तु अनन्तधर्मवाली है। अमुक ज्ञान के द्वारा वस्तु के अमुक अंशों का निश्चय होने पर भी अगृहीत अंशो को जानने के लिए प्रमाणान्तर को अवकाश रहता है। इसी तरह जिन ज्ञात अंशो में संवाद हो जाने से निश्चय हो गया है, उन अंशों में भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करे पर जिन अंशो में असंवाद होने से अनिश्चय या विपरीतनिश्चय है उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेदक होने के कारण अनधिगतग्राहिरूप से प्रमाण ही हैं। प्रमाणसम्प्लव के विषय में यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि—अकलकदेव ने प्रमाण के लक्षण में अनधिगतार्थग्राहि पद के प्रवेश करने के कारण अनिश्चितांश के निश्चय में या निश्चिताश में उपयोगविशेष होने पर प्रमाणसम्प्लव माना है, जब कि नैयायिक ने अपने प्रमाणलक्षण में ऐसा कोई पद नहीं रखा, अतः उसकी दृष्टि से वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिल जॉय तो अवश्य ही प्रमाण की प्रवृत्ति होगी, इसी तरह उपयोग विशेष होया न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं होगा कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि नैयायिक को प्रत्येक अवस्था में प्रमाणसम्प्लवर वीकृत है।

अकलंकदेव ने बौद्धमत में प्रमाणसम्प्लव की असंभवता के कारण 'अनुमान की अप्रवृत्ति' रूप दूषण देते हुए कहा है कि—जब आप के यहा यह नियम है कि प्रत्यक्ष के

के प्रयोग से प्रमाण और नय में भेदाभाव नहीं हो सकता। नयान्तरसापेक्ष नय यदि प्रमाण हो जाय तब तो व्यवहारादि सभी नयों को प्रमाण मानना होगा। इस तरह उपाध्यायजी ने अकलंक के मत का ही समर्थन किया है।

आन्तरिक विषयपरिचय

इस परिचय में अकलंकदेव ने प्रस्तुत तीनो ग्रन्थों में जिन विषयों पर संक्षेप या विस्तार से जो भी लिखा है, उन विषयों का सामान्य परिचय तथा अकलंकदेव के वक्तव्य का सार दिया गया है। इससे योग्यभूमिकावाले जैनन्याय के अभ्यासियों का अकलंक के ग्रन्थो में प्रवेश तो होगा ही, साथ ही साथ जैनन्याय के रसिक अध्यापको को जैनन्याय से सम्बन्ध रखने वाले दर्शनान्तरीय विषयो की अनेको महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी मिल सकेगीं। इसमें प्रसंगतः जिन अन्य आचार्यों के मतों की चर्चा आई है उनके अवतरण देखने के लिए उस विषय के टिप्पणो को ध्यान से देखना चाहिए। इस परिचय को ग्रंथशः नहीं लिखकर तीनो ग्रन्थो के मुख्य २ विषयों का सकलन करके लिखा है। जिससे पाठको को विशेष सुविधा रहेगी। यह परिचय मुख्यतया से प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेप और सप्तभंगीरूपसे स्थूल विभाग करके लिखा गया है।

§ १. प्रमाणनिरूपण–

प्रमाणसामान्यविचार–समन्तभद्र और सिद्धसेन ने प्रमाणसामान्य के लक्षण में स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधवर्जित पद रखे हैं, जो उस समय के प्रचलित लक्षणों से जैनलक्षण को व्यावृत्त कराते थे। साधारणतया 'प्रमाकरण प्रमाणम्' यह लक्षण सर्वमान्य था। विवाद था तो इस विषय में कि वह करण कौन हो ? न्यायभाष्य मे करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनो का स्पष्टतया निर्देश है। यद्यपि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को स्वसंवेदी मानते रहे हैं, पर वे करण के स्थान मे सारूप्य या योग्यता को रखते हैं। समन्तभद्रादि ने करण के स्थान में स्वपरावभासक ज्ञान पद रखके ऐसे ही ज्ञान को प्रमाण माना जो स्व और पर उभय का अवभासन करने वाला हो। अकलंकदेव ने इस लक्षण में अविसंवादि और अनधिगतार्थग्राहि इन दो नए पदो का समावेश करके अवभासक के स्थान में व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है। अविसंवादि तथा अज्ञातार्थ-प्रकाश पद स्पष्टरूपसे धर्मकीर्ति के प्रमाण के लक्षण से आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से। इनकी लक्षणसघटना के अनुसार स्व और पर का व्यवसाय-निश्चय करनेवाला, अविसवादि-सशयादि समारोप का निरसन करनेवाला और अनधिगतार्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होगा।

ज्ञान का सद्भाव ही असिद्ध है। अतः अविनाभाव का ग्रहण न होने से परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान नहीं हो सकेगा।

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद निराकरण–यदि प्रथमज्ञान का प्रत्यक्ष द्वितीयज्ञान से माना जाय और इसी तरह अस्वसंवेदी तृतीयादिज्ञान से द्वितीयादिज्ञानों का प्रत्यक्ष; तब अनवस्था नाम का दूषण ज्ञान के सद्भाव सिद्ध करने में बाधक होगा, क्योंकि जब तक आगे आगे के ज्ञान अपने स्वरूप का निश्चय नहीं करेंगे तब तक वे पूर्वपूर्वज्ञानों को नहीं जान सकेंगे। और जब प्रथमज्ञान ही अज्ञात रहेगा तब उसके द्वारा अर्थ का ज्ञान असंभव हो जायगा। इस तरह जगत् अर्थनिश्चयशून्य हो जायगा। एक ज्ञान के जानने में ही जब इस तरह अनेकानेक ज्ञानो का प्रवाह चलेगा, तब तो ज्ञान की विषयान्तर में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। यदि अप्रत्यक्षज्ञान से अर्थबोध माना जाय; तब तो हम लोग ईश्वरज्ञान के द्वारा भी समस्त पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ बन जॉयगे, क्योंकि अभी तक हम लोग सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा अर्थों को इसी कारण से नहीं जान सकते थे कि वह हमारे स्वय अप्रत्यक्ष है।

प्रकृतिपर्यायात्मकज्ञानवाद निरसन–यदि ज्ञान प्रकृति का विकार होने से अचेतन है तथा वह पुरुष के सचेतन द्वारा अनुभूत होता है; तो फिर इस अकिञ्चित्कर ज्ञान का क्या प्रयोजन ? क्योकि उसी ज्ञानस्वरूपसञ्चेतक पुरुषानुभव के द्वारा अर्थ का भी परिज्ञान हो जायगा। यदि वह सञ्चेतन स्वप्रत्यक्ष नहीं है; तब इस अकिञ्चित्कर ज्ञान की सत्ता किससे सिद्ध की जायगी ? ज्ञान विषयक सञ्चेतना जो कि अनित्य है, अविकारी कूटस्थनित्य पुरुष का धर्म भी कैसे हो सकती है ? अतः ज्ञान परिणामी पुरुष का ही धर्म है और वह स्वार्थसंवेदक होता है। इसी तरह यदि अर्थसंञ्चतना स्वार्थ-संवेदक है; तब तद्व्यतिरिक्त अकिञ्चित्कर पुरुष के मानने का भी क्या प्रयोजन ? यदि वह अस्वसवेदक है; तब पूर्वज्ञान तथा पुरुष की सिद्धि किससे होगी ?

साकारज्ञानवाद निरास–साकारज्ञानवादी निराकारज्ञानवादियो को ये दूषण देते हैं कि–'यदि ज्ञान निराकार है, उसका किसी अर्थ के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है; तब प्रतिकर्मव्यवस्था–घटज्ञान का विषय घट ही है पट नहीं–कैसे होगी ? तथा विषयप्रतिनियम न होने से सब अर्थ एकज्ञान के या सब ज्ञानों के विषय हो जॉयगे। विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा। इनमे यही भेद है कि विषय-ज्ञान जहॉ केवल विषय के आकार होता है तब विषयज्ञानज्ञान अर्थ और अर्थाकारज्ञान दोनों के आकार को धारण करता है। विषय की सत्ता सिद्ध करने के लिए ज्ञान को साकार मानना आवश्यक है।' अकलङ्कदेव ने इनका समाधान करके ज्ञान को निराकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि–विषयप्रतिनियम के लिए ज्ञान की अपनी शक्ति ही नियामक है। जिस ज्ञान में जिस प्रकार की जितनी शक्ति होगी उससे उतनी और उसी प्रकार की अर्थव्यवस्था होगी।

द्वारा वस्तु के समस्त गुणों का दर्शन हो जाता है; तब प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वांशतया गृहीत वस्तु में कोई भी अनधिगत अंश नहीं बचा, जिसके ग्रहण के लिए अनुमान को प्रमाण माना जाय। अनुमान के विषयभूत अन्यापोहरूप सामान्य में विपरीतारोप की संभावना नहीं है, अतः समारोपव्यवच्छेदार्थ भी अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अकलङ्कोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दि ने अनधिगतार्थ की जगह कुमारिल के अपूर्वार्थ पद को स्थान दिया। पर विद्यानन्द तथा उनके बाद अभयदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने अनधिगत या अपूर्वार्थ किसी भी पद को अपने लक्षणों में नहीं रखा।

ज्ञान का स्व-परसंवेदन विचार–ज्ञान के स्वरूपसंवेदन के विषय में निम्न वाद हैं–१ मीमांसक का परोक्षज्ञानवाद, २ नैयायिक का ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ३ सांख्य का प्रकृतिपर्यायात्मक ज्ञान का पुरुष द्वारा संचेतनवाद, ४ बौद्ध का साकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद, ५ जैन का निराकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद। अकलंकदेव ने इतर वादों की समालोचना इस प्रकार की है–

परोक्षज्ञानवादनिरास–यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने स्वरूप को न जान सके, तब उस परोक्षज्ञान के द्वारा जाना गया पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकेगा; क्योंकि आत्मान्तर के ज्ञान से हमारे ज्ञान में यही स्वकीयत्व है कि वह हमारे स्वयं प्रत्यक्ष का विषय है, उसे हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब कि आत्मान्तर के ज्ञान को हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं करते। यही कारण है कि आत्मान्तर के ज्ञान के द्वारा हमें पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता। जब ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं तब उसकी सिद्धि अनुमान से भी कैसे होगी? क्योंकि अस्वसंविदित अर्थप्रकाश-रूप लिंग से अज्ञात धर्मि-ज्ञान का अविनाभाव ही गृहीत नहीं है। अर्थप्रकाश को स्वसंविदित मानने पर तो ज्ञान की कल्पना ही निरर्थक हो जायगी; क्योंकि स्वार्थसंवेदी अर्थप्रकाश से स्व और अर्थ उभय का परिच्छेद हो सकता है। इसी तरह विषय, इन्द्रिय, मन आदि भी परोक्ष ज्ञान का अनुमान नहीं करा सकते; क्योंकि एक तो इनके साथ ज्ञान का अविना-भाव असिद्ध है, दूसरे इनके होने पर भी कभी कभी ज्ञान नहीं होता अतः ये व्यभिचारी भी हैं। यदि विषयजन्य ज्ञानात्मक सुखादि परोक्ष हैं; तब उनसे हमें अनुग्रह या परिताप नहीं हो सकेगा। अपने सुखादि को अनुमानग्राह्य मानकर अनुग्रहादि मानना तो अन्य आत्मा के सुख से व्यभिचारी है, अर्थात् परकीय आत्मा के सुखादि का हम उसकी प्रसाद-विषादादि चेष्टाओं से अनुमान तो कर सकते हैं पर उनसे अनुग्रहादि तो हमें नहीं होता। ज्ञान को परोक्ष मानने पर आत्मान्तर की बुद्धि का अनुमान करना भी कठिन हो जायगा। परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान व्यापार वचनादि चेष्टाओं से किया जाता है। यदि हमारा ज्ञान हमें ही अप्रत्यक्ष है, तब हम ज्ञान का व्यापारादि के साथ कार्यकारणरूप अविनाभाव अपनी आत्मा में तो ग्रहण ही नहीं कर सकेंगे, अन्य आत्मा में तो अभी तक

मिकपरम्परा में स्पष्टरूपसे परोक्ष हैं। पर लोकव्यवहार तथा दर्शनान्तरो में इन्द्रियानिन्द्रियजज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ही प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होते हैं। यद्यपि अकलंकदेव के पहिले आ० सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणो का कथन किया है, पर प्रमाणो की व्यावर्तक संख्या अभी तक अनिश्चितसी ही रही है। अकलंकदेव ने सूत्रकार की परम्परा की रक्षा करते हुए लिखा है कि–मति, स्मृति, सञ्ज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्दयोजना से पहिले मतिज्ञान तथा शब्दयोजना के अनन्तर श्रुतज्ञान कहे जॉय। श्रुतज्ञान परोक्ष कहा जाय। मतिज्ञान में अन्तर्भूत मति–इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष को लोकव्यवहार में प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध होने के कारण तथा वैशद्यांश का सद्भाव होने से सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाय। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये तीन मूलभेद हो।

इस वक्तव्य का यह फलितार्थ हुआ कि प्रत्यक्ष के दो भेद–१ साव्यवहारिक, २ मुख्य। साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद– १ इन्द्रियप्रत्यक्ष, २ अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणादिज्ञान। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष–शब्दयोजना से पहिले की अवस्थावाले स्मृति, सञ्ज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान। इस तरह अकलकदेव ने प्रमाण के भेद किए जो निर्विवाद रूप से उत्तरकालीन ग्रन्थकारो द्वारा माने गए। हॉ, इसमें जो स्मृति, सञ्ज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान को शब्दयोजना के पहिले अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्य ने स्वीकार नहीं किया। उन्हे सर्वांश में अर्थात् शब्दयोजना के पूर्व और पश्चात् दोनो अवस्थाओ मे परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय की 'ज्ञानमाद्य' कारिका का यह अर्थ किया है कि–'मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान शब्दयोजना के पहिले तथा शब्दयोजना के बाद दोनो अवस्थाओ में श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष है।'

यद्यपि जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यकभाष्य में प्रत्यक्ष के दो भेद करके इन्द्रियानिन्द्रियजप्रत्यक्ष को सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है, पर उन्होने स्मृति आदि ज्ञानो के विषय में कुछ खास नहीं लिखा। इन्द्रियप्रत्यक्ष को सव्यवहारप्रत्यक्ष मान लेने से लोकप्रसिद्धि का निर्वाह तथा दर्शनान्तरप्रसिद्धि का समन्वय भी हो गया और सूत्रकार का अभिप्राय भी सुरक्षित रह गया।

प्रत्यक्ष–सिद्धसेनदिवाकर ने प्रत्यक्ष का–'अपरोक्ष रूप से अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परोक्षलक्षणाश्रित लक्षण किया है। यद्यपि विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने की परम्परा बौद्धो में स्पष्ट है, फिर भी प्रत्यक्ष के लक्षण में अकलक के द्वारा विशद पद के साथ ही साथ प्रयुक्त साकार और अजसा पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पकज्ञान जैनपरम्परा में प्रसिद्ध-इन्द्रिय और पदार्थ के योग्यदेशावस्थितिरूप सन्निकर्ष के बाद उत्पन्न होने वाले,

इस स्व शक्ति को न मानकर ज्ञान को साकार मानने पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'घटज्ञान घट के ही आकार क्यों हुआ पट के आकार क्यो नहीं हुआ ?' तदुत्पत्ति से तो आकारनियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि जिस तरह घटज्ञान घट से उत्पन्न हुआ है उसी तरह इन्द्रिय, आलोक आदि पदार्थों से भी तो उत्पन्न हुआ है, अतः उनके आकार को भी उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान विषय के आकार को यदि एकदेश से ग्रहण करता है; तब तो ज्ञान सांश हो जायगा। यदि सर्वदेश से; तो ज्ञान अर्थ की तरह जड़ हो जायगा। समानकालीन पदार्थ किसी तरह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर सकते हैं पर अतीत और अनागत पदार्थों के जाननेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमानादि ज्ञान कैसे उन अविद्यमान पदार्थों के आकार हो सकते हैं ? हाँ, शक्तिप्रतिनियम मानने से अतीतादि पदार्थों का ज्ञान भली भांति हो सकता है। ज्ञान का अमुक अर्थ को विषय करना ही अन्य पदार्थ से व्यावृत्त होना है। अतः ज्ञान को निराकार मानना ही ठीक है। अमूर्त ज्ञान में मूर्त अर्थ का प्रतिबिम्ब भी कैसे आ सकता है ?

सौत्रान्तिक को ज्ञान के साकार होने का 'ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है।' यह अर्थ इष्ट था या नहीं यह तो विचारणीय है। पर विज्ञानवादी बौद्धों ने उसका खंडन यही अर्थ मानकर किया है और उसीका प्रतिबिम्ब अकलंककृत खंडन में है।

इस तरह अकलंक ने स्वार्थव्यवसायात्मक, अनधिगतार्थग्राहि, अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस लक्षण के अनधिगतार्थग्राहित्व विशेषण के सिवाय बाकी अंश सभी जैन तार्किकों ने अपनाए हैं। अनधिगतार्थग्राहित्व की परम्परा माणिक्यनन्दि तक ही चली। आ० हेमचन्द्र ने स्वनिर्णय को भी प्रमाण के व्यावर्त्तक लक्षण में नहीं रखा; क्योंकि स्वनिर्णय तो ज्ञानसामान्य का धर्म है न कि प्रमाणात्मक विशेषज्ञान का। अकलंकदेव ने जहाँ अज्ञानात्मक सन्निकर्षादि की प्रमाणता का व्यवच्छेद प्रमितिक्रिया में अव्यवहित करण न होने के कारण किया है, वहाँ ज्ञानात्मक संशय और विपर्यय का विसंवादी होने से तथा निर्विकल्पज्ञान का संव्यवहारानुपयोगी होने के कारण निरास किया है। इसी संव्यवहारानुपयोगी पद से सुषुप्त चैतन्य के समान निर्विकल्पक-दर्शन भी प्रमाणकोटि से बहिर्भूत है इसकी सूचना मिलती है।

प्रमाण के भेद—तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' इस सूत्र को लक्ष्य में रखकर ही अकलंक ने प्रमाण के दो मूल भेद किए हैं। यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के कई अवान्तर भेद मानना पड़े हैं। इसीलिए उनने 'प्रमाणे इति संग्रहः' पद देकर उस भेद के आधारभूत सूत्र की सूचना दी है। वे दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में मति (इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष), स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) इन ज्ञानों को मति से अनर्थान्तर अर्थात् मतिज्ञानरूप बताया है। मतिज्ञान का परोक्षत्व भी वहीं स्वीकृत है। अतः उक्तज्ञान जिनमें इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष भी शामिल है आग-

का योग्यदेशस्थितिरूप सम्बन्ध (सन्निकर्ष), ततः सामान्यावलोकन (निर्विकल्पक), ततः अवग्रह (सविकल्पक ज्ञान), ततः ईहा (विशेष जिज्ञासा), ततः अवाय (विशेष निश्चय), अन्त में धारणा (संस्कार)।

सामान्यावलोकन से धारणापर्यन्त ज्ञान चाहे एक ही मत्युपयोगरूप माने जॉय या पृथक् पृथक् उपयोगरूप, दोनो अवस्थाओ मे अनुस्यूत आत्मा की सत्ता तो मानना ही होगी, अन्यथा 'जो मैं देखने वाला हूँ, वही मैं अवग्रह तथा ईहादि ज्ञानवाला हूँ, वही मै धारणा करता हूँ' यह अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी दृष्टि से अकलकदेव ने दर्शन की अवग्रहरूप परिणति, अवग्रह की ईहारूप, ईहा की अवायरूप तथा अवाय की धारणारूप परिणति स्वीकार की है। अन्वित आत्मदृष्टिसे अमेद होने पर भी इन ज्ञानो में पर्याय की दृष्टिसे तो भेद है ही।

ईहा और धारणा की ज्ञानात्मकता–वैशेषिक ईहा को प्रयत्न नाम का पृथक् गुण तथा धारणा को भावनासंस्कार नामक पृथक् गुण मानते हैं। अकलंकदेव ने इन्हे एक चैतन्यात्मक उपयोग की अवस्था होने के कारण ज्ञानात्मक ही कहा है, ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र गुणरूप नहीं माना है।

अवग्रहादि का परस्पर प्रमाण-फलभाव–ज्ञान के साधकतम अंश को प्रमाण तथा प्रमित्यंश को फल कहते हैं। प्रकृत ज्ञानो मे अवग्रह ईहा के प्रति साधकतम होने से प्रमाण है, ईहा प्रमारूप होने से उसका फल है। इसी तरह ईहा की प्रमाणता में अवाय फल है तथा अवाय को प्रमाण मानने पर धारणा फलरूप होती है। तात्पर्य यह कि–पूर्वपूर्वज्ञान साधकतम होने से प्रमाण हैं तथा उत्तरोत्तरज्ञान प्रमितिरूप होने से फलरूप हैं। प्रमाणफलभाव का ऐसा ही क्रम वैशेषिकादि अन्य दर्शनो में भी पाया जाता है।

मुख्य प्रत्यक्ष–इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना होने वाले, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थों को विषय करने वाले, अक्रम ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। वह सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है। सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अमुक पदार्थों को विषय करने के कारण विकलप्रत्यक्ष हैं।

सर्वज्ञत्व विचार–प्राचीनकाल मे भारतवर्ष की परम्परा के अनुसार सर्वज्ञता का सम्बन्ध भी मोक्ष के ही साथ था। मुमुक्षुओ में विचारणीय विषय तो यह था कि–मोक्ष के मार्ग का किसने साक्षात्कार किया है? इसी मोक्षमार्ग को धर्म शब्दसे कहते हैं। अतः 'धर्म का साक्षात्कार हो सकता है या नहीं?' इस विषय में विवाद था। एक पक्ष का, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमासक हैं, कहना था कि–धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तु को हम लोग प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते, उसमें तो वेद का ही निर्बाध अधिकार है। धर्म की परिभाषा भी 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' करके धर्म में चोदना-वेद

तथा सत्तात्मक महासामान्य का आलोचन करने वाले अनाकार दर्शन के समान है। अकलंकदेव की दृष्टि में जब निर्विकल्पकदर्शन प्रमाणकोटि से ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता। इसी बात की सूचना के लिए उन्होने प्रत्यक्ष के लक्षण में साकार पद रखा, जो निराकारदर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्ष का निराकरण कर निश्चयात्मक विशद ज्ञान को ही प्रत्यक्षकोटि में रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पो को भी संव्यवहार से प्रमाण मान लेते हैं। इसका मूल यह है कि-प्रत्यक्ष के विषयभूत दृश्य-स्वलक्षण में विकल्प के विषयभूत विकल्प्य-सामान्य का आरोपरूप एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करने पर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है। अतः विकल्पज्ञान संव्यवहार से विशद है। इसका निराकरण करने के लिए अकलंकदेव ने 'अञ्जसा' पद का उपादान करके सूचित किया कि विकल्पज्ञान संव्यवहार से नहीं किन्तु अंजसा-परमार्थरूपसे विशद है।

अनुमान आदि ज्ञानो से अधिक विशेषप्रतिभास का नाम वैशद्य है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तर की अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता, यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में अतिरेक-अधिकता है।

अकलंकदेव ने इतरवादिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणों का निराकरण इस प्रकार किया है-

बौद्ध-जिसमें शब्दसंसर्ग की योग्यता नहीं है ऐसे निर्विकल्पकज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं सविकल्पज्ञान को नहीं, क्योंकि विकल्पज्ञान अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा यद्यपि अर्थ में रहने वाले क्षणिकत्वादि सभी धर्मों का अनुभव हो जाता है, पर वह नीलादि अंशो में 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान के द्वारा व्यवहारसाधक होता है, तथा क्षणिकत्वादि अंशों में यथासंभव अनुमानादि विकल्पों द्वारा। अतः निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पों का उत्पादक होने से तथा अर्थ-स्वलक्षण से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है; क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षण से उत्पन्न नहीं होता। सर्वप्रथम अर्थ से निर्विकल्प ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक में असाधारण क्षणिक परमाणुओं का प्रतिभास होता है। उस निर्विकल्पक अवस्था में कोई भी विकल्प अनुभव में नहीं आता। विकल्पज्ञान कल्पितसामान्य को विषय करने के कारण तथा निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत अर्थ को ग्रहण करने के कारण प्रत्यक्षाभास है।

अकलंकदेव इसका निराकरण इस तरह करते हैं-अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाण का अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहार में साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पज्ञान में ही है तब क्यो न उसे ही प्रमाण माना जाय? निर्विकल्पक में प्रमाणता लाने को आखिर आपको सविकल्पज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्प के द्वारा गृहीत नीलाद्यंश को विषय करने

तरह सर्वज्ञता के लिए भी यत्न करे। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहे तो थोड़े से प्रयत्न से ही सर्वज्ञ बन सकते है। शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता साधन के साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और इस सर्वज्ञता को वे शक्तिरूप से सभी वीतरागो में मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहें तब जिस किसी भी वस्तु को अनायास ही जान सकते है।

योग तथा वैशेपिक के सिद्धान्त में यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियो की तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागो के लिए अवश्य प्राप्तव्य नहीं है। हॉ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन तार्किको ने प्रारम्भ से ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयो के प्रत्यक्षदर्शन रूप अर्थ में सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्कयुग के पहिले 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'–जो एक आत्मा को जानता है वह सर्व पदार्थों को जानता है इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञता के मुख्य साधक नहीं है, पाए जाते हैं; पर तर्कयुग में इनका वैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्र आदि आचार्यों ने सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतु से सिद्ध किया है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जब दोष और आवरण का समूल क्षय हो जायगा तब ज्ञान अनायास ही अपने पूर्णरूप में प्रकट होकर सम्पूर्ण अर्थ का साक्षात्कार करेगा। बौद्धो की तरह किसी भी जैनतर्कग्रन्थ मे धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का विभाजन कर उनमे गौण-मुख्य-भाव नहीं बताया गया है। सभी जैनतार्किको ने एकस्वरसे त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों के पूर्णपरिज्ञान अर्थ में सर्वज्ञता का समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण-सर्वज्ञता के गर्भ में ही निहित मान ली गई है।

अकलंकदेव ने सर्वज्ञता तथा मुख्यप्रत्यक्ष के समर्थन के साथ ही साथ धर्मकीर्ति के उन विचारो का खूब समालोचन किया है जिनमे बुद्ध को करुणावान्, शास्ता, तायि, तथा चातुरार्यसत्य का उपदेष्टा बताया है। साथ ही सर्वज्ञाभाव के विशिष्ट समर्थक कुमारिल की युक्तियो का खडन किया है। वे लिखते हैं कि–आत्मा में सर्वपदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में मल-ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों को जानने में क्या बाधा है? यदि अतीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान न हो सके तो ज्योतिर्ग्रहो की ग्रहण आदि भविष्यद्दशाओ का जो अनागत होने से अतीन्द्रिय है, उपदेश कैसे होगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश यथार्थ देखा जाता है, अत. यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश साक्षाद्द्रष्टा माने विना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादि की सहायता के विना ही भाविराज्यलाभादि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भाविपदार्थों में संवादक तथा स्पष्ट है। जैसे प्रश्न या ईक्षणिकादिविद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष खण्डन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तब तो स्वाप तथा मूर्च्छादि अवस्थाओं में ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानने में क्या बाधा है ? सुषुप्ताद्यवस्थाओ में अनुभवसिद्ध ज्ञान का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। यदि उक्त अवस्थाओ में ज्ञान का अभाव हो तो उस समय योगियों को चतुःसत्यविषयक भावनाओं का भी विच्छेद मानना पड़ेगा।

बौद्धसम्मत विकल्प के लक्षण का निरास—बौद्ध 'अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना' अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंसर्ग के योग्य हो उस ज्ञान को कल्पना या विकल्पज्ञान कहते हैं। अकलंकदेव ने उनके इस लक्षण का खण्डन करते हुए लिखा है कि—यदि शब्द के द्वारा कहे जाने लायक ज्ञान का नाम कल्पना है तथा विना शब्दसंश्रय के कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दाशों के स्मरणात्मक विकल्प के लिए तद्वाचक अन्य शब्दो का प्रयोग मानना होगा, उन अन्यशब्दो के स्मरण के लिए भी तद्वाचक अन्यशब्द स्वीकार करना होंगें, इस तरह दूसरे दूसरे शब्दो की कल्पना करने से अनवस्था नाम का दूषण होगा। अतः जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पाता; तब विकल्पज्ञानरूप साधक के अभाव में निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप प्रमाणद्वय के अभाव में सकल प्रमेय का भी साधक प्रमाण न होने से अभाव ही प्राप्त होगा। यदि शब्द तथा शब्दाशो का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोग के विना ही हो जाय, तब तो विकल्प का अभिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा। और जिस तरह शब्द तथा शब्दाशो का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्द के प्रयोग के बिना ही हो जाता है। उसी तरह 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोग की योग्यता के विना ही हो जॉयगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियॉ शब्दप्रयोग के बिना ही नीलपीतादि पदार्थों का निश्चय करने के कारण स्वतः व्यवसायात्मक सिद्ध हो जॉयगीं। अतः विकल्प का अभिलापवत्त्व लक्षण दूषित है। विकल्प का निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधीग्रहण या निश्चयात्मकत्व।

सांख्य—श्रोत्रादि इन्द्रियो की वृत्तियो को प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं। अकलंक देव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियो की वृत्तियॉ तो तैमिरिक रोगी को होने वाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य संशयादि ज्ञानो में भी प्रयोजक होतीं है, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नहीं है।

नैयायिक—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसे भी अकलंकदेव ने सर्वज्ञ के ज्ञान में अव्याप्त बताते हुए लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थों को विषय करने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान प्रतिनियतशक्तिशाली इन्द्रियों से तो उत्पन्न नहीं हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—चार प्रकार का है—१ अवग्रह, २ ईहा, ३ अवाय, ४ धारणा। प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति का साधारण क्रम यह है कि-सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थ

प्र०—'सर्वज्ञता आगमोक्तपदार्थों का यथार्थज्ञान एवं अभ्यास से होगी तथा आगम सर्वज्ञ के द्वारा कहा जायगा' इस तरह सर्वज्ञ और आगम दोनों ही अन्योन्याश्रित—एक दूसरे के आश्रित होने से असिद्ध है।

उ०—सर्वज्ञ आगम का कारक है। प्रकृत सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम के अर्थ के आचरण से उत्पन्न होता है, पूर्व आगम तत्पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है। इस तरह बीजांकुर की तरह सर्वज्ञ और आगम की परंपरा अनादि मानी जाती है। अनादिपरम्परा में इतरेतराश्रय दोष का विचार अव्यवहार्य है।

प्र०—जब आजकल पुरुष प्रायः रागादि दोष से दूषित तथा अज्ञानी देखे जाते हैं, तब अतीतकाल में भी किसी अतीन्द्रियार्थद्रष्टा की संभावना नहीं की जा सकती और न भविष्यतकाल में ही ? क्योंकि पुरुपजाति की शक्तियाँ तीनो कालों मे प्रायः समान ही रहती हैं; वे अपनी अमुक मर्यादा नहीं लाँघ सकतीं।

उ०—यदि पुरुपातिशय को हम नहीं जान सकते तो इससे उसका अभाव नहीं होता। अन्यथा आजकल कोई वेद का पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता अतः अतीतकाल में जैमिनि को भी उसका यथार्थ ज्ञान नहीं था यह कहना चाहिये। बुद्धि में तारतम्य होने से उसके प्रकर्ष की संभावना तो है ही। जैसे मलिन सुवर्ण अग्नि के ताप से क्रमशः पूर्ण निर्मल हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास से आत्मा भी पूर्णरूपसे निर्मल हो सकता है।

प्र०—जब सर्वज्ञ रागी आत्मा के राग तथा दुःखी के दुःख का साक्षात्कार करता है तब तो वह स्वयं रागी तथा दुःखी हो जायगा।

उ०—दुःख या राग को जाननेमात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता। राग तो आत्मा का स्वय तद्रूप से परिणमन करने पर होता है। क्या कोई श्रोत्रियब्राह्मण मदिरा के रस का ज्ञान करनेमात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? राग के कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञ से अत्यन्त उच्छिन्न हो गए हैं, अतः वे राग या दुःख को जाननेमात्रसे रागी या दुःखी नहीं हो सकते।

प्र०—जब सर्वज्ञ के साधक और बाधक दोनो प्रकार के प्रमाण नहीं मिलते, तो उसकी सत्ता संदिग्ध ही कहना चाहिए।

उ०—साधक प्रमाण पहिले बता आए हैं तथा बाधकों का परिहार भी किया जा चुका है तब संदेह क्यों हो ? सर्वज्ञ के अभाव का साधन तो सर्वज्ञ हुए विना किया ही नहीं जा सकता। जब हम त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत्पुरुषो का असर्वज्ञरूप में दर्शन कर सकेंगे तभी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है। पर ऐसी असर्वज्ञता सिद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं अनायास ही सर्वज्ञ बन जायगा।

धर्मकीर्ति ने बुद्ध को करुणावान् तथा हेयोपादेय तत्त्व का उपदेष्टा कहा है। अकलंक कहते हैं कि—जब आप समस्तधर्मों के आधारभूत आत्मा को ही नहीं मानते तब किस पर

को ही प्रमाण कहा है। ऐसी धर्मज्ञता में वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने के कारण उन्हे पुरुष में अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञान का अभाव मानना पड़ा। उन्होने पुरुषों में राग द्वेष अज्ञान आदि दोषो की शंका होने से अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक वेद को पुरुषकृत न मानकर उसे अपौरुषेय स्वीकार किया। इस अपौरुषेयत्व की मान्यता से ही पुरुष में सर्वज्ञता का अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का निषेध हुआ। कुमारिल इस विषय में स्पष्ट लिखते है कि–सर्वज्ञत्व के निषेध से हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्व के निषेध से है। धर्म के सिवाय यदि कोई पुरुष ससार के समस्त अर्थों को जानना चाहता है, खुशी से जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर धर्म का ज्ञान वेद के द्वारा ही होगा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से नहीं। इस तरह धर्म को वेद के द्वारा तथा धर्मातिरिक्त अन्य पदार्थों को यथासंभव अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा जानकर कोई पुरुष यदि टोटल में सर्वज्ञ बनता है, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धो का है। ये बुद्ध को धर्म-चतुरार्यसत्य का साक्षात्कार मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्ध ने अपने निरास्रव शुद्धज्ञान के द्वारा दुःख, समुदय–दुःख के कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग–मोक्षोपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्म का प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट साक्षात्कार किया है। अतः धर्म के विषय में बुद्ध ही प्रमाण हैं। वे करुणा करके कषायज्वाला से झुलसे हुए ससारिजीवो के उद्धार की भावना से उपदेश देते हैं। इस मत के समर्थक धर्मकीर्ति ने लिखा है कि–हम 'ससार के समस्त पदार्थों का कोई पुरुष साक्षात्कार करता है कि नहीं' इस निरर्थक बात के झगडे मे नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि–उसने इष्टतत्त्व-धर्म को जाना है कि नहीं? मोक्षमार्ग मे अनुपयोगी संसार के कीड़े मकोड़ो आदि की सख्या के परिज्ञान का भला मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञता का सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञता के समर्थकों से कहते हैं कि–भाई, मीमासको के सामने सर्वज्ञता–त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थों का प्रत्यक्ष से ज्ञान–पर जोर क्यो देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञता में है कि धर्म के विषय मे धर्म के साक्षात्कर्त्ता को प्रमाण माना जाय या वेद को? उस धर्ममार्ग के साक्षात्कार के लिए धर्मकीर्ति ने आत्मा-ज्ञानप्रवाह से दोषो का अत्यन्तोच्छेद माना और उसके साधन नैरात्म्यभावना आदि बताए है। तात्पर्य यह कि–जहाँ कुमारिल ने प्रत्यक्ष से धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय मे वेद का ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया है; वहाँ धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्म-मोक्षमार्ग का साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का जोरो से समर्थन किया है।

धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त ने सुगत को धर्मज्ञ के साथ ही साथ सर्वज्ञ-त्रिकालवर्ती यावत् पदार्थों का ज्ञाता भी सिद्ध किया है। और लिखा है कि–सुगत की तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते है यदि वे अपनी साधक अवस्था में रागादिविनिर्मुक्ति की

प्रत्यभिज्ञान–दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होनेवाले, एकत्व सादृश्य वैसदृश्य प्रतियोगि तथा दूरत्वादिरूपसे संकलन करनेवाले ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान यद्यपि स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है फिर भी इन दोनो के द्वारा अगृहीत पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्व को विषय करने के कारण प्रमाण है। अविसंवादित्व भी प्रत्यभिज्ञान मे पाया जाता है जो प्रमाणता का खास प्रयोजक है।

तर्क–प्रत्यक्ष–साध्यसाधनसद्भावज्ञान और अनुपलम्भ–साध्याभाव-साधनाभावज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सर्वोपसंहाररूपसे साध्यसाधन के सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है। संक्षेप में अविनाभावरूप व्याप्ति को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। जितना भी धूम है वह कालत्रय तथा त्रिलोक मे अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अग्नि के अभाव में कहींभी कभीभी नहीं हो सकता ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से गृहीत नहीं होता। अतः अगृहीतग्राही तथा अविसंवादक तर्क को प्रमाणभूत मानना ही चाहिये। सन्निहितपदार्थ को विषय करनेवाला अविचारक प्रत्यक्ष इतने विस्तृत क्षेत्रवाले अविनाभाव को नहीं जान सकता। भले ही वह एक अमुकस्थान में साध्यसाधन के सम्बन्ध को जान सके, पर अविचारक होने से उसकी साध्यसाधनसम्बन्धविषयक विचार में सामर्थ्य ही नहीं है। अनुमान तो व्याप्तिग्रहण के बाद ही उत्पन्न होता है, अतः प्रकृत अनुमान स्वयं अपनी व्याप्ति के ग्रहण करने का प्रयत्न अन्योन्याश्रयदोष आने के कारण नहीं कर सकता; क्योंकि जब तक व्याप्ति गृहीत न हो जाय तब तक अनुमानोत्पत्ति नहीं हो सकती और जब तक अनुमान उत्पन्न न हो जाय तब तक व्याप्ति का ग्रहण असंभव है। प्रकृत अनुमान की व्याप्ति किसी दूसरे अनुमान के द्वारा ग्रहण करने पर तो अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है। इस तरह तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही उचित है।

जिनमें अविनाभाव नहीं है उनमें अविनाभाव की सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क है। जैसे विवक्षा से वचन का अविनाभाव बतलाना, क्योकि विवक्षा के अभाव में भी सुषुप्तादि अवस्था में वचनप्रयोग देखा जाता है। शास्त्रविवक्षा रहने पर भी मन्दबुद्धियो के शास्त्रव्याख्यानरूप वचन नहीं देखे जाते।

अनुमान–अविनाभावी साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। नैयायिक अनुमिति के करण को अनुमान कहते है। उनके मत से परामर्शज्ञान अनुमानरूप होता है। 'धूम अग्नि से व्याप्त है तथा वह धूम पर्वत में है' इस एकज्ञान को परामर्शज्ञान कहते हैं। बौद्ध त्रिरूपलिंग से अनुमेय के ज्ञान को अनुमान मानते हैं।

साधन का स्वरूप तथा अविनाभावग्रहणप्रकार–साध्य के साथ जिसकी अन्यथानुपपत्ति-अविनाभाव निश्चित हो उसे साधन कहते हैं। अविनाभाव (विना-साध्य के अभाव में अ-नहीं भाव-होना) साध्य के अभाव में साधन के न होने को कहते हैं।

उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान स्पष्ट भासक होता है। इस तरह साधक प्रमाणो को बताकर उन्होने जो एक खास हेतु का प्रयोग किया है, वह है–'सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं मिले। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुख का साधक प्रमाण यही है कि–मेरे सुखी होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है, अत. उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिए। इस हेतु के समर्थनार्थ उन्होंने विरोधियो के द्वारा कल्पित बाधको का निराकरण इस प्रकार किया है–

प्र०–'अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है, क्योकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे कोई भी गली में घूमने वाला साधारण मनुष्य' यह अनुमान बाधक है।

उ०–वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व का कोई विरोध नहीं है, वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। ज्ञान की बढती में वचनो का ह्रास नहीं होता।

प्र०–वक्तृत्व विवक्षा से सम्बन्ध रखता है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञ में वचनो की सभावना ही कैसे है? शब्दोच्चारण की इच्छा तो मोह की पर्याय है।

उ०–विवक्षा के साथ वक्तृत्व का कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्रविवक्षा रखते हैं, पर शास्त्र का व्याख्यान नहीं कर सकते। सुषुप्तादि अवस्थाओ में वचन देखे जाते हैं पर विवक्षा नहीं है। अतः वचनप्रवृत्ति में चैतन्य तथा इन्द्रियो की पटुता कारण है। लेकिन उनका सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचन विवक्षाहेतुक मान भी लिए जायें पर सत्य और हितकारक वचन की प्रवृत्ति कराने वाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है? इसी तरह निर्दोष वीतराग पुरुषत्व सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं रखता। अतः इन व्यभिचारी हेतुओ से साध्यसिद्धि नहीं हो सकती; अन्यथा 'जैमिनि को यथार्थ वेदज्ञान नहीं है, क्योकि वह वक्ता है एव पुरुष है' इस अनुमान से जैमिनि की वेदार्थज्ञता का भी निषेध भलीभाँति किया जा सकता है।

प्र०–आजकल हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होने से उसका अभाव ही मानना चाहिए।

उ०–पूर्वोक्त अनुमानो से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, अतः अनुपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता। यह अनुपलम्भ आपको है, या ससार के समस्त जीवो को? आपको तो इस समय हमारे चित्त में आने वाले विचारो की भी अनुपलब्धि है पर इससे उनका अभाव तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात तो सबके ज्ञानो का ज्ञान होने पर ही सिद्ध हो सकती है। और यदि किसी पुरुष को समस्त प्राणियो के ज्ञान का ज्ञान हो सके; तब तो वही पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा। यदि समस्तजीवों के ज्ञान का ज्ञान नहीं हो सके; तब तो 'सबको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है' यह बात असिद्ध ही रह जायगी।

सहचर हेतु—चन्द्रमा के इस भाग को देखकर उसके उस भाग का अनुमान, तराजू के एक पलड़े को नीचा देख कर दूसरे पलड़े के ऊँचे होने का अनुमान, रस चखकर रूप का अनुमान, तथा सास्ना देखकर गौ का अनुमान देखा जाता है। यहाँ रसादि सहचर हेतु हैं; क्योंकि इनका अपने साध्यो के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति आदि कोई सम्बन्ध नहीं होने से ये कार्य आदि हेतुओ में अन्तर्भूत नहीं हैं। हाँ, अविनाभाव मात्र होने से ये हेतु गमक होते हैं।

अनुपलब्धि—बौद्ध दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि मानते हैं। दृश्य से उनका तात्पर्य ऐसी वस्तु से है कि—जो वस्तु सूक्ष्म अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्ष का विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धि के समस्त कारण मिलने पर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्मादि पदार्थों में हम लोगो के प्रत्यक्ष आदि की निवृत्ति होने पर भी उनका अभाव तो नहीं होता। प्रमाण से प्रमेय का सद्भाव जाना जा सकता है पर प्रमाण की अप्रवृत्ति से प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता। अतः विप्रकृष्ट पदार्थों में अनुपलब्धि संशयहेतु होने से अभाव की साधिका नहीं हो सकती।

अकलंकदेव इसका निरास करते हुए लिखते हैं कि—दृश्यत्व का अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व ही न होना चाहिए किन्तु प्रमाणविषयत्व करना चाहिए। इससे यह तात्पर्य होगा कि—जो वस्तु जिस प्रमाण का विषय होकर यदि उसी प्रमाण से उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा। देखो—मृत शरीर में स्वभाव से अतीन्द्रिय परचैतन्य का अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ परचैतन्य में प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है; क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। वचन उष्णताविशेष या आकारविशेष आदि के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, अतः उन्हीं वचनादि के अभाव से चैतन्य का अभाव सिद्ध होना चाहिए। अदृश्यानुपलब्धि यदि सशय हेतु मानी जाय तो अपनी अदृश्य आत्मा की सत्ता भी कैसे सिद्ध हो सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमान के विषय हैं; यदि हम उनकी अनुमान से उपलब्धि न कर सकें तब उनका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। हाँ, जिन पिशाचादि पदार्थों को हम किसी भी प्रमाण से नहीं जान सकते उनका अभाव हम अनुपलब्धि से नहीं कर सकेंगे। तात्पर्य यह कि—जिस वस्तु को हम जिन जिन प्रमाणो से जानते हैं उस वस्तु का उन उन प्रमाणो की निवृत्ति से अभाव सिद्ध होगा।

अकलङ्क कृत हेतु के भेद—अकलंकदेव ने सद्भाव साधक ६ उपलब्धियों का वर्णन किया है—

१ स्वभावोपलब्धि—आत्मा है, उपलब्ध होने से।

२ स्वभावकार्योपलब्धि— आत्मा थी, स्मरण होने से।

३ स्वभावकारणोपलब्धि—आत्मा होगी, सत् होने से।

करुणा की जायगी तथा कौन करुणा करेगा ? कौन उसका अनुष्ठान करेगा ? ज्ञानक्षण तो परस्पर भिन्न हैं, अत भावना किसी अन्यज्ञानक्षण को होगी तो मुक्ति किसी दूसरे ज्ञानक्षण को। दु:ख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य तो तब ठीक हो सकते हैं जब दु खादि के अनुभव करनेवाले आत्मा को स्वीकार किया जाय। इस तरह जीव जिसे ससार होता है तथा जो मुक्त होता है, अजीव जिसके सम्बन्ध से दु:ख होता है, इन दो आधारभूत तत्त्वो को माने विना तत्त्वसंख्या की पूर्णता नहीं हो सकती। दु:ख को जैन लोग वन्ध तथा समुदय को आश्रव शब्द से कहते हैं। निरोध को मोक्ष तथा मार्ग को संवर और निर्जरा शब्द से कहते हैं। अतः चार आर्यसत्य के साथ जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वो को मानना ही चाहिये। जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों के अनादिकालीन सम्बन्ध से ही दु ख आदि की सृष्टि होती है। बुद्ध ने हिंसा का भी उपदेश दिया है अत' मालूम होता है कि वे यथार्थदर्शी नहीं थे। इत्यादि। सद् आत्मा को हेय कहना, निरोध को जो असद्रूप है उपादेय कहना, उसके कारणो का उपदेश देना तथा असत् की प्राप्ति के लिए यत्न करना ये सब बातें उनकी असर्वज्ञता का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त हैं। अकलङ्क के द्वारा बुद्ध के प्रति किए गए अकरुणावत्त्व आदि आक्षेपो के लिए उस समय की साम्प्रदायिक परिस्थिति ही जवाबदेह है, क्योंकि कुमारिल और धर्मकीर्ति आदि ने जैनो के ऊपर भी ऐसे ही कल्पित आक्षेप किए हैं।

परोक्ष—अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थसूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानो में मतिज्ञान मति स्मृत्यादि ज्ञानो को नामयोजना के पहिले साव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहकर नाम योजना होने पर उन्हीं ज्ञानो को श्रुतव्यपदेश दिया है और श्रुत को अस्पष्ट होने से परोक्ष कहा है। अर्थात् परोक्षज्ञान के स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध तथा श्रुत-आगम ये पॉच भेद हुए। अकलङ्कदेव ने राजवार्त्तिक मे अनुमान आदि ज्ञानो को स्वप्रतिपत्तिकाल में (नामयोजना से पहिले) अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकाल मे अक्षरश्रुत कहा है। लघीयस्त्रय में मति (इन्द्रियानिन्द्रियजप्रत्यक्ष) को नामयोजना के पहिले मतिज्ञान एव साव्यवहारिकप्रत्यक्ष तथा शब्दयोजना के बाद उसे ही श्रुत कहना उनके समन्वय करने के उत्कट यत्न की ओर ध्यान खींचता है, और इससे यह भी मालूम होता है कि लघीयस्त्रय बनाते समय वे अपनी योजना को दृढ़ नहीं कर सके थे, क्योंकि उनने लघीयस्त्रय मे मति स्मृति आदि को अवस्थाविशेष मे मतिज्ञान लिखने पर भी न्यायविनिश्चय मे स्मरणादि ज्ञानो के ऐकान्तिक श्रुतत्व-परोक्षत्व का विधान किया है।

स्मृति—स्मरण को कोई वादी गृहीतग्राही होने से तथा कोई अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण अप्रमाण कहते आए हैं। पर अकलङ्कदेव कहते हैं कि—यद्यपि स्मरण गृहीतग्राही है फिर भी अविसंवादी होने से प्रमाण ही होना चाहिये। वह अविसंवादी प्रत्यभिज्ञान का जनक भी है। स्मृति समारोप का व्यवच्छेद करने वाली है, अतः उसे प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

तरह 'अद्वैतवादी के प्रमाण है, अन्यथा इष्टसाधन और अनिष्टदूषण नहीं हो सकेगा।' इस स्थल में जब इस अनुमान के पहिले अद्वैतवादियो के यहाँ प्रमाण नामक धर्मी की सत्ता ही सिद्ध नहीं है तब पक्षधर्मत्व कैसे बन सकता है ? पर उक्त हेतुओ की स्वसाध्य के साथ अन्यथाऽनुपपत्ति (अन्यथा–साध्य के अभाव में-विपक्ष में अनुपपत्ति-असत्त्व) देखी जाती है, अतः वे सद्धेतु हैं।

धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि ने शकटोदयादि का अनुमान कराने वाले कृतिकोदयादि वैयधिकरण हेतुओ में काल या आकाश को धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटाने की युक्ति का उपयोग किया है। अकलंकदेव ने इसका भी निराकरण करते हुए कहा है कि–यदि काल आदि को धर्मी बनाकर कृतिकोदय में पक्षधर्मत्व घटाया जायगा तब तो पृथिवीरूप पक्ष की अपेक्षा से महानसगतधूमहेतु से समुद्र में भी अग्नि सिद्ध करने में हेतु अपक्षधर्म नहीं होगा।

सपक्षसत्त्व को अनावश्यक बताते हुए अकलंदेव लिखते है कि–पक्ष में साध्य और साधन की व्याप्तिरूप अन्तर्व्याप्ति के रहने पर ही हेतु सर्वत्र गमक होता है। पक्ष से बाहिर–सपक्ष में व्याप्ति ग्रहण करने रूप बहिर्व्याप्ति से कोई लाभ नहीं। क्योंकि अन्तर्व्याप्ति के असिद्ध रहने पर बहिर्व्याप्ति तो असाधक ही है। जहाँ अन्तर्व्याप्ति गृहीत है वहाँ बहिर्व्याप्ति के ग्रहण करने पर भी कुछ खास लाभ नहीं है। अतः बहिर्व्याप्ति का प्रयोजक सपक्षसत्त्वरूप भी अनावश्यक है। इस तरह अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का व्यावर्त्तक रूप मानते हुए अकलंकदेव ने स्पष्ट लिखा है कि–जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपता मानने से क्या लाभ ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता मानकर भी गमकता नहीं आ सकती। 'अन्यथानुपपन्नत्वं' यह कारिका तत्त्वसंग्रहकार के उल्लेखानुसार पात्रस्वामि की मालूम होती है। यही कारिका अकलंक ने न्यायविनिश्चय के त्रिलक्षण-खण्डनप्रकरण में लिखी है।

हेत्वाभास–नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक एक रूप के अभाव में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास मानते हैं। बौद्ध ने हेतु को त्रिरूप माना है, अतः उनके मत से पक्षधर्मत्व के अभाव से असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्त्व के अभाव से विरुद्ध हेत्वाभास तथा विपक्षासत्त्व के अभाव से अनैकान्तिक हेत्वाभास, इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं। अकलंकदेव ने जब अन्यथानुपपन्नत्व को ही हेतु का एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावतः इनके मत से अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में एक ही हेत्वाभास माना जायगा, जिसे उन्होने स्वयं लिखा है कि–वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। अन्यथानुपपत्ति का अभाव कई प्रकार से होता है अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर के भेद से चार हेत्वाभास भी हो सकते है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं–

यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से उत्पन्न होनेवाले तर्क नाम के प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है। बौद्ध पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपवाले साधन को सत्साधन कहते हैं। वे सामान्य से अविनाभाव को ही साधन का स्वरूप मानते हैं। त्रिरूप तो अविनाभाव के परिचायक मात्र हैं। वे तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धो से अविनाभाव का ग्रहण मानते हैं। उनके मत से हेतु के तीन भेद हैं—१ स्वभावहेतु, २ कार्यहेतु, ३ अनुपलब्धिहेतु। स्वभाव और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक। स्वभावहेतु में तादात्म्यसम्बन्ध, कार्यहेतु मे तदुत्पत्तिसम्बन्ध तथा अनुपलब्धिहेतु में यथासभव दोनो सम्बन्ध अविनाभाव के प्रयोजक होते हैं।

अकलकदेव इसका निरास करते हैं कि—जहॉ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध से हेतु में गमकत्व देखा जाता है वहॉ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वह अविनाभाव तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिप्रयुक्त हो, पर बहुतसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है फिर भी अविनाभाव के कारण वे नियत साध्य का ज्ञान कराते हैं। जैसे कृतिकोदय से भविष्यत् शकटोदय का अनुमान। यहा कृतिकोदय का शकटोदय के साथ न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही। हेतुओं के तीन भेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योकि स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि के सिवाय कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु भी स्वनियतसाध्य का अनुमान कराते हैं।

कारणहेतु—वृक्ष से छाया का ज्ञान, चन्द्रमा से जल में पड़नेवाले उसीके प्रतिबिम्ब का अबाधित अनुमान होता है। यहॉ वृक्ष या चन्द्र न तो छाया या जलप्रतिबिम्बित चन्द्र के कार्य हैं और न स्वभाव ही। हॉ, निमित्तकारण अवश्य हैं। अतः कारणलिंग से भी कार्य का अनुमान मानना चाहिये। जिस कारण की सामर्थ्य अप्रतिबद्ध हो तथा जिसमें अन्य कारणो की विकलता न हो वह कारण अवश्य ही कार्योत्पादक होता है।

पूर्वचरहेतु—कृतिका नक्षत्र का उदय देखकर एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र के उदय का अनुमान देखा जाता है। अब विचार कीजिए कि—कृतिका का उदय जिससे रोहिणी के उदय का अविसवादी अनुमान होता है, किस हेतु मे शामिल किया जाय ? कृतिकोदय तथा रोहिण्युदय में कालभेद होने से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः स्वभावहेतु में अन्तर्भाव नहीं होगा। तथा एक दूसरे के प्रति कार्यकारणभाव नहीं है अतः कार्य या कारणहेतु मे उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वचरहेतु अतिरिक्त ही मानना चाहिए। इसी तरह आज सूर्योदय देखकर कल सूर्योदय होगा, चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि भविष्यद्विषयो का अनुमान अमुक अविनाभावी पूर्वचर हेतुओ से होता है।

उत्तरचर हेतु—कृतिका का उदय देखकर एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका यह अनुमान होता है। यह उत्तरचर हेतु पूर्वोक्त किसी हेतु में अन्तर्भूत नहीं होता।

हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि वे सामान्य से हेत्वाभासो की अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास होनेपर उनका भार नहीं था। यही कारण है कि आ० माणिक्यनन्दि ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि–इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का विचार हेत्वाभास के लक्षणकाल में ही करना चाहिए। शास्त्रार्थ के समय तो इसका कार्य पक्षदोष से ही किया जा सकता है। आचार्य विद्यानन्द ने भी सामान्य से एक हेत्वाभास कह कर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक को उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के ऊपर भार नहीं दिया। वादिदेवसूरि आदि उत्तरकालीन आचार्यो ने असिद्धादि तीन ही हेत्वाभास गिनाए हैं।

साध्य–आ० दिग्नाग ने पक्ष के लक्षण में ईप्सित तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध ये दो विशेषण दिए है। धर्मकीर्ति ईप्सित की जगह इष्ट तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध के स्थान मे प्रत्याक्षाद्यनिराकृत शब्द का प्रयोग करते हैं। अकलकदेव ने अपने साध्य के लक्षण मे शक्य (अबाधित) अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध इन तीन विशेपणो का प्रयोग किया है। असिद्ध विशेषण तो 'साध्य' शब्द के अर्थ से ही फलित होता है। साध्य का अर्थ है–सिद्ध करने योग्य, अर्थात् असिद्ध। शक्य और अभिप्रेत विशेपण बौद्धाचार्यों के द्वारा किए गए साध्य के लक्षण मे आए है। साध्य का यह लक्षण निर्विवादरूप से माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। सिद्ध, अनिष्ट तथा बाधित को साध्याभास कहा है।

दृष्टान्त–जहॉ साध्य और साधन के सम्बन्ध का ज्ञान होता है उस प्रदेश का नाम दृष्टान्त है। साध्यविकल तथा साधनविकलादिक दृष्टान्ताभास हैं। इस तरह दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास का लक्षण करने पर भी अकलंकदेव ने दृष्टान्त को अनुमान का अवयव स्वीकार नहीं किया। उनने लिखा है कि–सभी अनुमानो में दृष्टान्त होना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है, दृष्टान्त के विना भी साध्य की सिद्धि देखी जाती है, जैसे बौद्ध के मत से समस्त पदार्थों को क्षणिकत्व सिद्ध करने में सत्त्व हेतु के प्रयोग में कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः दृष्टान्त अनुमान का नियत अवयव नहीं है। इसीलिए उत्तरकालीन कुमारनन्दि आदि आचार्यो ने प्रतिज्ञा और हेतु इन दो को ही अनुमान का अवयव माना है। हॉ, मन्दबुद्धि शिष्यो की दृष्टि से दृष्टान्त, उपनय तथा निगमनादि भी उपयोगी हो सकते हैं।

धर्मी–बौद्ध अनुमान का विपय कल्पित सामान्य मानते है, क्षणिक स्वलक्षण नहीं। आ० दिग्नाग ने कहा है कि–समस्त अनुमान-अनुमेयव्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मिन्याय से चलता है, किसी धर्मी की वास्तविक सत्ता नहीं है। अकलंकदेव कहते हैं कि–जिस तरह प्रत्यक्ष परपदार्थ तथा स्वरूप को विषय करता है उसी तरह अनुमान भी वस्तुभूत अर्थ को ही विषय करता है। हॉं, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष उस वस्तु को स्फुट तथा विशेषाकार रूप से ग्रहण करे और अनुमान उसे अस्फुट एव सामान्याकार

४ सहचरोपलब्धि–आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीर मे उष्णता विशेष) पाया जाने से।

५ सहचरकार्योपलब्धि–कायव्यापार हो रहा है, वचनप्रवृत्ति होने से।

६ सहचरकारणोपलब्धि–आत्मा सप्रदेशी है, सावयवशरीर के प्रमाण होने से।

असद्व्यवहारसाधन के लिए ६ अनुपलब्धियाँ बताई हैं–

१ स्वभावानुपलब्धि–क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होने से।

२ कार्यानुपलब्धि–क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता।

३ कारणानुपलब्धि–क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता।

४ स्वभावसहचरानुपलब्धि–आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीर मे आकारविशेष) नहीं पाया जाता।

५ सहचरकार्यानुपलब्धि–आत्मा नहीं है, व्यापार, आकारविशेष तथा वचनविशेष की अनुपलब्धि होने से।

६ सहचरकारणानुपलब्धि–आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता। सजीव शरीर ही स्वय आहार ग्रहण करता है।

सद्व्यवहार के निषेध के लिए ३ उपलब्धियाँ बताई हैं–

१ स्वभावविरुद्धोपलब्धि–पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होने से।

२ कार्यविरुद्धोपलब्धि–लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसवादी होने से। (?)

३ कारणविरुद्धोपलब्धि–इस व्यक्ति को परीक्षा का फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योकि इसने अभावैकान्त का ग्रहण किया है।

इस तरह सद्भावसाधक ९ उपलब्धियाँ तथा अभावसाधक ६ अनुपलब्धियो को कण्ठोक्त कहकर इनके और अन्य अनुपलब्धियो के भेदप्रभेदो का इन्हीं मे अन्तर्भाव किया है। साथ ही यह भी बताया है कि–धर्मकीर्ति के कथनानुसार अनुपलब्धियाँ केवल अभाव साधक ही नहीं हैं, किन्तु भावसाधक भी होती है। इसी सकेत के अनुसार माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द तथा वादिदेवसूरि ने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनो को उभय-साधक मानकर उनके अनेको भेदप्रभेद किए हैं।

त्रैरूप्य निरास–बौद्ध हेतु के तीन रूप मानता है। प्रत्येक सत्य हेतु में निम्न त्रिरूपता अवश्य ही पाई जानी चाहिए, अन्यथा वह सद्धेतु नहीं हो सकता। १ पक्ष-धर्मत्व–हेतु का पक्ष में रहना। २ सपक्षसत्त्व–हेतु का समस्त सपक्षों में या कुछ सपक्षो में रहना। ३ विपक्षासत्त्व–हेतु का विपक्ष में बिलकुल नहीं पाया जाना। अकलङ्कदेव इनमें से तीसरे विपक्षासत्त्व रूप को ही सद्धेतुत्व का नियामक मानते हैं। उनकी दृष्टि से हेतु का पक्ष में रहना तथा सपक्षसत्त्व कोई आवश्यक नहीं है। वे लिखते हैं कि–'शकटोदय होगा, कृत्तिकोदय होने से' 'भरणी का उदय हो चुका, कृत्तिका का उदय होने से' इन अनुमानो में कृत्तिकोदय हेतु पक्षभूत शकट तथा भरणि में नहीं पाया जाता। इसी

अत. वे वाद को ही एक मात्र कथा रूप से स्वीकार करते हैं। उनने वाद का संक्षेप में 'समर्थवचन को वाद कहते हैं' यह लक्षण करके कहा है कि वादि-प्रतिवादियों का मध्यस्थों के सामने स्वपक्षसाधन-परपक्षदूषणवचन को वाद कहना चाहिए। इस तरह वाद और जल्प को एक मान लेने पर वे यथेच्छ कहीं वाद शब्द का प्रयोग करते हैं तो कहीं जल्प शब्द का। वितण्डा को जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन ही खण्डन करता है, वादाभास कहकर त्याज्य बताया है।

जयपराजयव्यवस्था—नैयायिक ने इसके लिए प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने हैं। जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञा की हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद-वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और परिषद् न समझ पावे, हेतुदृष्टान्तादि का क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून कहे जाँय, अधिक अवयव कहे जाँय, पुनरुक्त हो, प्रतिवादी वादीकेद्वारा कहे गए पक्ष का अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, वादी के द्वारा दिए गए दूषण को अर्धस्वीकार कर खडन करे, निग्रहार्ह के लिए निग्रहस्थान उद्भावन न कर सके, अनिग्रहार्ह को निग्रहस्थान बता देवे, सिद्धान्तविरुद्ध बोल जावे, हेत्वाभासों का प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। सामान्य से नैयायिकों ने विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान माना है। विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना। अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, स्थापित का प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्ध का उद्धार नहीं करना। प्रतिज्ञाहान्यादि २२ तो इन्हीं दोनो के ही विशेष प्रकार है।

धर्मकीर्ति ने इनका खडन करते हुए लिखा है कि—जयपराजयव्यवस्था को इस तरह गुटाले में नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादी का मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या अमुक कायदे का पालन नहीं कर सका, सत्य और अहिंसा की दृष्टि से उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन, ये दो ही निग्रहस्थान मानना चाहिये। वादी का कर्त्तव्य है कि वह सच्चा और पूर्ण साधन बोले। प्रतिवादी का कार्य है कि वह यथार्थ दोषो का उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधन के अग नहीं है ऐसे वचन कहता है तो उसका असाधनागवचन होने से पराजय होना चाहिए। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषों का उद्भावन न कर सके या जो दोष नहीं है उनका उद्भावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह सामान्यलक्षण करने पर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपले में पड़ गए। उन्होने असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन के विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्त में से केवल एक दृष्टान्त से ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तो दोनों दृष्टान्तो का प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमनादि साधन के अग नहीं है, उनका कथन असाध-

१ असिद्ध–सर्वथात्ययात्–सर्वथा पक्ष में न पाया जानेवाला, अथवा सर्वथा जिसका साध्य से अविनाभाव न हो। जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से।

२ विरुद्ध–अन्यथाभावात्–साध्याभाव में पाया जानेवाला, जैसे सब क्षणिक हैं, सत् होने से। सत्त्वहेतु सर्वथाक्षणिकत्व के विपक्षभूत कथञ्चित्क्षणिकत्व में पाया जाता है।

३ अनैकान्तिक–विपक्ष मे भी पाया जाने वाला। जैसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त वक्तृत्वादिहेतु। यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धनैकान्तिक आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है।

४ अकिञ्चित्कर–सिद्ध साध्य में प्रयुक्त हेतु। अन्यथानुपपत्ति से रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं उन सब को भी अकिञ्चित्कर समझना चाहिए।

दिग्नागाचार्य ने विरुद्धाव्यभिचारी नाम का भी एक हेत्वाभास माना है। परस्पर विरोधी दो हेतुओं का एक धर्मी में प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यह संशयहेतु होने से हेत्वाभास है। धर्मकीर्ति ने इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे लिखते हैं कि–प्रमाणसिद्धत्रैरूप्यवाले हेतु के प्रयोग होने पर विरोधी हेतु को अवसर ही नहीं मिल सकता। अतः इसकी आगमाश्रितहेतु के विषय में प्रवृत्ति मानकर आचार्य के वचन की संगति लगा लेनी चाहिए, क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थविषय में प्रवृत्ति करता है। शास्त्रकार एक ही वस्तु को परस्पर विरोधी रूप से कहते हैं, अतः आगमाश्रित हेतुओं में ही यह संभव हो सकता है। अकलङ्कदेव ने इस हेत्वाभास का विरुद्धहेत्वाभास मे अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्ध का अव्यभिचारी-विपक्ष में भी रहने वाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमा में आयगा।

अर्चटकृत हेतुबिन्दुविवरण में एक षड्लक्षण हेतु माननेवाले मत का कथन है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये छह लक्षण हैं। इनमें ज्ञातत्व नाम के रूप का निर्देश होने से इस वादी के मत से 'अज्ञात' नाम का भी हेत्वाभास फलित होता है। अकलंकदेव ने इस 'अज्ञात' हेत्वाभास का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास मे अन्तर्भाव किया है। नैयायिकोक्त पाँच हेत्वाभासों मे कालात्ययापदिष्ट का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में, तथा प्रकरणसम का जो दिग्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी जैसा है, विरुद्धहेत्वाभास में अन्तर्भाव समझना चाहिए। इस तरह अकलङ्कदेव ने सामान्य रूप से एक हेत्वाभास कह कर भी विशेषरूपसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासो का कथन किया है।

अकलङ्कदेव का अभिप्राय अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने के विषय में सुदृढ़ नहीं मालूम होता। क्योंकि वे लिखते हैं कि–सामान्य से एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध के भेद से अनेक प्रकार का है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्कर के विस्तार हैं। फिर लिखते हैं कि–अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण

सकता है। एक प्रत्यक्ष से तो उभय का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष अर्थ को विषय नहीं करता तथा चाक्षुषादिप्रत्यक्ष शब्द को विषय नहीं करते। स्मृति तो निर्विषय एव गृहीतग्राही होने से प्रमाण ही नहीं है। इसलिए शब्द अर्थ का वाचक न होकर विवक्षा का सूचन करता है। शब्द का वाच्य अर्थ न होकर कल्पित-बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहरूप सामान्य है। इस लिए शब्द से होनेवाले ज्ञान में सत्यार्थता का कोई नियम नहीं है।

अकलंकदेव इसका समालोचन करते हुए कहते हैं कि-पदार्थ में कुछ धर्म सदृश तथा कुछ धर्म विसदृश होते हैं। सदृश धर्मों की अपेक्षा से शब्द का अर्थ में संकेत होता है। जिस शब्द में संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वह व्यवहारकाल तक नहीं पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्द से अर्थबोध होने मे क्या बाधा है? एक घटशब्द का एक घट अर्थ में संकेत ग्रहण करने के बाद तत्सदृश यावद् घटो में तत्सदृश यावद् घट-शब्दों की प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्य में संकेत नहीं होता; क्योंकि केवल सामान्य में संकेत ग्रहण करने से विशेष में प्रवृत्ति रूप फल नहीं हो सकेगा। न केवल विशेष में; अनन्त विशेषो में संकेत ग्रहण की शक्ति अस्मदादि पामर जनों में नहीं है। अतः सामान्य-विशेषात्मक-सदृशधर्मविशिष्ट शब्द और अर्थव्यक्ति में संकेत ग्रहण किया जाता है। संकेत ग्रहण के अनन्तर शब्दार्थ का स्मरण करके व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीतार्थ को जान कर भी प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। प्रत्यक्षबुद्धि में अर्थ कारण है, अतः वह एक क्षण पहिले रहता है ज्ञानकाल में नहीं। ज्ञानकाल में तो वह क्षणिक होने से नष्ट हो जाता है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृति में है ही, तब शब्द सुनकर स्मृति के द्वारा अर्थबोध करके तथा अर्थ देखकर स्मृति के द्वारा तद्वाचक शब्द का स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता ही है। यह अवश्य है कि-सामान्य-विशेषात्मक अर्थ को विषय करने पर भी अक्षज्ञान स्पष्ट तथा शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे एक ही वृक्ष को विषय करनेवाला दूरवर्ती पुरुष का ज्ञान अस्पष्ट तथा समीपवर्ती का स्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदप्रयुक्त नहीं है, किंतु आवरणक्षयोप-शमादिसामग्रीप्रयुक्त है। जिस प्रकार अविनाभावसम्बन्ध से अर्थ का बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होने से प्रमाण है उसी तरह वाच्यवाचकसम्बन्ध से अर्थ का ज्ञान करानेवाला शब्दबोध भी ही प्रमाण होना चाहिए। यदि शब्द बाह्यार्थ में प्रमाण न हो; तब बौद्ध स्वयं शब्दो से अदृष्ट नदी, देश, पर्वतादि का अविसंवादि ज्ञान कैसे करते है? यदि कोई एकाध शब्द अर्थ की गैरमोजूदगी में प्रयुक्त होने से व्यभिचारी देखा गया तो मात्र इतने से सभी शब्दो को व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं कहीं भ्रान्त देखे जाने पर भी अभ्रान्त या अव्यभिचारि विशेषणो से युक्त होकर प्रमाण हैं उसी तरह अभ्रान्त शब्द को बाह्यार्थ में प्रमाण मानना चाहिए। यदि हेतुवादरूप शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय न हो; तो

रूप से। पर इतने मात्र से एक वस्तुविषयक और दूसरा अवस्तु को विषय करनेवाला नहीं कहा जा सकता। जिस विकल्पज्ञान से आप धर्मधर्मिभाव की कल्पना करते हैं, वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पक से तो सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि निर्विकल्पक–निश्चयशून्यज्ञान से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। विकल्पान्तर से सिद्धि मानने मे अनवस्था दूषण आता है। अत: विकल्प को स्व और अर्थ दोनो ही अशो में प्रमाण मानना चाहिए। जब विकल्प अर्थांश मे प्रमाण हो जायगा; तब ही उसके द्वारा विषय किए गए धर्मी आदि भी सत्य एव परमार्थ सिद्ध होगे। यदि धर्मी ही मिथ्या है; तब तो उसमें रहने वाले साध्य-साधन भी मिथ्या एव कल्पित ठहरेंगे। इस तरह परम्परा से भी अनुमान के द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अत. धर्मी को प्रमाणसिद्ध मानना चाहिए केवल विकल्पसिद्ध नहीं। अकलकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दि ने इसी आशय से परीक्षामुखसूत्र में धर्मी के तीन भेद किए है–१ प्रमाणसिद्ध, २ विकल्पसिद्ध, ३ उभयसिद्ध।

अनुमान के भेद–न्यायसूत्र मे अनुमान के तीन भेद किए हैं–पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। साख्यतत्त्वकौमुदी में अनुमान के दो भेद पाए जाते हैं–एक वीत और दूसरा अवीत। वीत अनुमान के दो भेद–१ पूर्ववत्, २ सामान्यतोदृष्ट। साख्य के इन भेदो की परम्परा वस्तुत. प्राचीन है। वैशेषिक ने अनुमान के कार्यलिंगज, कारण-लिंगज, सयोगिलिंगज, विरोधिलिंगज और समवायिलिंगज, इस तरह पॉच भेद किए हैं। अकलकदेव तो सामान्यरूप से एक ही अन्यथानुपपत्तिलिंगज अनुमान मानते हैं। वे इन अपूर्ण भेदो की परिगणना को महत्त्व नहीं देते।

वाद–नैयायिक कथा के तीन भेद मानते हैं–१ वाद, २ जल्प, ३ वितण्डा। वीतरागकथा का नाम वाद है तथा विजिगीषुकथा का नाम जल्प और वितण्डा है। पक्ष-प्रतिपक्ष तो दोनो कथाओ में ग्रहण किए ही जाते हैं। हॉ, इतना अन्तर है कि–वाद मे स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्क के द्वारा होते हैं, जब कि जल्प और वितण्डा मे छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरो से भी किए जा सकते हैं। नैयायिक ने छलादि के प्रयोग को असदुत्तर माना है और साधारण अवस्था में उनके प्रयोग का निषेध भी किया है। वाद का प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है। जल्प और वितण्डा का प्रयोजन है तत्त्वसरक्षण, जो छलजातिरूप असदुपायो से भी किया जा सकता है। जैसे खेत की रक्षा के लिए काटो की बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वसरक्षण के लिए काटे के समान छलादि के प्रयोग का अवलम्बन अमुक अवस्था में ठीक है। आ० धर्मकीर्ति ने अपने वादन्याय में छलादि के प्रयोग को बिलकुल अन्याय्य बताया है। उसी तरह अकलकदेव अहिंसा की दृष्टि से किसी भी हालत में छलादि रूप असदुत्तर के प्रयोग को उचित नहीं समझते। छलादि को अन्याय्य मान लेने से जल्प और वाद में कोई भेद ही नहीं रह जाता।

आदि पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जॉयेंगे। शब्द की उपादानभूत शब्दवर्गणाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी तरह शब्द की उत्तर-पर्याय भी सूक्ष्म होने से अनुपलब्ध रहती है। क्रम से उच्चरित शब्दों में ही पद, वाक्य आदि सञ्ज्ञाएँ होती हैं। यद्यपि शब्द सभी दिशाओं में उत्पन्न होते है पर उनमें से जो शब्द श्रोत्र के साथ सन्निकृष्ट होते हैं वही श्रोत्र के द्वारा सुने जाते है, अन्य नहीं। श्रोत्र को प्राप्यकारी कहकर अकलंकदेव ने बौद्ध के 'श्रोत्र को भी चक्षुरिन्द्रिय की तरह अप्राप्यकारी मानने के' सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसतरह शब्द ताल्वादि के संयोग से उत्पन्न होता है और वह श्रावणमध्यस्वभाव है। इसीमें इच्छानुसार संकेत करने से अर्थबोध होता है।

वेदापौरुषेयत्व विचार—मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि धर्म में वेदवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं। चूँकि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय पुण्यपापादि पदार्थों के ज्ञान की संभावना नहीं है, अतः अतीन्द्रिय धर्मादि का प्रतिपादक वेद किसी पुरुष की कृति नहीं हो सकता। आज तक उसके कर्त्ता का स्मरण भी तो नहीं है। यदि कर्त्ता होता तो अवश्य ही उसका स्मरण होना चाहिए था। अतः वेद अपौरुषेय तथा अनादि है। अकलंकदेव ने श्रुत को परमात्मप्रतिपादित बताते हुए कहा है कि—जब आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके प्रतिबन्धक कर्म हट सकते हैं, तब उसे अतीन्द्रियादि पदार्थों के जानने में क्या बाधा है? यदि ज्ञान में अतिशय असम्भव ही हो; तो जैमिनि आदि को वेदार्थ का पूर्ण परिज्ञान कैसे संभव होगा? सर्वत्र प्रमाणता कारणगुणो के ही आधीन देखी जाती है। शब्द में प्रमाणता का लानेवाला वक्ता का गुण है। यदि वेद अपौरुषेय है; तब तो उसकी प्रमाणता ही सन्दिग्ध रहेगी। जब अतीन्द्रियदर्शी एक भी पुरुष नहीं है; तब वेद का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है? परम्परा तो मिथ्यार्थ की भी चल सकती है। यदि समस्तार्थज्ञान में शंका की जाती है; तब चंचल-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणो में कैसे विश्वास किया जा सकता है? यदि अपौरुषेय वेद अपने अर्थ का स्वतः विवरण करे, तब तो वेद के अंगभूत आयुर्वेद आदि के परिज्ञानार्थ मनुष्यो का पठन-पाठनरूप प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा। अतः सामग्री के गुण-दोष से ही प्रमाणता और अप्रमाणता का सम्बन्ध मानना चाहिए। शब्द की प्रमाणता के लिए वक्ता का सम्यग्ज्ञान ही एकमात्र अंकुश हो सकता है। जब वेद का कोई अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नियामक नहीं है, तब उसके अर्थ में अन्ध-परम्परा ही हुई। आज तक अनादि काल बीत चुका, ऐसा अनाप्त वेद नष्ट क्यो नहीं हुआ? अनादि मानने से या कर्त्ता का स्मरण न होने से ही तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता; क्योकि लोक में बहुतसे ऐसे म्लेच्छादिव्यवहार या गाली गलौज आदि पाए जाते हैं, जिनके कर्त्ता का आज तक किसी को स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण तो नहीं माने जा सकते। इसलिए वेद के अर्थ में यथार्थता का नियामक अती-

नाङ्ग है। यह सब लिखकर अन्त मे उनने यह भी सूचन किया है कि—स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण जयलाभ के लिए आवश्यक है।

अकलंकदेव असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन के झगड़े को भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाङ्ग माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं यह निर्णय स्वय एक शास्त्रार्थ का विषय हो जाता है। अत. स्वपक्षसिद्धि से ही जय-व्यवस्था माननी चाहिए। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाय तो कुछ हानि नहीं। प्रतिवादी यदि विरुद्ध हेत्वाभास का उद्भावन करता है तो फिर उसे स्वतन्त्र रूप से पक्षसिद्धि की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वादी के हेतु को विरुद्ध कहने मे प्रतिवादी का पक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। हॉ, असिद्ध आदि हेत्वाभासो के उद्भावन करने पर प्रतिवादी को अपना पक्ष भी सिद्ध करना चाहिए। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थ के नियमो के अनुसार चलने पर भी जय का भागी नहीं हो सकता।

जाति—मिथ्या उत्तरो को जाति कहते हैं। जैसे धर्मकीर्ति का अनेकान्त के रहस्य को न समझकर यह कहना कि—"यदि सभी वस्तुऍ द्रव्यदृष्टिसे एक हैं तो द्रव्यदृष्टि से तो दही और ऊँट भी एक हो गया। अत दही खानेवाला ऊँट को भी क्यो नहीं खाता?" साधर्म्यादिसम जातियो को अकलंकदेव कोई खास महत्त्व नहीं देते और न उनकी आवश्यकता ही समझते हैं। आ० दिग्नाग की तरह अकलंकदेवने भी असदुत्तरो को अनन्त कहकर जातियो की २४ संख्या भी अपूर्ण सूचित की है।

श्रुत—समस्त एकान्त प्रवादो के अगोचर, प्रमाणसिद्ध, परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन श्रुत है। श्रुत द्वीप, देश, नदी आदि व्यवहित अर्थो मे प्रमाण है। हेतुवादरूप आगम युक्तिसिद्ध है। उसमे प्रमाणता होने से शेष अहेतुवाद आगम भी उसी तरह प्रमाण है। आगम की प्रमाणता का प्रयोजक आप्तोक्तत्व नाम का गुण होता है।

शब्द का अर्थवाचकत्व—बौद्ध शब्द का वाच्य अर्थ नहीं मानते। वे कहते हैं कि शब्द की प्रवृत्ति सकेत से होती है। स्वलक्षण क्षणक्षयी तथा अनन्त हैं। जब अनन्त स्वलक्षणो का ग्रहण भी सभव नहीं है तब संकेत कैसे ग्रहण किया जायगा? ग्रहण करने पर भी व्यवहार काल तक उसकी अनुवृत्ति न होने से व्यवहार कैसे होगा? शब्द अतीतानागतकालीन अर्थो मे भी प्रयुक्त होते हैं, पर वे अर्थ विद्यमान तो नहीं हैं। अत. शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धि का प्रतिभास इन्द्रियबुद्धि की तरह स्पष्ट होना चाहिए। शब्दबुद्धि मे यदि अर्थ कारण नहीं है तब वह उसका विषय कैसे हो सकेगा? क्योंकि जो ज्ञान मे कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता। यदि अर्थ शब्दज्ञान मे कारण हो; तो फिर कोई भी शब्द विसवादी या अप्रमाण नहीं होगा, तथा अतीतानागत अर्थों मे शब्द की प्रवृत्ति ही रुक जायगी। सकेत भी शब्द और अर्थ उभय का ज्ञान होने पर ही हो

का गृहीत होना या न होना प्रमाणान्तरता का प्रयोजक नहीं हो सकता। संभव नामका प्रमाण यदि अविनाभावप्रयुक्त है; तो उसका अनुमान में अन्तर्भाव होगा। यदि अविनाभावप्रयुक्त नहीं है; तब तो यह प्रमाण ही नहीं हो सकता। ऐतिह्य नामका प्रमाण यदि आप्तोपदेशमूलक है, तो आगमनामक प्रमाण में अन्तर्भूत होगा। यदि आप्तमूलत्व सन्दिग्ध है; तो वह प्रमाणकोटि मे नहीं आ सकता। अभाव नामका प्रमाण यथासंभव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमानादि प्रमाणो में अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह परपरिकल्पित प्रमाणो का अन्तर्भाव होने पर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही मूल प्रमाण हो सकते है।

प्रमाणाभास—अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है, अतः विसंवादि ज्ञान प्रमाणाभास होगा। यहाँ अकलङ्कदेव की एक दृष्टि विशेषरूपसे विचारणीय है। वे किसी ज्ञान को सर्वथा विसंवादि नहीं कहते। वे कहते है कि—जो ज्ञान जिस अंश में अविसंवादि हो वह उस अंश में प्रमाण तथा विसंवादि-अंश में अप्रमाण होगा। हम किसी भी ज्ञान को एकान्त से प्रमाणाभास नहीं कह सकते। जैसे तिमिररोगी का द्विचन्द्रज्ञान चन्द्रांश में अविसंवादी है तथा द्वित्वसंख्या में विसंवादी है, अतः इसे चन्द्रांश मे प्रत्यक्ष तथा द्वित्वांश में प्रत्यक्षाभास कहना चाहिए। इस तरह प्रमाण और प्रमाणाभास की सकीर्ण स्थिति रहने पर भी जहाँ अविसंवाद की प्रकर्षता हो वहाँ प्रमाण व्यपदेश तथा विसंवाद के प्रकर्ष मे प्रमाणाभास व्यपदेश करना चाहिए। जैसे कस्तूरी में रूप, रस आदि सभी गुण मौजूद हैं, पर गन्ध की प्रकर्षता होनेके कारण उसमें 'गन्धद्रव्य' व्यपदेश होता है।

ज्ञान के कारणों का विचार—बौद्ध के मत से चार प्रत्ययो से चित्त और चैत्तो की उत्पत्ति होती है—१ समनन्तरप्रत्यय, २ अधिपतिप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय, ४ सहकारिप्रत्यय। ज्ञान की उत्पत्ति में पूर्वज्ञान समनन्तरकारण होता है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपतिप्रत्यय होती है, पदार्थ आलम्बनप्रत्यय तथा आलोक आदि अन्य कारण सहकारिप्रत्यय होते हैं। इस तरह बौद्ध की दृष्टि से ज्ञान के प्रति अर्थ तथा आलोक दोनो ही कारण हैं। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि—'नाकारण विषयः' अर्थात् जो ज्ञान का कारण नहीं होगा वह ज्ञान का विषय भी नहीं होगा। नैयायिकादि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ज्ञान में कारण मानते है अतः उनके मत से सन्निकर्ष-घटकतया अर्थ भी ज्ञान का कारण है ही।

अर्थकारणतानिरास—ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हो सकता; क्योकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अमुक अर्थ है'। वह यह नहीं जानता कि 'मै इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ'। यदि ज्ञान यह जानने लगे कि 'मै इस अर्थ से पैदा हुआ हूँ'; तब तो विवाद को स्थान ही नहीं रहता। जब उत्पन्न ज्ञान अर्थ के परिच्छेद में व्यापार करता है तब वह अपने अन्य इन्द्रियादि उत्पादक कारणों की सूचना स्वयं ही करता है, क्योकि यदि ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न हो जिसे वह जानता है, तब तो वह उस अर्थको जान ही

साधन और साधनाभास की व्यवस्था कैसे होगी ? इसी तरह आप्त के वचन के द्वारा अर्थबोध न हो तो आप्त और अनाप्त की व्यवस्था कैसे की जायगी ? यदि पुरुषो के अभिप्रायो मे विचित्रता होने के कारण शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जॉय, तो सुगत की सर्वज्ञता या सर्वशास्तृता मे कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? वहॉ भी अभिप्रायवैचित्र्य की शका उठ सकती है। यदि अर्थव्यभिचार देखा जाने के कारण शब्द अर्थ मे प्रमाण नहीं है; तो विवक्षा का भी तो व्यभिचार देखा जाता है, अन्य शब्द की विवक्षा मे अन्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। इस तरह तो शिशपात्व हेतु वृक्षाविसंवादी होने पर कहीं कहीं शिशपा की लता की सभावना से, अग्नि इन्धन से पैदा होती है पर कहीं मणि आदि से उत्पन्न होने के कारण सभी स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु व्यभिचारी हो जॉयगे। अतः जैसे यहा सुविवेचित व्याप्य और कार्य, व्यापक और कारण का उल्लघन नहीं कर सकते उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता। अत. अविसवादि श्रुत को अर्थ में प्रमाण मानना चाहिये। शब्द का विवक्षा के साथ कोई अविनाभाव नहीं है; क्योकि शब्द, वर्ण या पद कहीं अवाञ्छित अर्थ को भी कहते हैं तथा कहीं वाञ्छित को भी नहीं कहते। यदि शब्द विवक्षामात्र के वाचक हो तो शब्दो मे सत्यत्व और मिथ्यात्व की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योकि दोनो ही प्रकार के शब्द अपनी अपनी विवक्षा का अनुमान कराते है। शब्द मे सत्यत्वव्यवस्था अर्थप्राप्ति के कारण होती है। विवक्षा रहते हुए भी मन्दबुद्धि शास्त्रव्याख्यानरूप शब्द का प्रयोग नहीं कर पाते तथा सुषुप्तादि अवस्था में इच्छा के न रहने पर भी शब्दप्रयोग देखा जाता है। अत. शब्दो मे सत्यासत्यत्वव्यवस्था के लिए उन्हे अर्थ का वाचक मानना ही होगा।

श्रुत के भेद—श्रुतके तीन भेद हैं—१ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक, ३ आगमनिमित्तक। प्रत्यक्षनिमित्तक—परोपदेश की सहायता लेकर प्रत्यक्ष से होनेवाला। अनुमाननिमित्तक—परोपदेश के बिना केवल अनुमान से होनेवाला। आगमनिमित्तक—मात्र परोपदेश से होनेवाला। जैनतर्कवार्तिककार ने परोपदेशज तथा लिंगनिमित्तक रूपसे द्विविध श्रुत स्वीकार करके अकलक के इस मत की समालोचना की है।

शब्द का स्वरूप—शब्द पुद्गल की पर्याय है। वह स्कन्ध रूप है, जैसे छाया और आतप। शब्द मीमासको की तरह नित्य नहीं हो सकता। शब्द यदि नित्य और व्यापक हो तो व्यञ्जक वायुओ से एक जगह उसकी अभिव्यक्ति होने पर सभी जगह सभी वर्णो की अभिव्यक्ति होने से कोलाहल मच जायगा। सकेत के लिए भी शब्द को नित्य मानना आवश्यक नहीं है, क्योकि अनित्य होने पर भी सदृशशब्द मे सकेत होकर व्यवहार हो सकता है। 'स एवाय शब्दः' यह प्रत्यभिज्ञान शब्द के नित्य होने के कारण नहीं होता किंतु तत्सदृश शब्द मे एकत्वाध्यवसाय करने के कारण होता है। अतः यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है। यदि इस तरह भ्रान्त प्रत्यभिज्ञान से वस्तुओ मे एकत्व सिद्ध हो; तो बिजली

को भी विषय करना चाहिये। तदाकारता से विषयप्रतिनियम मानने पर एक अर्थ का ज्ञान करने पर उसी आकारवाले यावत् समान अर्थों का परिज्ञान होना चाहिए। तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर यदि विषयनियामक हो; तो घटज्ञान से उत्पन्न द्वितीय घटज्ञान को, जिसमें पूर्वज्ञान का आकार है तथा जो पूर्वज्ञान से उत्पन्न भी हुआ है, अपने उपादान-भूत पूर्वज्ञान को जानना चाहिये। पर बौद्धों के सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकम्'—ज्ञान ज्ञान का नियामक नहीं होता। तदध्यवसाय (अनुकूल विकल्प का उत्पन्न होना) से भी वस्तु का प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्लशंख में होनेवाले पीताकारज्ञान से उत्पन्न द्वितीयज्ञान में तदध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नहीं है। अतः अपने अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञान में परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव—विषय-विषयिभाव होता है। जैसे दीपक अपने तैलादि कारणो से प्रज्वलित होकर मिट्टी आदि से उत्पन्न होनेवाले घटादि को प्रकाशित करता है, उसीतरह इन्द्रिय तथा मन आदि कारणो से उत्पन्न ज्ञान अपने कारणो से उत्पन्न अर्थ को जानेगा। जैसे 'देवदत्त काठ को छेदता है' यहाँ अपने अपने कारणों से उत्पन्न देवदत्त तथा काष्ठ मे कर्तृ-कर्मभाव है उसी तरह स्व-स्वकारणो से समुत्पन्न ज्ञेय और ज्ञान में ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव होता है। जैसे खदान से निकली हुई मलयुक्त मणि अनेक शाण आदि कारणो से तरतम-न्यूनाधिकरूपसे निर्मल एवं स्वच्छ होती है उसी तरह कर्मयुक्त आत्मा का ज्ञान अपनी विशुद्धि के अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है, और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यता के अनुसार पदार्थों को जानता है। अतः अर्थ को ज्ञान में कारण नहीं माना जा सकता।

आलोककारणतानिरास—आलोकज्ञान का विषय आलोक होता है, अतः वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। जो ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान का कारण नहीं होता जैसे अन्धकार। आलोक का ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक न होने से भी वह ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता। यदि आलोक ज्ञान का कारण हो तो उसके अभाव में ज्ञान नहीं होना चाहिये, पर अन्धकार का ज्ञान आलोक के अभाव में ही होता है। नक्तञ्चर-रात्रिचारी उल्लू आदि को आलोक के अभाव में ही ज्ञान होता है तथा उसके सद्भाव में नहीं। 'आलोक के अभाव में अन्धकार की तरह अन्य पदार्थ क्यों नहीं दिखते' इस शंका का उत्तर यह है कि—अन्धकार अन्य पदार्थों का निरोध करनेवाला है, अतः आलोक के अभाव में निरोध करनेवाला अन्धकार तो दिखता है पर उससे निरुद्ध अन्य पदार्थ नहीं। जैसे एक महाघट के नीचे दो चार छोटे घट रखे हो, तो महाघट के दिखने पर भी उसके नीचे रखे हुए छोटे घट नहीं दिखते। अन्धकार ज्ञान का विषय है अतः वह ज्ञान का आवरण भी नहीं माना जा सकता। ज्ञान का आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है। इसीके क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान के विकास में तारतम्य होता है। अतः आलोक के साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक न होने से आलोक भी ज्ञान का

न्द्रियार्थदर्शी पुरुषविशेष ही मानना चाहिए। कर्ता का असमरणरूप हेतु जीर्ण खंडहर कुआ आदि चीजों से, जिनके कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं है, अनैकान्तिक है। अत: सर्वज्ञप्रतिपादित आगम को ही अतीन्द्रियधर्म आदि मे भी प्रमाण मानना चाहिए। सर्वज्ञ के माने विना वेद की प्रतिष्ठा भी नही हो सकती, क्योकि अपौरुपेय वेद का व्याख्याता यदि रागी, द्वेपी और अज्ञानी पुरुष होगा तो उसके द्वारा किया गया व्याख्यान प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकेगा। व्याख्याभेद होने पर अन्तिम निर्णय तो धर्मादि के साक्षात्कर्ता का ही माना जा सकता है।

परपरिकल्पित प्रमाणान्तर्भाव—नैयायिक प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य से साध्य के साधन को—संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान कहते हैं। जैसे किसी नागरिक ने यह सुना कि 'गौ के सदृश गवय होता है'। वह जगल मे गया। वहाँ गवय को देखकर उसमें गोसादृश्य का ज्ञान करके गवयसज्ञा का सम्बन्ध जोड़ता है और गवयशब्द का व्यवहार करता है। इसी सज्ञा-सज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान प्रमाण कहते है। अकलकदेव इस ज्ञान का यथासंभव अनुमान तथा प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव करते हुए कहते है कि—यदि प्रसिद्धार्थ का सादृश्य अविनाभावी रूपसे निर्णीत है तव तो वह लिंगात्मक हो जायगा और उससे उत्पन्न होने-वाला ज्ञान अनुमान कहलायगा। यदि अविनाभाव निर्णीत नहीं है, तो दर्शन और स्मरण-पूर्वक सादृश्यात्मक सकलन होने के कारण यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में ही अन्तर्भूत होगा। सादृश्यप्रत्यभिज्ञान मे अन्तर्भूत होने पर भी यदि इस ज्ञान को स्वतन्त्ररूपसे उपमान नामक प्रमाण मानोगे, तो भैंस को देखकर 'यह गवय नहीं है' या 'यह गौ से विलक्षण है' इस वैलक्षण्यज्ञान को किस प्रमाणरूप मानोगे? 'शाखादिवाला वृक्ष होता है' इस शब्द को सुनकर वैसे ही शाखादिमान् अर्थ को देखकर 'वृक्षोऽयम्' इस ज्ञान को किस नाम से पुकारोगे? इसी तरह 'यह इससे पूर्व में है, यह इससे पश्चिम में है,' 'यह छोटा है, यह बड़ा है,' 'यह दूर है, यह पास है,' 'यह ऊँचा है, यह नीचा है,' 'ये दो हैं, यह एक है' इत्यादि सभी ज्ञान उपमान से पृथक् प्रमाण मानने होगे; क्योकि उक्त ज्ञानो में प्रसिद्धार्थसादृश्य की तो गन्ध भी नहीं है। अतः जिनमें दर्शन और स्मरण कारण हो उन सभी सकलनरूप ज्ञानो को प्रत्यभिज्ञान कहना चाहिये, भले ही वह सकलन सादृश्य वैसदृश्य या एकत्वादि किसी भी विषयक क्यो न हो। उक्त सभी ज्ञान हितप्राप्ति, अहितपरिहार तथा उपेक्षाज्ञानरूप फल के उत्पादक होने से अप्रमाण तो कहे ही नहीं जा सकते।

मीमासक जिस साधन का साध्य के साथ अविनाभाव पहिले किसी सपक्ष में गृहीत नहीं है उस साधन से तत्काल में ही अविनाभाव ग्रहण करके होनेवाले साध्यज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं। इससे शक्ति आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान किया जाता है। अकलकदेव ने अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत किया है; क्योकि अविनाभावी एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान अनुमान तथा अर्थापत्ति दोनो में समान है। सपक्ष में व्याप्ति

द्रव्य एक अखंड तत्त्व है। वह संयुक्त या रासायनिक मिश्रण से तैयार न होकर मौलिक है। उसमें भेदव्यवहार करने के लिए देश, देशांश तथा गुण, गुणांश की कल्पना की जाती है। ज्ञान अखण्डद्रव्य को ग्रहण भले ही कर ले, पर उसका व्यवहार तो एक एक धर्म के द्वारा ही होता है। इन व्यवहारार्थ कल्पित धर्मों को गुण शब्दसे कहते हैं। वैशेषिको की तरह गुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। द्रव्य के सहभावी अंश गुण कहलाते है, तथा क्रम से होने वाले परिणमन पर्याय कहलाते है। इस तरह अखण्ड मौलिक तत्त्व की दृष्टि से वस्तु नित्य होकर भी क्रमिक परिणमन की अपेक्षा से अनित्य है। नित्य का तात्पर्य इतना ही है कि–वस्तु प्रतिक्षण परिणमन करते हुए भी अपने स्वरूपास्तित्व को नहीं छोड़ सकती। कितना भी विलक्षण परिणमन क्यो न हो जीव कभी भी पुद्गलरूप नहीं हो सकता। इस असांकर्य का नियामक ही द्रव्यांश है। साङ्ख्य के अपरिणामी कूटस्थ नित्य पुरुष की तरह नित्यता यहाँ विवक्षित नहीं है और न बौद्ध की तरह सर्वथा अनित्यता ही; जिससे वस्तु सर्वथा अपरिणामी तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण सर्वथा अनन्वित रह जाते हैं।

ध्रौव्य और सन्तान–यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि–जिस प्रकार जैन एक द्रव्यांश मानते हैं उसी तरह बौद्ध सन्तान मानते हैं। प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणमन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षण में पर्याय के रूप में न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश बिलकुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश सर्वथा परिवर्तनशील; तब तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षो में दिए जाने वाले दोष ऐसी वस्तु में आँयगे। कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण पर्यायो के परिवर्तित होने पर भी अपरिवर्तिष्णु कोई अंश हो ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंश से तादात्म्य रखने के कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही होगे। इस तरह कोई एक ही मार्ग पकड़ना होगा–या तो वस्तु बिलकुल नित्य मानी जाय या बिलकुल परिवर्तनशील–चेतन भी अचेतनरूपसे परिणमन करनेवाली। इन दोनो अन्तिम सीमाओ के मध्य का ही वह मार्ग है जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला जिससे अचेतन भी अपनी अचेतनत्व की सीमा को लाँघकर चेतन बन जाए, या दूसरे अचेतन द्रव्यरूप हो जाय। अथवा एक चेतन दूसरे सजातीय चेतनरूप या विजातीय अचेतनरूप हो जाय। उसकी सीधे शब्दों में यही परिभाषा हो सकती है कि किसी एक द्रव्य के प्रतिक्षण में परिणमन करने पर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणमन नहीं होता, उस स्वरूपास्तित्व का ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्ध के द्वारा माने गए सन्तान का भी यही कार्य है कि–वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ ही कार्य-कारणभाव बनाता है क्षणान्तर से नहीं। तात्पर्य यह कि इस सन्तान के कारण एक चेतनक्षण अपनी उत्तर चेतनक्षणपर्याय का ही कारण होगा, विजातीय अचेतनक्षण का

नहीं सकेगा, क्योंकि अर्थकाल में तो ज्ञान अनुत्पन्न है तथा ज्ञानकाल में अर्थ विनष्ट हो चुका है। यदि ज्ञान अपने कारणो को जाने; तो उसे इन्द्रियादिक को भी जानना चाहिए। ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वय और व्यतिरेक न होने से भी उनमें कारण-कार्यभाव नहीं हो सकता। संशयज्ञान अर्थ के अभाव में भी हो जाता है। संशयज्ञानस्थल में स्थाणु-पुरुषरूप दो अर्थ तो विद्यमान नहीं हैं। अर्थ या तो स्थाणुरूप होगा या पुरुषरूप। व्यभिचार—अन्यथा प्रतिभास बुद्धिगत धर्म है। जब मिथ्याज्ञान मे इन्द्रियगत—तिमिरादि, विषयगत—आशुभ्रमणादि, बाह्य—नौका में यात्रा करना आदि तथा आत्मगत—वातपित्तादिजन्य क्षोभ आदि दोष कारण होते हैं; तब तो अर्थ की हेतुता अपने ही आप व्यर्थ हो जाती है। मिथ्याज्ञान यदि इन्द्रियो की दुष्टता से होता है; तो सत्यज्ञान में भी इन्द्रियगत निर्दोषता ही कारण होगी। अतः इन्द्रिय और मन को ही ज्ञान में कारण मानना चाहिए। अर्थ तो ज्ञान का विषय ही हो सकता है, कारण नहीं।

अन्य कारणो से उत्पन्न बुद्धि के द्वारा सन्निकर्ष का निश्चय होता है, सन्निकर्ष से बुद्धि का निश्चय तो नहीं देखा जाता। सन्निकर्षप्रविष्ट अर्थ के साथ ज्ञान का कार्य-कारणभाव तब निश्चित हो सकेगा; जब सन्निकर्षप्रविष्ट आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञान के विषय हो। पर आत्मा, मन और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय है, अतः पदार्थ के साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय होगा और जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसे ज्ञान की उत्पत्ति में कारण कैसे माना जाय? ज्ञान अर्थ को तो जानता है, पर अर्थ में रहनेवाली स्व-कारणता को नहीं जानता। ज्ञान जब अतीत और अनागत पदार्थों को जो ज्ञानकाल में अविद्यमान हैं, जानता है; तब तो अर्थ की ज्ञान के प्रति कारणता अपने आप निःसार सिद्ध हो जाती है। देखो—कामलादि रोगवाले को शुक्लशंख में अविद्यमान पीलेपन का ज्ञान होता है। मरणोन्मुख व्यक्ति को अर्थ के रहने पर भी ज्ञान नहीं होता या विपरीतज्ञान होता है।

क्षणिक अर्थ तो ज्ञान के प्रति कारण हो ही नहीं सकता; क्योंकि जब वह क्षणिक होने से कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय? अर्थ के होने पर उसके काल में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तथा अर्थ के अभाव में ही ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ज्ञान अर्थ का कार्य कैसे माना जाय? कार्य और कारण एक साथ तो रह ही नहीं सकते। यह कहना भी ठीक नहीं है कि—"यद्यपि अर्थ नष्ट हो चुका है पर वह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर चुकने के कारण ग्राह्य होता है। पदार्थ में यही ग्राह्यता है कि—वह ज्ञान को उत्पन्न कर उसमें अपना आकार अर्पण करे।" क्योंकि ज्ञान अमूर्त है वह मूर्त अर्थ के प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर सकता। मूर्त दर्पणादि में ही मूर्त मुखादि का प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त में मूर्त का नहीं। यदि पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान में विषयप्रतिनियम हो; तो जब इन्द्रिय आदि से भी घटज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे घट की तरह इन्द्रिय आदि

कैसे हो सकते हैं ? एक स्वभाव से तो एक ही कार्य हो सकेगा । कारण में नाना शक्तियाँ माने बिना कार्यों में नानात्व नहीं आ सकता । इस तरह सर्वथा क्षणिक तथा नित्य दोनो वस्तुओ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती । अर्थक्रिया तो उभयात्मक–नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही संभव है। क्षणिक में अन्वित रूप नहीं है तथा नित्य में उत्पाद और व्यय नहीं हैं । उभयात्मक वस्तु में ही क्रम, यौगपद्य तथा अनेक शक्तियॉ सभव हैं ।

अर्थनिरूपण के प्रसंग में अकलंक ने विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद, परमाणुरूप-अर्थवाद, अवयव से भिन्न अवयविवाद, अन्यापोहात्मक सामान्यवाद, नित्यैकसर्वगत-सामान्य-वाद, प्रसङ्ग से भूतचैतन्यवाद आदि का समालोचन किया है । जिसका सार यह है–

विभ्रमवाद निरास–स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम हैं । जिस प्रकार स्वप्न में या जादू के खेल में अथवा मृगतृष्णा में अनेको पदार्थ सत्यरूप से प्रतिभा-सित तो होते है, पर उनकी वहॉ कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, मात्र प्रतिभास ही प्रति-भास होता है, उसी तरह घट-पटादि ज्ञानो के विषयभूत घट-पटादि अर्थ भी अपनी पारमार्थिक सत्ता नहीं रखते । अनादिकालीन विकल्पवासना के विचित्र परिपाक से ही अनेकानेक अर्थ प्रतिभासित होते हैं । वस्तुतः वे सब विभ्रमरूप ही हैं । इनके मत से किसी भी अर्थ और ज्ञानकी सत्ता नहीं है, जितना ग्राह्य-ग्राहकाकार है वह सब भ्रान्त है । इसका खंडन करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि–'स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम रूप हैं' इस वाक्य का अर्थ विभ्रम रूप है, कि सत्य ? यदि उक्त वाक्य का अर्थ विभ्रम–मिथ्या है; तब तो सभी अर्थों की सत्ता अविभ्रम-सत्य सिद्ध हो जायगी । यदि उक्त वाक्य का अर्थ सत्य है; तो समस्त वस्तुऍ विभ्रमात्मक कहॉ हुईं ? कम से कम उक्त वाक्य का अर्थ तो स्वरूप सत् हुआ । इसी तरह अन्य वस्तुऍ भी स्वरूप सत् सिद्ध होगीं।

संवेदनाद्वैतवाद निरसन–ज्ञानाद्वैतवादी मात्र ज्ञान की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं बाह्यार्थ की नहीं । ज्ञान ही अनादिकालीन विकल्पवासना के कारण अनेकाकार अर्थरूप से प्रतिभासित होता है । जैसे इन्द्रजाल गन्धर्वनगर आदि में अविद्यमान भी आकार प्रतिभासित होते हैं उसी तरह ज्ञान से भिन्न घटादि पदार्थ अपनी प्रातिभासिकी सत्ता रखते हैं पारमार्थिकी नहीं । इसी अभिन्नज्ञान में प्रमाण-प्रमेय आदि भेद कल्पित होते हैं, अतः यह ग्राह्य-ग्राहकरूप से प्रतिभासित होता है ।

इसकी समालोचना करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि–तथोक्त अद्वयज्ञान स्वतः प्रतिभासित होता है, या परतः ? यदि स्वतः प्रतिभासित हो; तब तो विवाद ही नहीं होना चाहिए । आपकी तरह ब्रह्मवादी भी अपने ब्रह्म का भी स्वतः प्रतिभास ही तो कहते हैं। परतः प्रतिभास तो पर के बिना नहीं हो सकता । पर को स्वीकार करने पर द्वैतप्रसंग होगा। इन्द्रजालदृष्ट पदार्थ तथा बाह्यसत् पदार्थों में इतना मोटा भेद है कि उसमें स्त्रियॉ तथा ढोर चरानेवाले ग्वाले आदि मूढजन भी भ्रान्त नहीं हो सकते । वे बाह्यसत्य पदार्थों को

कारण नहीं हो सकता। अर्थालोककारणताविषयक अकलंक के इन विचारों का उत्तरकालीन माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों ने प्रायः उन्हींके ही शब्दो में अनुसरण किया है।

प्रमाण का फल–प्रशस्तपादभाष्य तथा न्यायभाष्यादि में हान, उपादान एव उपेक्षाबुद्धि को प्रमाण का फल कहा है। समन्तभद्र पूज्यपाद आदि ने अज्ञाननिवृत्ति का भी प्रमाण के अभिन्न फलरूपसे प्ररूपण किया है। अकलंकदेव अज्ञाननिवृत्ति के विधिपरकरूप-तत्त्वनिर्णय का तथा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धि के साथ ही परनिःश्रेयस का भी प्रमाण के फलरूपसे कथन करते हैं। केवलज्ञान वीतराग योगियो के होता है अतः उनमें रागद्वेष-जन्य हानोपादान का संभव ही नहीं है, इसलिये केवलज्ञान का फल अज्ञाननिवृत्ति और उपेक्षाबुद्धि है। इनमें अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है, शेष परम्परा से।

---

§ २. प्रमेयनिरूपण–

प्रमाण का विषय–यद्यपि अकलङ्कदेव ने प्रमाण के विषय का निरूपण करते समय लघीयस्त्रय में द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ को ही प्रमेय बताया है, पर न्यायविनिश्चय में उन्होने द्रव्य-पर्याय के साथ ही साथ सामान्य और विशेष ये दो पद भी प्रयुक्त किए है। वस्तु में दो प्रकार का अस्तित्व है–१ स्वरूपास्तित्व, २ सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्य की पर्यायो को दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य से असङ्कीर्ण रखने वाला स्वरूपास्तित्व है। जैसे एक शावलेय गौ की हरएक अवस्था में 'शावलेय शावलेय' व्यवहार करानेवाला तत्-शावलेयत्व। इससे एक शावलेय गौव्यक्ति की पर्याएँ अन्य सजातीय शावलेयादि गौव्यक्तियो से तथा विजातीय अश्वादिव्यक्तियो से अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं। इसी को जैन द्रव्य, ध्रौव्य, अन्वय, ऊर्ध्वतासामान्य आदि शब्दो से व्यवहृत करते हैं। मालूम तो ऐसा होता है कि बौद्धो ने सन्तानशब्द का प्रयोग ठीक इसी अर्थ में किया है। इसी स्वरूपास्तित्व को विषय करनेवाला 'यह वही है' यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है। अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखनेवाले पदार्थों मे अनुगतव्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व है। जैसे भिन्न भिन्न गौव्यक्तियों में 'गौ गौ' इस अनुगतव्यवहार को करानेवाला साधारण गोत्व। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। गोत्वादि जातियाँ सदृशपरिणाम रूप ही हैं, नित्य एक तथा निरंश नहीं हैं। एक द्रव्य की पूर्वोत्तर पर्यायो में व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायरूप विशेष के निमित्त से होता है। भिन्न सत्ता रखने वाले दो द्रव्यो में विलक्षणप्रत्यय व्यतिरेकरूप विशेष (द्रव्यगतभेद) से होता है। इस तरह दो प्रकार के सामान्य तथा दो प्रकार के विशेष से युक्त वस्तु प्रमाण का विषय होती है। ऐसी ही वस्तु सत् है। सत् का लक्षण है–उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त होना। सत् को ही द्रव्य कहते हैं। उत्पाद और व्यय पर्याय की दृष्टि से हैं जब कि ध्रौव्य गुण की दृष्टि से। अतः द्रव्य का गुण-पर्यायवत्त्व लक्षण भी किया गया है।

भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते। परमाणुओं में परस्पर स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध होता है जिससे स्कन्ध बनता है। अतः ज्ञान के अतिरिक्त बाह्यपदार्थ की सत्ता मानना ही चाहिए; क्योंकि संसार के समस्त व्यवहार बाह्यसत् पदार्थों से चलते हैं, केवल ज्ञानमात्र से नहीं।

परमाणुसंचयवाद निरास—सौत्रान्तिक ज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थ मानते हैं, पर वे बाह्यार्थ को स्थिर, स्थूलरूप नहीं मानकर क्षणिक परमाणुरूप मानते हैं। परमाणुओ का पुंज ही अत्यन्त आसन्न होने के कारण स्थूलरूप से मालूम होता है। जैसे पृथक् स्थित अनेक वृक्ष दूर से एक स्थूलरूप में प्रतिभासित होते हैं। अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है और यह अपने परमाणुत्व को छोड़कर स्कन्ध अवस्था में नहीं आता तब उनका समुदाय प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकेगा? अतीन्द्रिय वस्तुओ का समुदाय भी अपनी अतीन्द्रियता-सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण किए बिना इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता।

भिन्नअवयविवाद निरास—नैयायिक अवयवी को अवयवो से भिन्न मानकर भी उसकी अवयवों में समवायसम्बन्ध से वृत्ति मानते हैं। वे अवयवी को निरंश एवं नित्य स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—अवयवो से भिन्न कोई अवयवी प्रत्यक्षादि प्रमाणो का विषय नहीं होता। 'वृक्ष में शाखाएँ हैं' यह प्रतिभास तो होता है पर 'शाखाओं में वृक्ष है' यह एक निराली ही कल्पना है। यदि अवयवी अतिरिक्त हो; तो एक एक छटाक वजन वाले चार अवयवों से बने हुए स्कन्ध में अवयवो के चार छटाक वजन के अतिरिक्त कुछ अवयवी का भी वजन आना चाहिए। अवयव तथा अवयवी का रूप भी पृथक् पृथक् दिखना चाहिए। निरंश अवयवी के एक देश को रँगने पर पूरा अवयवी रँगा जाना चाहिए। उसके एक देश में क्रिया होने पर समस्त अवयवी में क्रिया होना चाहिए। उसके एक देश का आवरण होने पर पूरे अवयवी को आवृत हो जाना चाहिए। इस तरह विरुद्ध धर्मों का अध्यास होने से उसमें एकत्व नहीं रह सकता। अतः अवयवो से सर्वथा भिन्न अवयवी किसी भी तरह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसलिए प्रतीति के अनुसार अवयवों से कथञ्चिद्भिन्न—अवयवरूप ही अवयवी मानना चाहिए।

इस तरह गुण-पर्यायवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है। गुण सहभावी तथा पर्याएँ क्रमभावी होते हैं। जैसे भेदज्ञान से वस्तु के उत्पाद और व्यय की प्रतीति होती है उसी तरह अभेदज्ञान से स्थिति भी प्रतिभासित होती ही है। जिस प्रकार सर्प अपनी सीधी, टेढ़ी, उत्फण, विफण आदि अवस्थाओ में अनुस्यूत एक सत् है उसी तरह उत्पन्न और विलीन होनेवाली पर्यायो में द्रव्य अनुगत रहता है। अभिन्न प्रतिभास होने से वस्तु एक है। विरुद्ध धर्मों का अध्यास होने से अनेक है। वस्तु अमुक स्थूल अंश से प्रत्यक्ष होने पर भी अपनी सूक्ष्मपर्यायो की अपेक्षा से अप्रत्यक्ष रहती है। वस्तु के ध्रौव्य अंश के

और सजातीय चेतनान्तरक्षण का नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से द्रव्य या सन्तान के कार्य या उपयोग में कोई अन्तर नहीं है। हाँ, अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूप-निरूपण में। बौद्ध उस सन्तान को काल्पनिक कहते हैं, जब कि जैन उस द्रव्यांश को पर्याय क्षण की तरह वास्तविक कहते हैं। सदा कूटस्थ अविकारी नित्य अर्थ में तो जैन भी उसे वस्तु नहीं कहते। सन्तान को समझाने के लिए बौद्धों ने यह दृष्टान्त दिया है कि–जैसे दस आदमी एक लाइन में खड़े हैं पर उनमें पंक्ति जैसी कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, उसी तरह क्रमिक पर्यायों में कूटस्थ नित्य कोई द्रव्यांश नहीं है। पर इस दृष्टान्त की स्थिति से द्रव्य की स्थिति कुछ विलक्षण प्रकार की है। यद्यपि यहाँ दश भिन्नसत्ताक पुरुषों में पंक्ति नाम की कोई स्थायी वस्तु नहीं है फिर भी पंक्ति का व्यवहार हो जाता है। पर एक द्रव्य की क्रमिक पर्याएँ दूसरे द्रव्य की पर्यायों से किसी स्वरूपास्तित्वरूप तात्त्विक अंश के माने विना असंक्रान्त नहीं रह सकतीं। यहाँ एक पुरुष चाहे तो इस पंक्ति से निकलकर दूसरी पंक्ति में शामिल हो सकता है। पर कोई भी पर्याय चाहने पर भी दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य की पर्याय से संक्रान्त नहीं हो सकती और अपने द्रव्य में भी अपना क्रम छोड़कर न आगे जा सकती है और न पीछे। अतः द्रव्यांश मात्र पंक्ति एवं सेना आदि की तरह बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु क्षण की तरह सत्य है। इस तरह द्रव्यपर्यायात्मक–उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु अर्थक्रियाकारी है, सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती।

बौद्ध सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व करते हैं। अर्थक्रिया दो प्रकार से होती है–१ क्रम से, २ यौगपद्यरूप से। उनका कहना है कि नित्य वस्तु न क्रम से ही अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। अतः अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व के अभाव में वह असत् ही सिद्ध होती है। नित्य वस्तु सदा एकरूप रहती है, अतः जब वह समर्थ होने से सभी कार्यों को युगपत् उत्पन्न कर देगी, तब कार्यों में भेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि कार्यों में भेद कारण के भेद से होता है। जब कारण एक एवं अपरिवर्तनशील है तब कार्यभेद का वहाँ अवसर ही नहीं है। यदि वह युगपत् अर्थक्रिया करे; तो सभी कार्य एक ही क्षण में उत्पन्न हो जाँयगे, तब दूसरे क्षण में नित्य अकिञ्चित्कर ठहरेगा। इस तरह क्रमयौगपद्य से अर्थक्रिया का विरोध होने से नित्य असत् है।

अकलङ्कदेव कहते हैं कि–यदि नित्य में अर्थक्रिया नहीं बनती तो सर्वथा क्षणिक में भी तो उसके बनने की गुंजाइश नहीं है। क्षणिकवस्तु एकक्षण तक ही ठहरती है, अतः जो जिस देश तथा जिस काल में है वह उसी देश तथा काल में नष्ट हो जाती है। इसलिये जब वह देशान्तर या कालान्तर तक किसी भी रूप में नहीं जाती तब देशकृत या कालकृत क्रम उसमें नहीं आ सकता, अतः उसमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनेगी। निरंश होने से उसमें एक साथ अनेकस्वभाव तो रहेंगे ही नहीं; अतः युगपत् भी अनेक कार्य

वृत्ति होने के कारण रूपज्ञानजनकरूप से समान व्यवहार में कारण हो जाते हैं, उसी तरह परस्पर में अत्यन्त भिन्न मनुष्यव्यक्तियाँ भी अमनुष्यव्यावृत्ति के कारण 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा समान व्यवहार कर सकेंगी। इसी तरह अतत्कार्य-कारणव्यावृत्ति से अनुगत व्यवहार होता है। प्रकृत मनुष्यव्यक्तियाँ मनुष्य के कारणो से उत्पन्न हुई हैं तथा मनुष्य के कार्यों को करती है, अतः उनमें अमनुष्यकारणव्यावृत्ति तथा अमनुष्यकार्यव्यावृत्ति पाई जाती है, इसीसे उनमें किसी वस्तुभूत सामान्य के बिना भी सदृश व्यवहार हो जाता है।

अकलंकदेव इसका खडन करते हैं कि—सदृशपरिणामरूप विध्यात्मक सामान्य के माने बिना अपोह का नियम ही नहीं हो सकता। जब एक शाबलेय गौव्यक्ति दूसरी बाहुलेय गौव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि एक अश्वव्यक्ति से, तब क्या कारण है कि अगोव्यावृत्ति शाबलेय और बाहुलेय में ही 'गौ गौ' ऐसा अनुगत व्यवहार कराती है अश्व में नहीं ? अतः यह मानना होगा कि शाबलेय गौ बाहुलेय गौ से उतनी भिन्न नहीं है जितनी अश्व से, अर्थात् शाबलेय और बाहुलेय में कोई ऐसा सादृश्य है जो अश्व में नहीं पाया जाता। इसलिए सदृश परिणाम ही समान व्यवहार का नियामक हो सकता है। यह तो हम प्रत्यक्ष से ही देखते हैं कि—कोई वस्तु किसी से समान है तथा किसी से विलक्षण। बुद्धि समानधर्मों की अपेक्षा से अनुगत व्यवहार कराती है, तथा विलक्षण धर्मों की अपेक्षा से विसदृश व्यवहार। पर वह समानधर्म विध्यात्मक है निषेधात्मक नहीं। बौद्ध जब स्वयं अपरापरक्षणो में सादृश्य के कारण ही एकत्व का भान मानते हैं, शुक्तिका और चाँदी में सादृश्य के कारण ही भ्रमोत्पत्ति स्वीकार करते हैं; तब अनुगत व्यवहार के लिए अतद्व्यावृत्ति जैसी निषेधमुखी कल्पना से क्या लाभ ? क्योकि उसका निर्वाह भी आखिर सदृश-परिणामके ही आधीन आ पड़ता है। बुद्धि में अभेद का प्रतिबिम्ब वस्तुगत सदृश धर्म के माने बिना यथार्थता नहीं पा सकता। अतः सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। इस तरह अकलकदेव ने सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्य, एकद्रव्यरूप ऊर्ध्वतासामान्य, भिन्नद्रव्यो में विलक्षण व्यवहार का प्रयोजक विशेष, और एक द्रव्य की दो पर्यायों में भेद व्यवहार करानेवाले पर्याय इन द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष चार पदो का उपादान करके प्रमाण के विषयभूत पदार्थ की सम्पूर्णता का प्रतिपादन किया है।

भूतचैतन्यवाद निरास—चार्वाक का सिद्धान्त है कि—जीव कोई स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व नहीं है किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अमुक प्रमाण में विलक्षण रासायनिक मिश्रण से ही उन्हीं पृथिव्यादि में चैतन्यशक्ति आविर्भूत हो जाती है। इसी ज्ञान-शक्तिविशिष्ट भूत-शरीर में जीव व्यवहार होता है। जिस प्रकार कोदो, महुआ आदि में जलादि का मिश्रण होने से मदिरा तैयार हो जाती है उसी तरह जीव एक रासायनिक मिश्रण से बना हुआ संयुक्त-द्रव्य है स्वतन्त्र अखण्ड मूल-द्रव्य नहीं है। उस मिश्रण में से अमुक तत्त्वो की कमी होने पर जीवनीशक्ति के नष्ट होने पर मृत्यु हो जाती है। अतः

प्राप्तकर अपनी आकाँक्षाएँ शान्तकर सन्तोष का अनुभव करते हैं जब कि इन्द्रजालदृष्ट पदार्थों से कोई अर्थक्रिया या सन्तोषानुभव नहीं होता। वे तो प्रतिभासकाल में ही असत् मालूम होते है। अद्वयज्ञानवादियो को प्रतिभास की सामग्री–प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि तो मानना ही चाहिए, अन्यथा प्रतिभास कैसे हो सकेगा? अद्वयज्ञान में अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदि की व्यवस्था न होने से तद्ग्राही ज्ञानो में प्रमाणता या अप्रमाणता भी निश्चित नहीं की जा सकेगी। पर्वतादि बाह्य पदार्थों को विकल्पवासनाप्रसूत कहने से उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे सभव हो सकते हैं? यदि विषादि पदार्थ बाह्यसत् नहीं हैं केवल ज्ञानरूप ही है; तब उनके खाने से मृत्यु आदि कैसे हो जाते हैं? विप के ज्ञानमात्र से तो मृत्यु नहीं देखी जाती। प्रतिपाद्यरूप आत्मान्तर की सत्ता माने बिना शास्त्रोपदेश आदि का क्या उपयोग होगा? जब परप्रतिपत्ति के उपायभूत वचन ही नहीं हैं; तब परप्रतिपादन कैसे संभव है? इसी तरह ग्राह्य-ग्राहक-भाव, बाध्य-बाधकभाव आदि अद्वैत के बाधक हैं। अद्वयसिद्धि के लिए साध्य-साधनभाव तो आप को मानना ही चाहिए; अन्यथा सहोपलम्भनियम आदि हेतुओ से अद्वयसिद्धि कैसे करोगे? सहोपलम्भनियम–अर्थ और ज्ञान दोनो एक साथ उपलब्ध होते है अतः अर्थ और ज्ञान अभिन्न है, जैसे द्विचन्द्रज्ञान मे प्रतिभासित होनेवाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नहीं रखते, किन्तु एक ही हैं।' यह अनुमान भी संवेदनाद्वैत की सिद्धि करने में असमर्थ है। यतः सहोपलम्भ हेतु विरुद्ध है–'शिष्य के साथ गुरु आया' इस प्रयोग में सहोपलम्भनियम भेद होने पर ही देखा गया है। ज्ञान अन्तरंग में चेतनाकारतया तथा अर्थ बाह्य देश में जडरूप से देखा जाता है अतः उनका सहोपलम्भनियम असिद्ध है। बाह्यसत् एकचन्द्र के स्वीकार किए बिना द्विचन्द्र दृष्टान्त भी नहीं बन सकता। सहोपलम्भनियम का भेद के साथ कोई विरोध नहीं होने के कारण वह अनैकान्तिक भी है।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थ के अस्तित्व में निम्न बाधक उपस्थित करते हैं कि–एक परमाणु अन्यपरमाणुओ से एकदेश से संयोग करेगा, या सर्वात्मना? एकदेश से सयोग मानने पर छह परमाणुओ से सयोग करनेवाले परमाणु के छह देश हो जॉयगे। सर्वात्मना सयोग मानने पर परमाणुओ का पिण्ड एकपरमाणुरूप हो जायगा। इसी तरह अवयवी अपने अवयवो मे एकदेश से रहेगा, या सर्वात्मना? एकदेश से रहने पर अवयवी के उतने ही देश मानने होगे जितने कि अवयव हैं। सर्वात्मना प्रत्येक अवयव मे रहने पर जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जॉयगे। अवयवी यदि निरंश है, तो रक्तारक्त, चलाचल, आदि विरुद्धधर्मों का अध्यास होने से उसमें भेद हो जायगा। इत्यादि।

अकलङ्कदेव ने इनका समाधान संक्षेप में यह किया है कि–जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य, ग्राहक और संविदाकार से तादात्म्य रखकर भी एक रहता है, उसी तरह अवयवी अपने अवयवो में कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध से रहने पर भी एक ही रहेगा। अवयवो से सर्वथा

आता है। चक्षुरादि इन्द्रियो की शक्ति नष्ट हो जाने पर भी मानस स्मरणज्ञान देखा जाता है। अतः जीवनशक्ति या ज्ञानशक्ति भूतो का गुण या पर्याय नहीं हो सकती, वह तो आत्मा की ही पर्याय है। यह जीव ज्ञान-दर्शनादि उपयोगवाला है। सुषुमादि अवस्थाओ में भी इसका ज्ञान नष्ट नहीं होता। अकलंकदेव ने 'सुषुप्तादौ बुद्धः' इस पद का उपादान करके प्रज्ञाकरगुप्त आदि के 'सुषुप्तावस्था में ज्ञान नष्ट या तिरोहित हो जाता है' इस सिद्धान्त का खंडन किया है। यह आत्मा प्राणादि को धारण करके जीता है इसलिए जीव कहलाता हैं। जीव स्वय अपने कर्मो का कर्त्ता तथा भोक्ता है। वही रागादिभावो से कर्मबन्धन करता है तथा वीतरागपरिणामो से कर्मबन्धन तोडकर मुक्त हो जाता है। यह न तो सर्वव्यापी है और न वटवीज की तरह अणुरूप ही; किन्तु अपने उपात्तशरीर के परिमाणानुसार मध्यम-परिमाणवाला है। कर्मसम्बन्ध के कारण प्रदेशो के संकोच-विस्तार होने से छोटे बड़े शरीर के परिमाण होता रहता है।

गुण—इसी प्रसंग में गुण और गुणी के सर्वथा भेद का खण्डन करते हुए लिखा है कि—अर्थ अनेक धर्मात्मक है। उसका अखण्डरूप से ग्रहण करना कदाचित् संभव भी है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खास रूप-धर्म से ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेदरूपसे विवक्षित धर्म को गुण कहते है। गुण द्रव्य का ही परिणमन है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। चूँकि गुण पदार्थ के धर्म हैं अत. ये स्वय निर्गुण—गुणशून्य होते है। यदि गुण स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय और वह भी द्रव्य से सर्वथा भिन्न; तो 'अमुकगुण-ज्ञान अमुकगुणी-आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं' इसका नियामक कौन होगा? इसका नियामक तो यही है कि—ज्ञान का आत्मा से ही कथञ्चित्तादात्म्य है अतः वह आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं। वैशेषिक के मत में 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग नहीं हो सकेंगे; क्योकि गन्ध, रूप तथा सख्या आदि सभी गुण हैं, और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्य की सख्या का एकार्थसमवाय सम्बन्ध के कारण रूपादि में उपचार करके 'एक गन्ध' इस प्रयोग का निर्वाह किया जायगा; 'तो एक द्रव्य में रूपादि बहुत गुण हैं' यह प्रयोग असंभव हो जायगा; क्योकि रूपादि बहुत गुणों के आश्रयभूत द्रव्य में तो एकत्वसख्या है बहुत्वसंख्या नहीं। अतः गुण को स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्य का ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मी की अपेक्षा से धर्म होने पर भी अपने में रहनेवाले अन्य धर्मों की अपेक्षा से धर्मी भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत घट की अपेक्षा से यद्यपि धर्म है पर अपने में पाये जानेवाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा धर्मी है। अतः जैन सिद्धान्त में धर्म-धर्मिभाव के अनियत होने के कारण 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग बड़ी आसानी से बन जाते है। इति।

कारण ही 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। उपादानोपादेयभाव भी ध्रौव्यांश के मानने पर ही बन सकता है। वस्तु जिस रूप से उत्तरपर्याय में अन्वित होगी उसी रूप से उसमे उपादानता का निश्चय होता है। यद्यपि शब्दादि का उपादान तथा आगे होनेवाला उपादेयभूत कार्य प्रत्यक्षगोचर नहीं है, तथापि उसकी मध्यक्षणवर्ती सत्ता ही उसके उपादान का तथा आगे होनेवाले उपादेयरूप कार्य का अनुमान कराती है; क्योंकि उपादान के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा मध्यक्षण यदि आगे कोई कार्य न करेगा; तो वह अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में अवस्तु ही हो जायगा। अतः द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय हो सकती है।

सामान्य–नैयायिक-वैशेषिक नित्य, एक, सर्वगत सामान्य मानते हैं, जो स्वतन्त्र पदार्थ होकर भी द्रव्य, गुण और कर्म में समवायसम्बन्ध से रहता है। मीमांसक ऐसे ही सामान्य का व्यक्ति से तादात्म्य मानते हैं। बौद्ध सामान्य को वस्तुभूत न मानकर उसे अतद्व्यावृत्ति या अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं। जैन सदृश परिणमन को सामान्य कहते हैं। वे उसे अनेकानुगत न कहकर व्यक्तिस्वरूप मानते हैं। वह व्यक्ति की तरह अनित्य तथा असर्वगत है। अकलङ्कदेव ने सामान्य का स्वरूप वर्णन करते हुए इतरमतो की आलोचना इस प्रकार की है–

नित्य-सामान्यनिरास–नित्य, एक, निरंश सामान्य यदि सर्वगत है; तो उसे प्रत्येक व्यक्ति में खडशः रहना होगा; क्योंकि एक ही वस्तु अनेक जगह युगपत् सर्वात्मना नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्ति में प्रकट होता है; उसी समय उसे सर्वत्र-व्यक्ति के अन्तराल में भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा व्यक्त और अव्यक्त-रूप से स्वरूपभेद होने पर अनित्यत्व एवं सांशत्व का प्रसंग होगा। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न सत्ता के समवाय के बिना भी स्वत.सत् हैं उसी तरह द्रव्य, गुण और कर्म भी स्वत.सत् होकर 'सत् सत्' ऐसा अनुगत व्यवहार भी करा सकते हैं। अतः द्रव्यादि के स्वरूप से अतिरिक्त सामान्य न मानकर सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए।

अन्यापोह निरास–बौद्ध सामान्य को अन्यापोहरूप मानते हैं। इनके मत से कोई भी एक वस्तु अनेक आधारों में वृत्ति ही नहीं रख सकती, अत. अनेक आधारों में वृत्ति रखनेवाला सामान्य असत् है। सामान्य अनुगत व्यवहार के लिए माना जाता है। उनका कहना है कि–हमलोगो को परस्पर विभिन्न वस्तुओं के देखने के बाद जो बुद्धि में अभेद का भान होता है, उसी बुद्धि में प्रतिबिम्बित अभेद का नाम सामान्य है। वह बुद्धि-प्रतिबिम्बित अभेद भी कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है, किन्तु अतद्व्यावृत्तिरूप है। जिन व्यक्तियों में अमनुष्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें 'मनुष्य मनुष्य' व्यवहार किया जाता है। जैसे चक्षु, आलोक और रूप आदि पदार्थ परस्पर में अत्यन्त भिन्न होकर भी अरूपज्ञानजननव्या-

कोमलभावनाओं के स्रोत को ही बन्द किए देता है। अतः इन दोनो के मध्य का ही मार्ग सर्वसाधारण को व्यवहार्य हो सकता है। आन्तरिक शुद्धि के लिए ही बाह्य उग्रतपस्या का उपयोग होना चाहिए, जिससे बाह्यतप ही हमारा साध्य न बन जाय। दयालु बुद्ध इस मध्यममार्ग द्वारा अपने आचार को मृदु बनाते हैं और बोधिलाभ कर जगत् में मृदु-अहिंसा का सन्देश फैलाते है। तात्पर्य यह कि–बुद्ध ने अपने आचार की मृदुता के के समाधान के लिए 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग किया। इस तत्त्व का उपयोग बुद्ध ने आखिर तक आचार के ही क्षेत्र तक सीमित रखा, उसे विचार के क्षेत्र में दाखिल करने का प्रयत्न नहीं हुआ। जब बोधिलाभ करने के बाद संघरचना का प्रश्न आया, शिष्यपरिवार दीक्षित होने लगा तथा उपदेशपरम्परा चालू हुई, तब भी बुद्ध ने किसी आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ का तात्त्विक विवेचन नहीं किया; किन्तु अपने द्वारा अनुभूत दुःखनिवृत्ति के मार्ग का ही उपदेश दिया। जब कोई शिष्य उनसे आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के विषय में प्रश्न करता था तो वे स्पष्ट कह देते थे कि–"आवुस! तुम इन आत्मा आदि को जानकर क्या करोगे? इनके जानने से कोई फायदा नहीं है। तुम्हे तो दुःख से छूटना है, अतः दुख, समुदय–दु.ख के कारण, निरोध-दुखःनिवृत्ति और मार्ग–दुःखनिवृत्ति का उपाय इन चार आर्यसत्यो को जानना चाहिए तथा आचरण कर बोधिलाभ करना चाहिए।" उन्हे बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्ग की तरह बैठेठाले अनन्त कल्पना-जाल रच के दर्शनशास्त्र बनाने के बजाय अहिंसा की आंशिक साधना ही श्रेयस्कर मालूम होती थी। यही कारण है कि–वे दर्शनशास्त्रीय आत्मादि पदार्थों के तत्त्वविवेचन के झगड़े को निरुपयोगी समझ कर उसमें नहीं पड़े। और उन्होने अपनी मध्यम-प्रतिपदा का उपयोग उस समय के प्रचलितवादों के समन्वय में नहीं किया। उस समय आत्मादि पदार्थोंके विषय में अनेको वाद प्रचलित थे। कोई उसे कूटस्थ नित्य मानता था तो कोई उसे भूतविकारमात्र, कोई व्यापक कहता था तो कोई अणुरूप। पर बुद्ध इन सब वादो के खंडन-मडन से कोई सरोकार ही न रखते थे, वे तो केवल अहिंसा की साधना की ही रट लगाए हुए थे।

पर जब कोई शिष्य अपने आचरण तथा संघ के नियमो में मृदुता लाने के लिए उनके सामने अपनी कठिनाइयाँ पेश करता था कि–"भन्ते! आजकल वर्षाकाल है, एक संघाटक-चीवर रखने से तो वह पानी में भींग जाता है, और उससे शीत की बाधा होती है। अत. दो चीवर रखने की अनुज्ञा दी जाय। हमें बाहिर स्नान करते हुए लोक-लाज का अनुभव होता है, अतः जन्ताघर (स्नानगृह) बनाने की अनुज्ञा दी जाय इत्यादि" तब बुद्ध का मातृहृदय अपने प्यारे बच्चों की कठिनाइयाँ सुनकर तुरन्त पसीज जाता था। वे यहाँ अपनी 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग करते हैं और उनकी कठिनाइयाँ हल करने के लिए उन्हें अनुज्ञा दे देते है। इस तरह हम देखते हैं कि–

जीव गर्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त ही रहता है, परलोक तक जानेवाला नहीं है। उसकी शरीर के साथ ही साथ क्या शरीर के पहिले ही इतिश्री हो जाती है, शरीर तो मृत्यु के बाद भी पड़ा रहता है। "जलबुद्बुदवज्जीवाः, मदशक्तिवद्विज्ञानम्"—जल के बुद्बुदों की तरह जीव तथा महुआ आदि में मादकशक्ति की तरह ज्ञान उत्पन्न होता है—ये उनके मूल सिद्धान्तसूत्र हैं।

अकलङ्कदेव इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—यदि आत्मा-जीव स्वतन्त्र मूल-तत्त्व न हो तो संसार और मोक्ष किसे होगा? शरीरावस्था को प्राप्त पृथिव्यादि भूत तो इस लोक में ही भस्मीभूत हो जाते हैं, परलोक तक कौन जायगा? परलोक का अभाव तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि आज भी बहुत लोग जातिस्मरण होने से अपने पूर्वभव की तथ्यस्थिति का आखोंदेखा हाल वर्णन करते हुए देखे जाते हैं। यक्ष, राक्षस, भूत पिशाचादि पर्यायों में पहुँचे हुए व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा अतीतकालीन पूर्वपर्याय का समस्त वृत्तान्त सुनाते हैं। जन्म लेते ही नवजातशिशु को माँ के दूध पीने की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा पूर्वानुभव के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि अभिलाषा पूर्वदृष्ट पदार्थ की सुखसाधनता का स्मरण करके होती है। अतः पूर्वानुभव का स्थान परलोक मानना चाहिये। "गर्भ में माँ के द्वारा उपभुक्त भोजनादि से बने हुए अमुक विलक्षण रसविशेष के ग्रहण करने से नवजातशिशु को जन्म लेते ही दुग्धपान की ओर प्रवृत्ति होती है" यह कल्पना नितान्त युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि गर्भ में रसविशेष के ग्रहण करने से ही यदि अभिलाषा होती है तो गर्भ में एक साथ रहनेवाले, एक साथ ही रसविशेष को ग्रहण करनेवाले युगल पुत्रों में परस्पर प्रत्यभिज्ञान एवं अभिलाषा होनी चाहिए, एक के द्वारा अनुभूत वस्तु का दूसरे को स्मरण होना चाहिए। प्रत्येक पृथिवी आदि भूत में तो चैतन्यशक्ति का आविर्भाव नहीं देखा जाता अतः समस्तभूतों के अमुक मिश्रण में ही जब एक विलक्षण अतीन्द्रिय स्वभावसिद्ध शक्ति माननी पड़ती है तब ऐसे विलक्षणशक्तिशाली अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व के मानने में ही क्या बाधा है? ज्ञान प्राणयुक्त शरीर का भी धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अन्धकार में शरीर का प्रत्यक्ष न होने पर भी 'अहं ज्ञानवान्' इस प्रकार से ज्ञान का अन्तः मानसप्रत्यक्ष होता है। यदि ज्ञानरूपसे शरीर का ग्रहण होता; तो कदाचित् ज्ञान शरीर का धर्म माना जाता। दूसरा व्यक्ति अपने नेत्रों से हमारे शरीर का ज्ञान कर लेता है पर शरीर के रूपादि की तरह वह हमारे ज्ञान का ज्ञान नहीं कर सकता। शरीर में विकार होने पर भी बुद्धि में विकार नहीं देखा जाता, शरीर की पुष्टि या कमजोरी में ज्ञान की पुष्टि या कमजोरी नहीं देखी जाती, शरीर के अतिशय बलवान् होने के साथ ही साथ बुद्धिबल बढ़ता हुआ नहीं देखा जाता, इत्यादि कारणों से यह सुनिश्चित है कि—ज्ञान शरीर का गुण नहीं है। ज्ञान, सुख आदि इन्द्रियों के भी धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों की अनुपयुक्त दशा में मन से ही 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' यह मानस प्रत्यक्ष अनुभव में

न करके उस पर ऐकान्तिक प्रहार कर पारस्परिक मनोमालिन्य-हिंसा को ही उत्तेजन दिया। इससे वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृति के बीच एक ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी हो गई जिसने केवल दर्शनिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी दोनो को सदा के लिए आत्यन्तिक विभक्त कर दिया। इसके फलस्वरूप प्राणो की बाजी लगाकर अनेको शास्त्रार्थ हुए तथा राजनैतिक जीवन मे इस कालकूट ने प्रवेशकर अनेको राजवंशों का सत्यानाश किया। उत्तरकाल में बौद्धाचार्यों ने मन्त्र-तन्त्रों की साधना इसी हिंसा-के उत्तेजन के लिए की और आखिर इसी हिंसाज्वाला से भारतवर्ष में बौद्धो का अस्तित्व खाक में मिल गया। यदि मध्यमा प्रतिपद् ने इस दार्शनिक क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया होता तो आज उसकी अहिंसक किरणो से दर्शनशास्त्र का कुछ दूसरा ही रूप हुआ होता, और भारतवर्ष का मध्यकालीन इतिहास सचमुच स्वर्णाक्षरो में लिखा जाने लायक होता।

जैनदृष्टि—भग० महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे। इन्होंने अपनी उग्र तपस्या से कैवल्य प्राप्त किया। ये इतने दृढतपस्वी तथा कष्टसहिष्णु व्यक्ति थे कि इन्हे बुद्ध की तरह अपनी व्यक्तिगत तपस्या में मृदुता लाने के लिए मध्यममार्ग के उपयोग की आवश्यकता ही नहीं हुई। इनकी साधना कायिक अहिंसा के सूक्ष्म-पालन के साथ ही साथ वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा की पूर्णता की दिशा में थी। भग० महावीर पितृचेतस्क व्यक्ति थे, अतः इनका आचार के नियमो में अत्यन्त दृढ़ एवं अनुशासनप्रिय होना स्वाभाविक था। पर सघ में तो पँचमेल व्यक्ति दीक्षित होते थे। सभी तो उग्रमार्ग के द्वारा साधना करने में समर्थ नहीं हो सकते थे अतः इन्होंने अपनी अनेकान्तदृष्टि से आचार के दर्जे निश्चित कर चतुर्विधसघ का निर्माण किया। और प्रत्येक कक्षा के योग्य आचार के नियम स्थिर कर उनके पालन कराने में ढिलाई नहीं की। भग० महावीर की अनेकान्तदृष्टि ने इस तरह आचार के क्षेत्र में सुदृढ़ संघनिर्माण करके तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया।

अनेकान्तदृष्टि का आधार—भग० महावीर ने बुद्ध की तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूपनिरूपण में मौन धारण नहीं किया; किन्तु उस समय के प्रचलित वादो का समन्वय करनेवाला वस्तुस्वरूपस्पर्शी उत्तर दिया कि—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी, अनित्य भी, आदि। यह अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन उनकी मानसी अहिंसा का प्रतिफल है। अन्यथा वे बुद्ध की तरह इस चर्चा को अनुपयोगी कह सकते थे। कायिक अहिंसा के लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्यगाचार आवश्यक है, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा के लिए अनेकान्तदृष्टि विशेषरूप से उपासनीय है। जब तक दो विभिन्न विचारों का अनेकान्तदृष्टि से वस्तुस्थिति के आधार पर समीकरण न होगा तब तक हृदय में उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा, और उन विचारो के प्रयोजको के प्रति

§ ३. नयनिरूपण–

जैनदृष्टि का आधार और स्थान–भारतीय सस्कृति मुख्यतः दो भागो में बाँटी जा सकती है–एक वैदिक सस्कृति और दूसरी उसके मुकाबिले में खडी हुई श्रमणसस्कृति। वैदिकसंस्कृति के आधारभूत वेद को प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमासा तथा औपनिषद आदि दर्शन हैं। श्रमणसस्कृति के शिलाधार वेदकी प्रमाणता का विरोध करनेवाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं। वैदिकदर्शन तथा वैदिकसस्कृति के प्रा'-प्रतिष्ठान में विचारो की प्रधानता है। श्रवणसस्कृति एवं अवैदिक दर्शनो की उद्भूति आचारशोधन के प्रामुख्य से हुई है। सभी दर्शनो का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, और गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन भी सबने माना ही है। वैदिक सस्कृति तथा वैदिकदर्शनो की प्राणप्रतिष्ठा, सवर्द्धन एव प्रौढीकरण में बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्ग ने पुश्तैनी प्रयत्न किया है जो आजतक न्यूनाधिक रूप में चालू है। यही कारण है कि वैदिकदर्शन का कोषागार, उनकी सूक्ष्मता, तलस्पर्शिता, भावग्राहिता एव पराकाष्ठा को प्राप्त कल्पनाओ का कोटिक्रम अपनी सानी कम रखता है। परम्परागत-बुद्धिजीवित्व-शाली ब्राह्मणवर्ग ने अपनी सारी शक्ति कल्पनाजाल का विकास करके वेदप्रामाण्य के समर्थन में लगाई और वैदिकक्रियाकाण्डो के द्वारा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त के जीवन के प्रत्येकक्षण को इतना ओतप्रोत कर दिया जिससे मुकाबिले में खडी होनेवाली बौद्ध और जैनसस्कृति भी पीछे जाकर इन क्रियाकाण्डों से अशतः पराभूत हो गई।

श्रमणसस्कृति वैदिक क्रियाकाण्ड, खासकर धर्म के नाम पर होने वाले अजामेध, अश्वमेध, नरमेध आदि हिंसाकाण्ड का तात्त्विक एव क्रियात्मक विरोध करने के लिए उद्भूत हुई, और उसने इस क्षेत्र मे पर्याप्त सफलता भी पाई। श्रमणसस्कृति का आधार पूर्णरूपसे अहिंसा रही है। अहिंसा का वास्तविक रूप तो सचमुच आचारगत ही है। अहिंसा का विचार तो वैदिकदर्शनों ने भी काफी किया है पर विशिष्ट अपवादो के साथ। श्रवणसंस्कृति अहिंसा का सक्रिय रूप थी। इस अहिंसा की साधना तथा पूर्णता के लिए ही इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग हुआ, जब कि वैदिक सस्कृति में तत्त्वज्ञान साध्यरूपमें रहा है।

बौद्धदृष्टि–बुद्ध अहिंसा की साधना के लिए प्रारम्भ मे छह वर्ष तक कठोर तपस्या करते है। जब उनका भावुक चित्त तपस्या की उग्रता से ऊब जाता है, तब वे विचार करते है कि–इतनी दीर्घतपस्या के बाद भी मुझे बोधिलाभ क्यो नहीं हुआ? यहीं उनकी तीक्ष्णदृष्टि 'मध्यम प्रतिपदा' को पकड लेती है। वे निश्चय करते हैं कि–यदि एक ओर वैदिकी हिंसा तथा विषय भोग आदिके द्वारा शरीर के पोषण का बोलवाला है तो इस ओर भी अव्यवहार्य अहिंसा तथा भीषण कायक्लेशके द्वारा होनेवाला शरीर का शोषण हृदय की

उत्तरकालीन आचार्यों ने खूब लिखा। उन्होंने उदारता पूर्वक यहाँ तक लिखा है कि–'समस्त मिथ्यैकान्तो का समूह ही अनेकान्त है, समस्त पाखण्डो के समुदाय अनेकान्त की जय हो।' यद्यपि पातञ्जलदर्शन, भास्करीयवेदान्त, भाट्ट आदि दर्शनो में भी इस समन्वयदृष्टि का उपयोग हुआ है; पर स्याद्वाद के ऊपर ही सख्याबद्ध शास्त्रो की रचना जैनाचार्यों ने ही की है। उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने यद्यपि भग० महावीर की उसी पुनीत अनेकान्तदृष्टि के अनुसार ही शास्त्ररचना की है; पर वह मध्यस्थभाव अंशतः परपक्ष-खडन में बदल गया। यद्यपि यह अवश्यक था कि–प्रत्येक एकान्त में दोष दिखाकर अनेकान्त की सिद्धि की जाय, फिर भी उसका सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि भग० महावीर की वह मानस अहिंसा ठीक-शत-प्रतिशत उसीरूपमें तो नहीं ही रही।

विचार विकास की चरमरेखा–भारतीय दर्शनशास्त्रो में अनेकान्त दृष्टि के आधार से वस्तु के स्वरूप के प्ररूपक जैनदर्शन को हम विचारविकास की चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखा से मेरा तात्पर्य यह है कि–दो विरुद्ध वादों में तब तक शुष्कतर्कजन्य कल्पनाओ का विस्तार होता जायगा जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी हल-समाधान न हो जाय। जब अनेकान्तदृष्टि उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर देगी तब झगडा किस बात का और शुष्क तर्कजाल किस लिए? तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती तब तक विवाद बराबर बढ़ता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्तदृष्टि से अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी तब वादो का स्रोत अपने आप सूख जायगा।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश–इसलिए हम अनेकान्त दृष्टि को न्यायाधीश के पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। यह दृष्टि न्यायाधीश की तरह उभयपक्ष को समुचितरूप से समझकर भी अपक्षपातिनी है। यह मौजूदा यावत् विरोधी वादरूपी मुदई मुद्दाहलो का फैसला करनेवाली है। यह हो सकता है कि–कदाचित् इस दृष्टि के उचित उपयोग न होने से किसी फैसले में अपील को अवसर मिल सके। पर इसके समुचित उपयोग से होने-वाले फैसले में अपील की कोई गुंजाइश नहीं रहती। उदाहरणार्थ–देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-फुआ के भाई हैं। रामचन्द्र देवदत्त का पिता है तथा यज्ञदत्त का मामा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनो ही बड़े बुद्धिशाली लडके हैं। देवदत्त जब रामचन्द्र को पिता कहता है तब यज्ञदत्त देवदत्त से लड़ता है और कहता है कि–रामचन्द्र तो मामा है तू उसे पिता क्यो कहता है? इसी तरह देवदत्त भी यज्ञदत्त से कहता है कि–वाह! रामचन्द्र तो पिता है उसे मामा नही कह सकते। दोनो शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं। यज्ञदत्त कहता है कि–देखो, रामचन्द्र मामा है, क्योकि वे हमारी माँ के भाई है, हमारे बडेभाई भी उसे मामा ही तो कहते है आदि। देवदत्त कहता है–वाह! रामचन्द्र तो पिता है, क्योकि उसके भाई हमारे चाचा होते है, हमारी माँ उसे स्वामी कहती है आदि। इतना ही नहीं, दोनो में इसके फलस्वरूप हाथापाई हो जाती है। एक दूसरे का कट्टर शत्रु बन जाता है।

बुद्ध की मध्यमप्रतिपदा केवल आचार की समाधानी के लिए उपयुक्त होती थी, वह आचार का व्यवहार्य से व्यवहार्य मार्ग ढूँढ़ती थी। उसने विचार के अपरिमित क्षेत्र में अपना कार्य बहुत कम किया।

जब बुद्ध ने स्वयं 'मध्यमप्रतिपदा' को विचार के क्षेत्रों में दाखिल नहीं किया तब उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों से तो इसकी आशा ही नहीं की जा सकती थी। बुद्ध के उपदेशों में आए हुए क्षणिक, निरात्मक, विभ्रम, परमाणुपुञ्ज, विज्ञान, शून्य आदि एक एक शब्द को लेकर उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों ने अनन्त कल्पनाजाल से क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, विभ्रमवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, आदि वादों को जन्म देकर दर्शनक्षेत्र में बड़ा भारी तूफ़ान मचा दिया। यह तूफ़ान मामूली नहीं था, इससे वैदिक दर्शनों की चिरकालीन परम्परा भी काँप उठी थी। बुद्ध ने तो मार-काम विजय के लिए, विषय-कषायों को शान्तकर चित्त शोधन के लिए जगत् को जलबुद्बुद की तरह क्षणिक-विनाशशील कहा था। निरात्मक शब्द का प्रयोग तो इसलिए था कि—'यह जगत् आत्मस्वरूप से भिन्न है, नित्य कूटस्थ कोई आत्मा नहीं है जिसमें राग किया जाय, जगत् में आत्मा का हितकारक कुछ नहीं है' आदि समझकर जगत् से विरक्ति हो। संसार को स्वप्न की तरह विभ्रम एवं शून्य भी इसीलिए कहा था कि—उससे चित्त को हटाकर चित्त को विशुद्ध किया जाय। स्त्री आदि राग के साधन पदार्थों को एक, नित्य, स्थूल, अमुक संस्थानवाली, वस्तु समझकर उसके मुख आदि अवयवों का दर्शन-स्पर्शनकर रागद्वेषादि की अमरवेल फलती है। यदि उन्हें स्थूल अवयवी न समझकर परमाणुओं का पुञ्ज ही समझा जायगा तो जैसे मिट्टी के ढेले में हमें राग नहीं होता उसी तरह स्त्री आदि से विरक्त होने में चित्त को मदद मिलेगी। इन्हीं पवित्र मुमुक्षुभावनाओं को सुभावित करने के लिए करुणामय बुद्ध के हृदयग्राही उपदेश होते थे। उत्तरकाल में इन मुमुक्षुभावनाओं का लक्ष्य यद्यपि वही रहा पर समर्थन का ढँग बदला। उसमें परपक्ष का जोरों से खंडन शुरू हुआ तथा बुद्धिकल्पित विकल्पजालों से बहुविध पन्थों और ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन बुद्धि-वाग्वैभवशाली आचार्यों ने बुद्ध की उस मध्यमप्रतिपदा का इस नए क्षेत्र में जरा भी उपयोग नहीं किया। मध्यमप्रतिपदा शब्द का अपने ढँग से शाब्दिक आदर तो किया पर उसके प्राणभूत समन्वय के तत्त्व का बुरी तरह कचूमर निकाल डाला। विज्ञान-वादियों ने मध्यमप्रतिपदा को विज्ञानस्वरूप कहा तो विभ्रमवादियों ने उसे विभ्रमरूप। शून्यवादियों ने तो मध्यमप्रतिपदा को शून्यता का पर्यायवाची ही लिख दिया है—

"मध्यमा प्रतिपत् सैव सर्वधर्मनिरात्मता। भूतकोटिश्च सैवेय तथता सर्वशून्यता॥"

—अर्थात् सर्वशून्यता को ही सर्वधर्मनैरात्म्य तथा मध्यमा प्रतिपत् कहते हैं। यही वास्तविक तथा तथ्यरूप है।

इन अहिंसा के पुजारियों ने मध्यमप्रतिपदा के द्वारा वैदिक संस्कृति का समन्वय

कता थी। वे बुद्धिजीवी या कल्पनालोक में विचरण करनेवाले नहीं थे। उन्हे तो सर्वाङ्गीण अहिंसाप्रचार का सुलभ रास्ता निकाल कर जगत् को शान्ति का सहज सन्देश देना था। उन्हे मस्तिष्क के शुष्क कल्पनात्मक व्यायाम की अपेक्षा हृदय से निकली हुई व्यवहार्य अहिंसा की छोटी सी आवाज ही अधिक कारगर मालूम होती थी। यह ठीक है कि–बुद्धिजीवीवर्ग जिसका आचरण से विशिष्ट सम्पर्क न हो, बैठेठाले अनन्तकल्पना जाल से ग्रन्थ गूँथा करे और यही कारण है कि–बुद्धिजीवीवर्ग द्वारा वैदिक दर्शनो का पर्याप्त प्रसार हुआ। पर कार्यक्षेत्र में तो केवल कल्पनाओ से ही निर्वाह नहीं हो सकता था; वहाँ तो व्यवहार्य मार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं था। भग० महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शन की जान कहते हैं, एक वह व्यवहार्यमार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोग से मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है। इस तरह भग० महावीर की यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्यस्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुलसत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शन ने इस अनेकान्तदृष्टि के आधार से बनी हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के समर्थनद्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पापप्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादो में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकों ने अशतः परपक्ष का खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया। इसी दृष्टि के विविध प्रकार से उपयोग के लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदि का निरूपण हुआ। इस तरह भग० महावीर ने अपनी अहिंसा की पूर्णसाधना के लिए अनेकान्तदृष्टि का अविर्भाव करके जगत् को वह ध्रुवबीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग संसार को पूर्ण सुख-शान्ति का लाभ करा सकता है।

नय–जब भग० महावीर ने मानस अहिंसा की पूर्णता के लिए अनेकान्तदृष्टि का सिद्धान्त निकाला, तब उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए कुछ तफसीली बाते सोचना आवश्यक हो गया कि कैसे इस दृष्टि से प्रचलित वादो का उचित समीकरण हो? इस अनेकान्तदृष्टि की कामयाबी के लिए किए गए मोटे मोटे नियमो का नाम नय है। साधारणतया विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते है–१ ज्ञानाश्रयी, २ अर्थाश्रयी, ३ शब्दाश्रयी। कोई व्यक्ति ज्ञान की सीमा में ही अपने विचारो को दौड़ाता है उसे अर्थ की स्थिति की कोई परवाह ही नहीं रहती। ऐसे मनसूबा बॉधनेवाले, हवाई किले बनानेवाले, शेखचिल्ली की तरह विचारो की धुन में ही मस्त रहनेवाले लोग अपने विचारो को ज्ञान ही ज्ञान–कल्पनाक्षेत्र में ही दौडाते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग अर्थानुसारी विचार करते हैं। अर्थ में एकओर एक, नित्य और व्यापीरूपसे चरम अभेद की कल्पना की

राग-द्वेष का भाव जाग्रत हुए बिना न रहेगा। इस मानस अहिंसा के बिना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमंडनरूप ही है। यह तो और भी कठिन है कि–'किसी वस्तु के विषय में दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हो, और उनका अपने अपने ढंग से समर्थन ही नहीं उसकी सिद्धि के लिए वादविवाद भी करते हो, फिर भी वे एक दूसरे के प्रति समता-भाव-मानस अहिंसा रख सकें।' भग० महावीर ने इसी मानसशुद्धि के लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मा वस्तु के एक एक अंश को ग्रहण करके भी पूर्णता का अभिमान करने के कारण विरुद्धरूप से भासमान अनेक दृष्टियों का समन्वय करनेवाली, विचारो का वास्तविक समझौता करानेवाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टि को सामने रखा। जिससे एक वादी इतर-वादियों की दृष्टि का तत्त्व समझ कर उसका उचित अंश तक आदर करे, उसके विचारों के प्रति सहिष्णुता का परिचय दे, और राग-द्वेषविहीन हो शान्त चित्त से वस्तु के पूर्णस्वरूप तक पहुँचने की दिशा में प्रयत्न करे। समाजरचना या सघनिर्माण में तो इस तत्त्व की खास आवश्यकता थी। सघ में तो विभिन्न सम्प्रदाय एवं विचारो के चित्र विचित्र व्यक्ति दीक्षित होते थे। उनका समीकरण इस यथार्थदृष्टि के बिना कर सकना अत्यन्त कठिन था, और समन्वय किए बिना उनके चित्त की स्थिरता संभव ही नहीं थी। ऊपरी एकीकरण से तो कभी भी विस्फोट हो सकता था और इस तरह अनेको सघ छिन्न-भिन्न हुए भी।

अनेकान्तदृष्टि के मूल में यह तत्त्व है कि–वस्तु स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, अनन्त-धर्मों का एक अखण्ड पिण्ड है। वचन उसके पूर्ण स्वरूप की ओर इशारा तो कर सकते हैं, पर उसे पूर्णरूप से कह नहीं सकते। लिहाजा एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने अपने दृष्टिकोणो से देखते हैं तथा उनका निरूपण करते हैं। इस लिए यदि विरोध भासित हो सकता है तो एक एक अश को ग्रहण करके भी अपने में पूर्णता का अभि-मान करनेवाली दृष्टियो में ही। जब हम एक अंश को जाननेवाली अपनी दृष्टि में पूर्णता का अभिमान कर बैठेंगे तो सहज ही द्वितीय अश को जानकर भी पूर्णताभिमानिनी दूसरी दृष्टि उससे टकराएगी। यदि अनेकान्तदृष्टि से हमें यह मालूम हो जाय कि–ये सब दृष्टियाँ वस्तु के एक एक धर्मों को ग्रहण करनेवाली हैं, इनमें पूर्णता का अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः द्वितीय दृष्टि को, जो अभी तक विरुद्ध भासित होती थी, उचित स्थान एवं आदर मिल जायगा। इसी को आचार्यों ने शास्त्रीय शब्दो में कहा है कि–'एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं हैं, किन्तु बुद्धिगत है। अतः बुद्धि के शुद्ध होते ही एकान्त का नामोंनिशान भी नहीं रहेगा।' इसी समन्वयात्मक दृष्टि से होनेवाला वचनव्यवहार स्याद्वाद कहलाता है। यह अनेकान्त-ग्राहिणी दृष्टि प्रमाण कही जाती है। जो दृष्टि वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करके भी इतरधर्मग्राहिणी दृष्टियो का प्रतिक्षेप नहीं करके उन्हे उचित स्थान दे वह नय कहलाती है। इस तरह मानस अहिंसा के कार्य-कारणभूत अनेकान्त-दृष्टि के निर्वाह एव विस्तार के लिए स्याद्वाद, नयवाद, सप्तभगी आदि विविध रूपो में

कि एक-अभेद अंश की मुख्यता होने पर दूसरी-भेददृष्टि गौण हो जाय। यही सापेक्ष-भाव नय का प्राण है। इस सापेक्षता के अभाव में नयदृष्टि सुनयरूप न रहकर दुर्नय बन जाती है। "सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः" यह स्पष्ट ही कहा है।

इस संक्षिप्त कथन में यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो दो प्रकार की दृष्टियाँ ही मुख्यरूप से कार्य करती हैं–एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियों का आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना अभेद या भेद दो ही रूप से की जा सकती है। उस कल्पना का प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यो न हो। इन दो मूल आधारो को द्रव्यनय और पर्यायनय नाम से व्यवहृत किया है। देश, काल तथा आकार जिस किसी भी रूप से अभेद ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है तथा भेदग्राही पयायार्थिक नय है। इन्हे मूलनय कहते हैं, क्योंकि समस्त विचारों का मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादि नय तो इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, निश्चय-व्यवहार, शुद्धनय-अशुद्धनय आदि शब्द इन्हीं के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

चूँकि नैगमनय संकल्पमात्रग्राही है, तथा संकल्प या तो अर्थ के अभेद अश को विषय करता है या भेद अंश को। इसीलिये अभेदसंकल्पी नैगन का संग्रहनय में तथा भेदसकल्पी नैगम का व्यवहारनय में अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेन ने नैगमनय को स्वतन्त्र नय नहीं माना है। इनके मत से संग्रहादि छह ही नय हैं।

अकलंकदेव ने नैगमनय को अर्थनय मानकर ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नयो का अर्थ-नयरूप से तथा शब्द आदि तीन नयो का शब्दनयरूप से विभाग किया है। नय तथा दुर्नय का निम्न लक्षण समझना चाहिए–भेदाभेदात्मक, उत्पादव्ययध्रौव्यरूप, समान्यविशेषात्मक पदार्थ अखण्डरूपसे प्रमाण का विषय होता है। उसके किसी एक धर्म को मुख्य तथा इतरधर्मों को गौणरूपसे विपय करनेवाला ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है। जब वही अभिप्राय इतरधर्मों को गौण नहीं करके उनका निरास करने लगता है तब वह दुर्नय कहलाता है। तात्पर्य यह कि -प्रमाण में अनेकधर्मवाली पूर्ण वस्तु विषय होती है, नय में एक धर्म मुख्यरूपसे विषय होकर भी इतरधर्मों के प्रति उपेक्षा-गौणता रहती है, जब कि दुर्नय इतरधर्मों का ऐकान्तिक निरास कर देता है।

नैगम-नैगमाभास–यद्यपि अकलकदेव ने राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नैगमनय का 'सङ्कल्पमात्रग्राही' यह ज्ञानाश्रितव्यवहार का समन्वय करनेवाला लक्षण किय। है, पर लघीयस्त्रय में वे नैगमनय को अर्थ की परिधि में लाकर उसका यह लक्षण करते है–"गुण-गुणी या धर्म-धर्मी में किसी एक को गौण तथा दूसरे को मुख्यता से ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे जीव के स्वरूपनिरूपण में ज्ञानादिगुण गौण होते है तथा ज्ञानादिगुणों के वर्णन में जीव।" गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा

अनेकान्तदृष्टिवाला रामचन्द्र पास के कमरे से अपने होनहार लड़कों की कल्पनाशक्ति एवं बुद्धिपटुता से प्रसन्न होकर भी उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा-मारपीट से खिन्न हो जाता है। वह उन दोनो की गलती समझ जाता है और उन्हे बुलाकर धीरे से समझाता है–बेटा देवदत्त, यह ठीक है कि मै तुम्हारा पिता हूँ, पर केवल तुम्हारा पिता ही तो नहीं हूँ, इसका मामा भी तो हूँ। इसी तरह यज्ञदत्त को समझाता है कि–बेटा यज्ञदत्त, तुम भी ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा तो मामा ही हूँ, पर यज्ञदत्त का पिता भी तो हूँ। यह सुनते ही दोनो भाइयो की दृष्टि खुल जाती है। वे झगड़ना छोड़कर आपस में बड़े हेलमेल से रहने लगते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि–एक एक धर्म के समर्थन में वस्त्वंश को लेकर घढ़ीं गईं दलीलें तब तक बराबर चालू रहेगी और एक दूसरे का खडन ही नहीं किन्तु उससे होनेवाले रागद्वेष–हिंसा की परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्त-दृष्टि उनकी चरमरेखा बनाकर समन्वय न कर देगी। इसके बाद तो मस्तिष्क के व्यायामस्वरूप दलीलो का दलदल अपने आप सूख जायगा।

प्रत्येक पक्षके वकीलो द्वारा अपने पक्षसमर्थन के लिए सङ्कलित दलीलों की फाइल की तरह न्यायाधीश का फैसला भले ही आकार में बड़ा न हो, पर उसमे वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एव सूक्ष्मता के साथ ही साथ निष्पक्षपातिता अवश्य ही रहती है। उसी तरह एकान्तके समर्थन में प्रयुक्त दलीलो के भण्डारभूत एकान्तवादी दर्शनो की तरह जैनदर्शन में कल्पनाओ का चरम विकास न हो और न उसका परिमाण ही अधिक हो; पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, तटस्थवृत्ति एव अहिंसाधारता में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि उत्तरकाल में मध्यकालीन आचार्यो द्वारा अशत: परपक्ष-खडन में पडने के कारण उस मध्यस्थता का उसरूप में निर्वाह न हुआ हो; पर वह दृष्टि उनके पास सदा जाग्रत रही, और उसीके श्रेयःप्रकाश मे उन्होंने परपक्ष को भी नय-दृष्टि से उचित स्थान दिया। जिस तरह न्यायाधीश के फैसले के उपक्रम में उभयपक्षीय वकीलोकी दलीलो के बलाबल की जॉच मे एक दूसरे की दलीलों का यथासभव उपयोग होकर अन्त मे उनके निःसार भाग की समालोचनापूर्वक व्यवहार्य फैसला होता है। उसी तरह जैनदर्शन में एक एकान्त के खण्डनार्थ या उसके बलाबल की जॉच के लिए द्वितीय एकान्तवादी की दलीलो का पर्याप्त उपयोग देखा जाता है। अन्त में उनकी समालोचना होकर उनका समन्वयात्मक फैसला दिया गया है। एकान्तवादी दर्शनो के समन्वयात्मक फैसले की ये मिसलें ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

बात यह है कि–भग० महावीर कार्यशील अहिंसक व्यक्ति थे। वे वादी नहीं थे किन्तु सन्त थे। उन्हे वाद की अपेक्षा कार्य-सदाचरण अधिक पसन्द था, और जब तक हवाई बातो से कार्योपयोगी व्यवहार्य मार्ग न निकाला जाय तब तक कार्य होना ही कठिन था। मानस-अहिंसा के संवर्द्धन, परिपोषण के लिए अनेकान्तदृष्टिरूपी संजीवनी की आवश्य-

जो ज्ञानस्वरूप नहीं है वह ज्ञान के समवाय से भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है? यदि अज्ञ वस्तु भी ज्ञान-के समवाय से 'ज्ञ' हो जाय; तो समवाय स्वयं 'ज्ञ' बन जायगा; क्योंकि समवाय आत्मा में ज्ञान का सम्बन्ध तभी करा सकता है जब वह स्वय ज्ञान और आत्मा से सम्बन्ध रखे। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियो से असम्बद्ध रहकर सम्बन्धबुद्धि नहीं करा सकता। अतः यह मानना ही चाहिये कि—ज्ञानपर्यायवाली वस्तु ही ज्ञान के सम्बन्ध को पा सकती है। अतः वैशेषिक का गुण आदि का गुणी आदि से निरपेक्ष—सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

इसी तरह साख्य का ज्ञान सुखादि को आत्मा से भिन्न मानना नैगमाभास है। वह मानता है कि—सत्त्वरजस्तमोरूप-त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसी में आविर्भूत तथा तिरोहित होते हैं। इसी प्रकृति के संसर्ग से पुरुष में ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप व्यक्त-कार्य की दृष्टि से दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्तस्वरूप से अदृश्य है। पुरुष चेतनरूप तथा कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। इस तरह वह चैतन्य से बुद्धि को भिन्न समझकर उसे पुरुष से भी भिन्न मानता है। उसका यह ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद मानना भी नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य तथा ज्ञान में कोई भेद नहीं है। बुद्धि, उपलब्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। यदि चैतन्य पुरुष का धर्म हो सकता है; तो ज्ञान को भी उसीका ही धर्म होना चाहिये। प्रकृति की तरह पुरुप भी ज्ञानादिरूप से दृश्य होता है। 'सुख ज्ञानादिक सर्वथा अनित्य है, चैतन्य सर्वथा नित्य है' यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि पर्यायदृष्टि से उनमें अनित्यता रहने पर भी चैतन्यसामान्य की अपेक्षा नित्यता भी है। इस तरह वैशेषिक का गुण-गुण्यादि मे सर्वथा भेद मानना तथा साख्य का पुरुष से बुद्ध्यादि का भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि इनमें अभेद अश का निराकरण ही हो गया है।

संग्रह-संग्रहाभास—समस्त पदार्थों को अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय सग्रह-नय है। यह परसंग्रह तथा अपरसग्रह के भेद से दो प्रकार का है। परसंग्रह मे सत् रूप से समस्त पदार्थों का सग्रह किया जाता है, तथा अपरसग्रह में द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्यों का, गुणरूपसे समस्त गुणो का, गोत्वरूपसे समस्त गौओ का आदि। यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक कि भेद अपनी चरम कोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते करते ऋजुसूत्र नय के विषयभूत एक वर्त्तमान कालीन अर्थपर्याय तक पहुँचता है तब अपरसग्रह की मर्यादा समाप्त हो जाती है। अपरसग्रह और व्यव-हारनय का क्षेत्र तो समान है पर दृष्टि मे भेद है। जब अपरसंग्रह में तद्गत अभेदाश के द्वारा संग्रह की दृष्टि है तब व्यवहारनय में भेद की ही प्रधानता है। परसग्रहनय की दृष्टि में सद्रूप से सभी पदार्थ एक हैं उनमें कोई भेद नहीं हैं। जीव अजीव आदि सभी सद्रूप से अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नीलादि अनेक आकारो में व्याप्त है उसी तरह सन्मात्रतत्त्व सभी पदार्थों में व्याप्त है, जीव अजीव आदि सब उसी के भेद

जा सकती है, तो दूसरीओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टिसे अन्तिम भेद की कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनो चरम कोटियो के मध्य की है। पहिली प्रकार की कोटि में सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करने वाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तु की सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्याय के ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक, निरंश परमाणुवादी बौद्ध है। तीसरी कोटि में पदार्थ को नानारूप से व्यवहार में लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। तीसरे प्रकार के व्यक्ति है भाषाशास्त्री, जिन्हें शब्दो के बाल की खाल खींचने में ही मजा आता है। ये लोग एक अर्थ की हर एक हालत में विभिन्न शब्द के प्रयोग को मानते हैं। इनका तात्पर्य है कि–भिन्नकालवाचक, भिन्न कारको में निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्यायवाचक, भिन्नक्रियावाचक शब्द एक अर्थ को नहीं कह सकते। शब्दभेद से अर्थ भेद होना ही चाहिए। उपर्युक्त ज्ञान, अर्थ और शब्द का आश्रय लेकर होनेवाले विचारो के समन्वय के लिए किए गए स्थूल मूल नियमों को नय कहते हैं।

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहार का सकल्प-विचारमात्र को ग्रहण करनेवाले नैगमनय में समावेश हुआ। अर्थाश्रित अभेदव्यवहार का, जो "आत्मैवेद सर्वम्, एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्वाक्यों से प्रकट होता है, सग्रहनय में अन्तर्भाव किया गया। इसके आगे तथा एकपरमाणु की वर्तमानकालीन एक अर्थपर्याय से पहिले होनेवाले यावद् मध्यवर्ती भेदो का जिनमें न्याय वैशेपिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहारनय में समावेश किया। अर्थ की आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणमात्रस्थायिता को ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनय में शामिल हुई। यहाँ तक अर्थ को सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियो का नम्बर आया। काल, कारक, सख्या तथा धातुके साथ लगने वाले भिन्न भिन्न उपसर्ग आदि की दृष्टि से प्रयुक्त होनेवाले शब्दो के वाच्य अर्थ भिन्न भिन्न हैं, इस कालकारकादिवाचक शब्दभेद से अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टि का शब्दनय में समावेश हुआ। एक ही साधन मे निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। इन पर्यायवाची शब्दो से भी अर्थभेद माननेवाली समभिरूढनय की दृष्टि है। एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रिया में परिणत हो उसी समय उसमे तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द का प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टि से सभी शब्द क्रिया से निष्पन्न हैं। गुणवाचक शुक्ल शब्द भी शुचिभवनरूप क्रिया से, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रिया से, क्रियावाचक चलति शब्द चलने रूप क्रिया से, नाम-वाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' इस क्रिया से निष्पन्न हुए है। इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दरूप से होनेवाले यावद्व्यवहारो का समन्वय इन नयों में किया गया है। पर यह समन्वय एक खास शर्त पर हुआ है। वह शर्त यह है कि– कोई भी दृष्टि अपनी प्रतिपक्षी दृष्टि का निराकरण नहीं कर सकेगी। इतना हो सकता है

का संग्रह करनेवाला संग्रहनय है। इस नय की दृष्टि से कह सकते हैं कि–विश्व एक है, अद्वैत है; क्योंकि सन्मात्रतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह ध्यान रहे कि–इस नय में शुद्ध सन्मात्र विषय होने पर भी भेद का निराकरण नहीं है, भेद गौण अवश्य हो जाता है। यद्यपि अद्वयब्रह्मवाद भी सन्मात्रतत्त्व को विषय करता है पर वह भेद का निराकरण करने के कारण संग्रहाभास है। नय सापेक्ष–प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा दुर्नय निरपेक्ष–परपक्ष का निराकरण करनेवाला होता है।

व्यवहार-व्यवहाराभास–संग्रहनय के द्वारा गृहीत अर्थ में विधिपूर्वक अविसंवादी-वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहार नय है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, वस्तुस्थिति की अपेक्षा न करनेवाली भेद-कल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञानरूप से चलता है। जैसे जीवव्यवहार जीव अर्थ, जीवशब्द तथा जीवविषयक ज्ञान इन तीनो प्रकारो से हो सकता है। 'वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य प्रमाण से अविरोधी होने के कारण तथा लोकव्यवहार में अविसंवादी होने से प्रमाण हैं, एवं पूर्वापर के अविरोधी होने से ये सद्व्यवहार के विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ व्यवहाराभास हैं; जैसे सौत्रान्तिक का जड या चेतन सभी पदार्थों को क्षणिक, निरंश, परमाणुरूप मानना, योगाचार का क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, तथा माध्यमिक का सर्वशून्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास प्रमाणविरोधी तथा लोकव्यवहार में विसंवादक होते हैं। जो भेदव्यवहार अभेद की अपेक्षा रखेगा वही व्यवहारनय की परिधि में आयगा, तथा जो अभेद का निराकरण करेगा वह दुर्व्यवहार–व्यवहाराभास कहलायगा।

ऋजुसूत्र-तदाभास–ऋजुसूत्र नय पदार्थ की एक क्षणरूप शुद्ध वर्त्तमानकालवर्ती अर्थपर्याय को विषय करनेवाला है। इसकी दृष्टि में अभेद कोई वास्तविक नहीं है। चित्र-ज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानो का समुदायमात्र है। इस तरह समस्त जगत् एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है, एक पर्याय दूसरी पर्याय से भिन्न है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि स्थूलदृष्टिवाले लोगो को मालूम नहीं होता। जैसे परस्पर में विभिन्न भी वृक्ष दूर से सघन तथा एकाकार रूपसे प्रतिभासित होते हैं, ठीक इसी तरह अभेद एक प्रातिभासिक वस्तु है। इस नय की दृष्टि में एक या नित्य कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि भेद और अभेद का परस्पर में विरोध है। इस तरह यह ऋजुसूत्र नय यद्यपि भेद को मुख्यरूप से विषय करता है पर वह अभेद का प्रतिक्षेप नहीं करता। यदि अभेद का प्रतिक्षेप कर दे तो बौद्धाभिमत क्षणिकतत्त्व की तरह ऋजुसूत्राभास हो जायगा। सापेक्ष ही नय होता है। निरपेक्ष तो दुर्नय कहलाता है। जिस प्रकार भेद का प्रतिभास होने से वस्तु में भेद की व्यवस्था है उसी तरह जब अभेद का भी प्रतिभास होता है तो उसकी भी व्यवस्था होनी ही चाहिए। भेद और अभेद दोनो ही सापेक्ष हैं। एक का लोप करने से दूसरे का लोप होना अवश्यम्भावी है।

सामान्य-विशेष मे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योकि–गुण गुणी से अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखता और न गुणो की उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, तथा सामान्य-विशेष मे भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदि से बिलकुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हो; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होने के कारण गुण-गुण्यादिभाव नहीं बन सकेगा। अवयवी यदि अवयवो से सर्वथा पृथक् है; तो उसकी अपने अवयवो मे वृत्ति–सम्बन्ध मानने में अनेको दूषण आते हैं। यथा–अवयवी अपने प्रत्येक अवयवो मे यदि पूर्णरूप से रहता है, तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी सिद्ध होगे। यदि एकदेश से रहेगा; तो जितने अवयव हैं अवयवी के उतने ही देश मानना होगे, उन देशो मे भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देश से' इत्यादि विकल्प होने से अनवस्था दूषण आता है।

सत्तासामान्य का अपनी व्यक्तियो से सर्वथा भेद मानने पर, सत्तासम्बन्ध से पहिले द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियो को सत् माना जाय, या असत्? यदि वे असत् हैं; तो उनमे सत्तासम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्ता सर्वथा असत् खरविषाणादि में तो नहीं रहती। यदि वे सत् हैं, तो जिस प्रकार स्वरूपसत् द्रव्यादि में सत्तासम्बन्ध मानते हो उसी तरह स्वरूपसत् सामान्यादि में भी सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अथवा जिस प्रकार सामान्यादि स्वरूपसत् हैं उनमे किसी अन्य सत्ता के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह द्रव्य, गुण, कर्म को भी स्वरूपसत् ही मानना चाहिए। स्वरूपसत् में अतिरिक्त सत्ता का समवाय मानना तो बिलकुल ही निरर्थक है। इसी तरह गोत्वादि जातियों को शाबलेयादि व्यक्तियो से सर्वथा भिन्न मानने में अनेको दूषण आते हैं। यथा–जब एक गौ उत्पन्न हुई; तब उसमे गोत्व कहाँ से आयगा? उत्पन्न होने के पहिले गोत्व उस देश में तो नहीं रह सकता; क्योकि गोत्वसामान्य गोविशेष में ही रहता है गोशून्य देश में नहीं। निष्क्रिय होने से गोत्व अन्य देश से आ नहीं सकता। यदि अन्य देश से आवे भी, तो पूर्वपिण्ड को एकदेश से छोड़ेगा या बिलकुल ही छोड़ देगा? निरंश होने के कारण एकदेश से पूर्वपिण्ड को छोड़ना युक्तिसगत नहीं है। यदि गोत्व पूर्णरूप से पूर्व गोपिण्ड को छोड़कर नूतन गौ में आता है, तब तो पूर्वपिण्ड अगौ-गोत्वशून्य हो जायगा, उसमें गौव्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि गोत्व-सामान्य सर्वगत है; तो गोव्यक्तियो की तरह अश्वादिव्यक्तियो में भी गोव्यवहार होना चाहिए।

अवयव और अवयवी के सम्बन्ध में एक बड़ी विचित्र बात यह है कि–संसार तो यह मानता है कि पट में तन्तु, वृक्ष में शाखा तथा गौ में सींग रहते हैं, पर 'तन्तुओं में पट, शाखाओं में वृक्ष तथा सींग में गौ' का मानना तो सचमुच एक अलौकिक ही बात है। अतः गुण आदि का गुणी आदि से कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तिसगत है। कथञ्चित्तादात्म्य का तात्पर्य यह है कि–गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं उनसे भिन्न नहीं है।

क्रिया कर रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कह सकते हैं दूसरे समय में नहीं। समभिरूढ नय उस समय क्रिया हो या न हो, पर अतीत अनागत क्रिया या उस क्रिया की योग्यता होने के कारण तच्छब्द का प्रयोग मान लेता है। पर एवम्भूत नय क्रिया की मौजूदगी में ही तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। इस नय की दृष्टि से जब कार्य कर रहा है तभी कारक कहा जायगा, कार्य न करने की अवस्था मे कारक नहीं कहा जा सकता। क्रियाभेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न मानना एवम्भूताभास है।

इन नयो में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होने से सत् असत् दोनों को विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रह नय उससे सूक्ष्म एवं अल्पविषयक होता है। सन्मात्रग्राही संग्रह नय से सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनय से वर्तमानकालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दभेद होने पर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्र से कालादिभेद से शब्द-भेद मानकर भिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायभेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाले शब्दनय से पर्यायवाची शब्दो के भेद से अर्थभेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ। क्रियाभेद से अर्थभेद नहीं माननेवाले समभिरूढ से क्रियाभेद होने पर अर्थभेदग्राही एवम्भूत परमसूक्ष्म एव अत्यल्पविषयक होता है।

---

§ ४. निक्षेपनिरूपण–

निक्षेप–अखण्ड एव अनिर्वचनीय वस्तु को व्यवहार में लाने के लिए उसमें भेद कल्पना करने को निक्षेप कहते हैं। व्यवहार ज्ञान, शब्द तथा अर्थरूप से तीन प्रकार का होता है। शब्दात्मक व्यवहार के लिए ही वस्तु का देवदत्त आदि नाम रखा जाता है। अतः शब्दव्यवहार के निर्वाह के लिए नाम निक्षेप की सार्थकता है। ज्ञानात्मक-व्यवहार के लिए स्थापना निक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहार के लिए द्रव्य और भाव निक्षेप सार्थक है। शब्द का प्रयोग जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तो की अपेक्षा से होता है। जाति, द्रव्य, गुण आदि निमित्तो की अपेक्षा न करके इच्छानुसार संज्ञा रखने को नामनिक्षेप कहते है। जैसे किसी बालक की गजराज संज्ञा मात्र इच्छानुसार ही की गई है, उसमें गजत्व-जाति, गज के गुण, गजकी क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकारवाली प्रतिमा या चित्र में स्थापना करना सद्भाव या तदाकार स्थापना कहलाती है। तथा भिन्न आकारवाली वस्तु में स्थापना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना कहलाती है, जैसे शतरंज के मुहरों में घोड़े आदि की स्थापना। भविष्यत्कालीन राजपर्याय की योग्यता के कारण या बीती हुई राजपर्याय का निमित्त लेकर वर्त्तमान में किसी को राजा कहना द्रव्य निक्षेप है। तत्पर्यायप्राप्त वस्तु में तद्-व्यवहार को भावनिक्षेप कहते हैं, जैसे वर्तमान राजपर्यायवाले राजा को ही राजा कहना।

है। कोई भी ज्ञान सन्मात्र द्रव्य को बिना जाने भेदों को नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्र से बाहिर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादि में प्रवृत्ति करे या बाह्य नीलादि अचेतन पदार्थों में, वह सद्रूप से अभेदांश को विषय करता ही है। संग्रहनय की इस अभेददृष्टि से सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्ध की भेद दृष्टि है। जिसमें अभेद को कल्पनात्मक कहकर वस्तु मे कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। इस सर्वथा भेददृष्टि के कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टि के विषयभूत पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक-अभेद के आधार पर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक वस्तु त्रिकालानुयायी होगी तभी वह नित्य कही जा सकती है। अवयवी तथा स्थूलांश दैशिक-अभेद के आधार से माने जाते जाते हैं; जब एक वस्तु अनेक अवयवों में कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलता में भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

अकलङ्कदेव कहते हैं कि—बौद्ध सर्वथा भेदात्मक स्वलक्षण का जैसा वर्णन करते हैं वैसा सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञान का विषय ही हो सकता है और न कोई अर्थक्रिया ही कर सकता है। जिस प्रकार एक क्षणिक ज्ञान अनेक आकारों में युगपद् व्याप्त रहता है उसी तरह एकद्रव्य को अपनी क्रम से होनेवाली पर्यायो में व्याप्त होने मे क्या बाधा है? इसी अनादिनिधन द्रव्य की अपेक्षा से वस्तुओ में अभेदांश की प्रतीति होती है। क्षणिक पदार्थ में कार्य-कारणभाव सिद्ध न होने के कारण अर्थक्रिया की तो बात ही नहीं करनी चाहिये। 'कारण के होने पर कार्य होता है' यह नियम तो पदार्थ को एकक्षणस्थायी माननेवालो के मत में स्वप्न की ही चीज है; क्योंकि एक क्षणस्थायी पदार्थ के सत्ताक्षण मे ही यदि कार्य की सत्ता स्वीकार की जाय; तब तो कारण और कार्य एकक्षणवर्ती हो जॉयगे और इस तरह वे कार्य-कारणभाव को असंभव बना देंगे। यदि कारणभूत प्रथमक्षण कार्यभूत द्वितीयक्षण तक ठहरे तब तो क्षणभँगवाद कहाँ रहा? क्योंकि कारणक्षण की सत्ता कम से कम दो क्षण मानना पड़ी। इस तरह कार्यकारणभाव के अभाव से जब क्षणिक पदार्थ मे अर्थक्रिया ही नहीं बनती तब उसकी सत्ता की आशा करना मृगतृष्णा जैसी ही है। और जब वह सत् ही सिद्ध नहीं होता तब प्रमाण का विषय कैसे माना जाय? जिस तरह बौद्धमत मे कारण अपने देश में रहकर भी भिन्नदेशवर्ती कार्य को व्यवस्थितरूप से उत्पन्न कर सकता है उसी तरह जब अभिन्न नित्य पदार्थ भी अपने समय में रहकर कार्य को कार्यकाल में ही उत्पन्न कर सकता है, तब अभेद को असत् क्यो माना जाय? जिस तरह चित्रज्ञान अपने आकारो में, गुणी गुणों में तथा अवयवी अपने अवयवों में व्याप्त रहता है उसी तरह द्रव्य अपनी क्रमिक पर्यायो को भी व्याप्त कर सकता है। द्रव्यदृष्टि से पर्यायो में कोई भेद नहीं है। इसी तरह सन्मात्र की दृष्टि से समस्त पदार्थ अभिन्न हैं। इस तरह अभेददृष्टि से पदार्थों

प्रथम भंग में स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु का अस्तित्व विवक्षित होता है। द्वितीय भग में परद्रव्य क्षेत्र काल भाव से नास्तित्व की विवक्षा होती है। यदि वस्तु में स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से अस्तित्व न माना जाय तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। और यदि पर का नास्तित्व न माना जाय तो वस्तु सांकर्य हो जायगा; क्योंकि घट में पटका नास्तित्व न रहने के कारण घट और पट एक हो जाना अनिवार्य ही है। यद्यपि आपाततः यह मालूम होता है कि स्वसत्त्व ही परासत्त्व है; पर विचार करने से मालूम हो जाता है कि ये दोनो एक दूसरे से फलित न होकर स्वतन्त्र धर्म हैं; क्योकि इनकी प्रवृत्ति की अपेक्षाएँ भिन्न भिन्न हैं तथा कार्य भी भिन्न हैं।

जब हम युगपद् अनन्तधर्मवाली वस्तु को कहना चाहते हैं तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो ऐसी वस्तु के सभी धर्मों का या विवक्षित दो धर्मों का युगपत् प्रधान भाव से कथन कर सके। अतः कहने की अशक्ति होने के कारण वस्तु अवक्तव्य है। वस्तुतः पदार्थ स्वरूप से ही अनिर्वचनीय है और पदार्थ की उसी स्वरूपनिष्ठ अनिर्वाच्यता का द्योतन यह अवक्तव्य नाम का तीसरा भंग करता है। सकेत के बल पर ऐसे किसी शब्द की कल्पना तो की ही जा सकती है जो दो धर्मों का भी एकरससे कथन कर सकता हो। अतः यह भङ्ग वस्तु के मौलिक वचनातीत पूर्णरूप का द्योतन करता है।

चौथा अस्ति-नास्ति भग–दोनो धर्मों की क्रम से विवक्षा होने पर बनता है। क्रम से यहाँ कालिकक्रम ही समझना चाहिये। अर्थात् प्रथम समय में अस्ति की विवक्षा तथा दूसरे समय में नास्ति की विवक्षा हो और दोनों समयो की विवक्षा को मोटी दृष्टि से देखने पर इस तृतीय भग का उदय होता है। और यह क्रम से अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

पाँचवाँ अस्ति-अवक्तव्य भग–अस्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनो समय की विवक्षाओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति-अवक्तव्य भग माना जाता है। यह क्रम से अस्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

छठवाँ नास्ति-अवक्तव्य भग–नास्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में। अर्थात् प्रथम समय में नास्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनो समयो की विवक्षाओ पर व्यापकदृष्टि रखने पर नास्ति-अवक्तव्य भग की प्रवृत्ति होती है। यह क्रम से नास्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

सातवाँ अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यभग–अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा, दूसरे समय में नास्तित्व की विवक्षा से अस्तिनास्ति भंग बना, इसीके अनन्तर तृतीय समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा तीनो समयो की विवक्षाओ पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति नास्ति-

शब्द—काल, कारक, लिंग तथा संख्या के भेद से शब्दभेद द्वारा भिन्न अर्थों को ग्रहण करनेवाला शब्दनय है। शब्दनय के अभिप्राय से अतीत अनागत एवं वर्त्तमान-कालीन क्रियाओ के साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि कर्तृ-कर्मसाधन में प्रयुक्त भी देवदत्त भिन्न भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' आदि लिंगभेद से प्रयोग में आनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में प्रयुक्त देवदत्त भी पृथक् पृथक् है। इसकी दृष्टि से भिन्नकालीन, भिन्न-कारकनिष्पन्न, भिन्नलिङ्गक एवं भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेद से अर्थभेद होना ही चाहिए। वर्त्तना-परिणमन करनेवाला तथा स्वतः परिणमनशील द्रव्यो के परिणमन में सहायक होनेवाला काल द्रव्य है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य, केवल शक्ति, तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्ति को कारक नहीं कहते, किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्य को कारक कहते हैं। लिंग चिह्न को कहते है। जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो पुत्रादि की उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष, तथा जिसमें ये दोनो सामर्थ्य न हो वह नपुंसक कहा जाता है। कालादि के ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थ में ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्री के मिलने पर षट्कारकरूप से परिणमन कर सकती है। कालादिभेद से एक द्रव्य की नाना पर्यायें हो सकती हैं। एकरूप—सर्वथा नित्य या अनित्य वस्तु मे ऐसा परिणमन नहीं हो सकता; क्योकि—सर्वथा नित्य में उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिक में स्थैर्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होने से विभिन्न कारको में निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग आदि की व्यवस्था भी एकान्त पक्ष में नहीं हो सकती। इस तरह कालादि के भेद से अर्थभेद मानकर शब्द नय उनमें विभिन्न शब्दो का प्रयोग मानता हैं। कालादि भेद से शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है।

समभिरूढ—एक कालवाचक, एक लिङ्गक तथा एक संख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दो के द्वारा अर्थ में भेद मनता है। इस नय के अभिप्राय से एक लिंगवाले इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर इन तीन शब्दों मे प्रवृत्ति-निमित्त की विभिन्नता होने से विभिन्नार्थवाचकता है। शक्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त शासन-क्रिया, इन्द्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त इन्दनक्रिया तथा पुरन्दरशब्द को प्रवृत्तिनिमित्त पूर्दारण-क्रिया है। अतः तीनो शब्द विभिन्न अवस्थाओ के वाचक है। शब्दनय में एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दो में अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढ नय में विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होने से एकलिङ्गक पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद होना अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दो की दृष्टि से अर्थ में भेद नहीं मानना समभिरूढाभास है।

एवम्भूतनय—क्रिया के भेद से भी अर्थभेद माननेवाला एवम्भूतनय है। यह नय क्रियाकाल में ही तत्क्रियानिमित्तक शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। जब इन्द्र इन्दन-

विकलादेश--नय एक धर्म का मुख्यतया कथन करता है। जैसे 'ज्ञो जीवः' कहने से जीव के ज्ञानगुण का मुख्यतया बोध होगा तथा शेषधर्म गौणरूप से उसीके गर्भ में प्रतिभासित होगे। एक धर्म का मुख्यतया बोध कराने के कारण ही यह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता जाता है। नय में भी स्यात् पद का प्रयोग किया जाता है और वह इसलिए कि--शेषधर्मों की गौणता उसमें सूचित होती रहे, उनका निराकरण न हो जाय। इसीलिए स्यात्पदलाञ्छित नय सम्यक् नय कहलाता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीव का अखण्डभाव से बोध कराता है, अतः यह सकलादेशवाक्य है। 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्यतया कथन होता है अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। तात्पर्य यह कि सकलादेश मे धर्मिवाचक शब्द के साथ एवकार का प्रयोग होता है और विकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ।

अकलकदेव ने राजवार्तिक में दोनो वाक्यो का 'स्यादस्त्येव जीव' यही उदाहरण दिया है और उनकी सकल-विकलादेशता समझाते हुए लिखा है कि--जहाँ अस्ति शब्द के द्वारा सारी वस्तु समग्रभाव से पकड़ ली जाय वहाँ सकलादेश, तथा जहाँ अस्ति के द्वारा अस्तित्वधर्ममुख्यक एव शेषानन्तधर्मगौणक वस्तु कही जाय वह विकलादेश समझना चाहिए। इस तरह दोनो वाक्यो में यद्यपि समग्र वस्तु गृहीत हुई पर सकलादेश में सभी धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुए हैं जब कि विकलादेश में एक ही धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि--'जब सकलादेश का प्रत्येक भग समग्र वस्तु का ग्रहण करता है तब सकलादेश के सातों भगो में परस्पर भेद क्या हुआ?' इसका उत्तर यह है कि--यद्यपि सभी धर्मों मे पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भग में अस्तित्व धर्म के द्वारा तथा स्यान्नास्ति भग मे नास्तित्व धर्म के द्वारा। उनमे मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि--जहाँ अस्ति शब्द का प्रयोग है वहाँ मात्र 'अस्ति' इस शाब्दिक प्रयोग ही की मुख्यता है धर्म की नहीं। शेषधर्मों की गौणता का तात्पर्य है उनका शाब्दिक अप्रयोग।

इस तरह अकलकदेव ने सातो ही भगो को सकलादेश तथा विकलादेश कहा है। सिद्धसेनगणि आदि अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भगो को एकधर्मवाली वस्तु को ग्रहण करने के कारण विकलादेश तथा शेष भगो को अनेकधर्मवाली वस्तु ग्रहण करने के कारण सकलादेश कहते है।

मलयगिरि आचार्य की दृष्टि से सब ही नय मिथ्यारूप है। इनका कहना है कि--यदि नयवाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग किया जायगा तो वे स्याच्छब्द के द्वारा सूचित अनन्तधर्मों के ग्राहक हो जाने के कारण प्रमाणरूप ही हो जायँगे। अतः प्रमाणवाक्य में ही स्याच्छब्द का प्रयोग उनके मत से ठीक है नय वाक्य में नहीं। इसी आशय से उन्होने अकलक के मत की समालोचना की है। उपा० यशोविजयजी ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि--मात्र स्यात् पद के प्रयोग से ही नयवाक्य में प्रमाणता नहीं

अप्रस्तुत अर्थका निराकरण, प्रस्तुत अर्थ का प्ररूपण एवं संशयविनाशन के लिए निक्षेप की सार्थकता है। अव्युत्पन्न श्रोता की अपेक्षा अप्रस्तुत का निराकरण करने के लिए, व्युत्पन्न की अपेक्षा यदि वह संशयित है तो संशयविनाश के लिए और यदि विपर्यस्त है तो प्रस्तुत अर्थ के प्ररूपण के लिए निक्षेप की सार्थकता है।

---

§ ५. सप्तभंगीनिरूपण–

सप्तभंगी–प्रश्न के अनुसार वस्तु में प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं। विचार करके देखा जाय तो सप्तभंगी मे मूल भग तो तीन ही हैं, बाकी भंग संयोगज हैं। आगम ग्रन्थों मे 'सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अवत्तव्वा' रूप से तीन ही भगो का निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो में हमें सात भगो के दर्शन होते हैं। अनेकान्तदृष्टि का उद्देश परस्पर विरोधी धर्मो का समन्वय करना है। वस्तुतः विरोध तो दो में ही होता है जैसे नित्यत्व का अनित्यत्व से, भेद का अभेद से इत्यादि। अतः पहिले तो परस्पर विरोधी दो धर्मों के समन्वय करने की ही बात उठती है। ऐसे अनेक विरोधी युगल वस्तु में रह सकते हैं अतः वस्तु अनेकान्तात्मक एव अनन्तधर्मा कही जाती है। अवक्तव्य धर्म तो वस्तु की वास्तविक स्थिति बतानेवाला है कि वस्तु का अखण्ड-आत्मरूप शब्दो का विषय नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी अनिर्वचनीय, अखण्ड वस्तु को कहना चाहता है, वह पहिले उसका अस्तिरूपसे वर्णन करता है पर वस्तु के पूर्ण वर्णन करने में असमर्थ होने पर नास्तिरूपसे वर्णन करता है। पर इससमय भी वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता की सीमा तक नहीं पहुँच पाता। लिहाजा कोशिश करने पर भी अन्त में उसे अवक्तव्य कहता है। शब्द में वस्तुतः इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह समग्रवस्तु का पूर्णरूपसे प्रतिपादन करे। इसी अनिर्वचनीय तत्त्व का उपनिषदो मे 'अस्ति अस्ति' रूपसे तथा 'नेति नेति' रूपसे भी वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। पर वर्णन करने वाला अपनी तथा शब्द की असामर्थ्य पर खीज उठता है और अन्त में बरबस कह उठता है कि–'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'–जिसके वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति वचन तथा मन भी नहीं कर सकते अत· वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा है वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इसी स्थिति के अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूल भंग हो सकते है। आगे के भंग तो वस्तुतः कोई स्वतन्त्र भग नहीं हैं। कार्मिक भगजाल की तरह द्विसंयोगीरूप से तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ भग का आविर्भाव हुआ तथा सप्तमभग का त्रिसंयोगी के रूप में। तीन मूल भगो के अपुनरुक्त भग सात ही हो सकते हैं। कहीं कहीं अवक्तव्य भग का नवर तीसरा है और कहीं उभय भंग का। वस्तुत· अवक्तव्य मूल भग है। अतः उसीका नवर तीसरा होना चाहिये।

खडन करते हुए 'तदाह' करके समन्तभद्र की 'घटमौलिसुवर्णार्थी, पयोव्रतो न दध्यत्ति, न सामान्यात्मनोदेति' इन तीन कारिकाओ के बीच में कुमारिल की "न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्॥" यह कारिका भी उद्धृत की है। इससे मालूम होता है कि बौद्ध ग्रन्थकारों का प्रहार भेदाभेदात्मक अंश में साख्य के साथ ही साथ जैन और जैमिनि पर समानरूप से होता था। उनका जैन के नाम से कुमारिल की कारिका को उद्धृत करना तथा समन्तभद्र की कारिका के ऊपर जैन के साथ जैमिनि का भी प्रयोग करना इस बात को स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टि में जैन और जैमिनि में भेदाभेदात्मक माननेवालों के रूप से भेद नहीं था। तत्त्व-संग्रहकार ने तो 'विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः' लिखकर इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

संशयादि आठ दूषण अभी तक किसी ग्रन्थ में एक साथ नहीं देखे गए है। शाकरभाष्य में विरोव और संशय इन दो दूषणो का स्पष्ट उल्लेख है, तत्त्वसंग्रह में साकर्य दूषण भी दिया गया है। बाकी प्रमाणवार्त्तिक आदि में मुख्यरूप से विरोध दूषण ही दिया गया है। वस्तुतः समस्त दूषणो का मूल आधार तो विरोध ही है। हाँ, स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७३८) में नैयायिक की एक कारिका 'तदुक्तम्' करके उद्धृत की है–

"संशयविरोधवैयधिकरण्यसकरमथोभयं दोषः। अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः॥"

इस कारिका में एक साथ सात दूषण गिनाए गए हैं। आठ दूषणो का परिहार भी सर्वप्रथम अकलक ने ही किया है। उन्होने लिखा है कि–जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक विरोधी रँगो को युगपत् धारण करता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मों को धारण कर सकती है। इसी मेचकरत्न के दृष्टान्त से सशयादि दोषो का परिहार भी किया है। सामान्य-विशेष का दृष्टान्त भी इसी प्रसग में दिया है–जैसे पृथिवीत्व जाति पृथिवीव्यक्तियो में अनुगत होने से सामान्यरूप होकर भी जलादि से व्यावर्तक होने के कारण विशेषात्मक है और इस तरह परस्पर विरोधी सामान्य-विशेष उभय रूपो को धारण करती है, उसी तरह समस्त पदार्थ एक होकर भी अनेकात्मक हो सकते हैं। प्रमाणसिद्ध वस्तु में विरोधादि दोषो को कोई स्थान ही नहीं है। जिस प्रकार एक वृक्ष अवयवविशेष में चलात्मक तथा अवयवविशेष की दृष्टि से अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा एकदेशेन लालरँग का तथा दूसरे देश में अन्य रँग का, एकदेशेन ढँका हुआ तथा अन्यदेश से अनावृत, एकदेशेन नष्ट तथा दूसरे देश से अनष्ट रह सकता है, उसी तरह एक वस्तु भी अनेकधर्मवाली हो सकती है। इति।

स्याद्वाद महाविद्यालय काशी
द्वि० श्रावण शुक्ल ५, नागपचमी
वीरनि० स० २४६५.

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.

अवक्तव्य भंग की सृष्टि होती है। यह क्रम से अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्यत्व धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि-प्रत्येक भंग में अपने धर्म की मुख्यता रहती है तथा शेष धर्मों की गौणता। इसी मुख्य-गौणभाव के सूचनार्थ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्, अर्थात् अमुक अपेक्षा से वस्तु इस रूप है। इससे दूसरे धर्मों का निषेध नहीं किया जाता। प्रत्येक भंग की स्थिति सापेक्ष है और इसी सापेक्षता का सूचक 'स्यात्' शब्द होता है। सापेक्षता के इस सिद्धान्त को नहीं समझने वालो के लिए प्रत्येक भंग के साथ स्यात् शब्द के प्रयोग-का नियम है; क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोग किए विना उन्हे सन्देह हो सकता है। पर यदि वक्ता या श्रोता कुशल है तब इसके प्रयोग का नियम नहीं है; क्योंकि विना प्रयोग के ही वे स्याच्छब्द के सापेक्षत्व अर्थ को बुद्धिगत कर सकते है। अथवा स्पष्टता के लिए इसका प्रयोग होना ही चाहिए। जैसे 'अहम् अस्मि' इन दो पदो में से किसी एक का प्रयोग करने से दूसरे का मतलब निकल आता है, पर स्पष्टता के लिए दोनों का प्रयोग किया जाता है। ससार में समझदारों की अपेक्षा कमसमझ या नासमझों की सख्या औसत दर्जे अधिक रहती आई है। अतः सर्वत्र स्यात् शब्द का प्रयोग करना ही राजमार्ग है।

स्यादस्ति-अवक्तव्य आदि तीन भंग परमत की अपेक्षा भी इस तरह लगाये जाते हैं कि—अद्वैतवादियो का सन्मात्र तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्य में वचन की प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धो का अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है; क्योंकि शब्द के द्वारा मात्र अन्य का अपोह करने से किसी विधिरूप वस्तु का बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिक के स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति रूप—सामान्य-विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य—शब्द के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि दोनो को स्वतन्त्र मानने से उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकेगा। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती और न वैसी हालत में कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश-विकलादेश—इन भंगो का प्रयोग दो दृष्टियों से होता है—१ सकलादेशदृष्टि, जिसे स्याद्वादशब्द से भी व्यवहृत किया गया है और यही प्रमाणरूप होती है। २ विकलादेशदृष्टि, इसे नय शब्द से कहते हैं। एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ को ग्रहण करता है, जैसे 'जीवः' कहने से ज्ञानदर्शनादि असाधारण गुणवाले, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्त्तत्व-असंख्यातप्रदेशित्व आदि साधारणासाधारण-धर्मशाली जीव का समग्र भाव से ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी धर्म एकरूप से गृहीत होते हैं अतः यहाँ गौण-मुख्यविवक्षा अन्तर्लीन हो जाती है।

आ सकती, क्योंकि प्रमाण में तो अनन्तधर्मों का मुख्यतया ग्रहण होता है जब कि सुनय में स्याच्छब्द-सूचित बाकी धर्म गौण रहते हैं आदि। अतः समन्तभद्र सिद्धसेन आदि द्वारा उपज्ञात यही व्यवस्था ठीक है कि–सापेक्ष नय सम्यक्, तथा निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।

संशयादि दूषण–अनेकात्मक वस्तु में सशयादि दूषणो के शिकार जैन ही नहीं बने किन्तु इतर लोग भी हुए हैं। जैन की तरह पातञ्जलमहाभाष्य में वस्तु को उत्पादादिधर्मशाली कहा है। व्यासभाष्य मे परिणाम का लक्षण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि–'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' अर्थात् स्थिर द्रव्य की एक अवस्था का नाश होना तथा दूसरी का उत्पन्न होना ही परिणाम है। इसी भाष्य में 'सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य' प्रयोग करके अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता भी द्योतित की है। भट्टकुमारिल ने मीमासाश्लोकवार्तिक मे अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता तथा भेदाभेदात्मकता का इतर-दूषणो का परिहार करके प्रबल समर्थन किया है। उन्होने समन्तभद्र की "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्" (आप्तमी० का० ५९) जैसी–
"वर्धमानकभगेन रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।" इत्यादि कारिकाएँ लिखकर बहुत स्पष्टरूप से वस्तु के त्रयात्मकत्व का समर्थन किया है। भास्कराचार्य ने भास्करभाष्य में ब्रह्म से अवस्थाओ का भेदाभेद समर्थन बहुत विस्तार से किया है। कुमारिलानुयायी पार्थसारथिमिश्र भी अवयव-अवयवी, धर्मधर्मि आदि में कथञ्चित् भेदाभेद का समर्थन करते हैं। साख्य के मत से प्रधान एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक, नित्य होकर भी अनित्य, अव्यक्त होकर भी व्यक्त आदि रूप से परिणामी नित्य माना गया है। व्यासभाष्य मे 'त्रैलोक्य व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्' लिखकर वस्तु की नित्यानित्यात्मकता द्योतित की है। इस सक्षिप्त यादी से इतना ध्यान मे आजाता है कि जैन की तरह कुमारिलादि मीमासक तथा साख्य भेदाभेदवादी एव नित्यानित्यवादी थे।

दूषण उद्भावित करनेवालो मे हम सबसे प्राचीन बादरायण आचार्य को कह सकते हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र मे 'नैकस्मिन्नसभवात्'–एक मे अनेकता असभव है–लिखकर सामान्यरूप से एकानेकवादियो का खंडन किया है। उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थो में धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में साख्य के भेदाभेद में विरोध उद्भावन करके 'एतेनैव यदह्रीकाः' आदि लिखते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मकीर्ति का मुख्य आक्षेप साख्य के ऊपर है तथा उन्हीं दोषों का उपसंहार जैनका खडन करते हुए किया गया है। धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि जहाँ भी भेदाभेदात्मकता का खडन करते हैं वहाँ 'एतेन जैनजैमिनीयैः यदुक्तम्' आदि शब्द लिखकर जैन और जैमिनि के ऊपर एक ही साथ प्रहार करते हैं। एक स्थान पर तो 'तदुक्त जैनजैमिनीयैः' लिखकर समन्तभद्र की आप्तमीमासा का 'सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे' यह कारिकाश उद्धृत किया है। एक जगह दिगम्बर का

अकलंकग्रन्थत्रयस्य विषयानुक्रमः।

§ १. लघीयस्त्रयस्य विषयानुक्रमः[1]

१ विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाङ्काः पृष्ठसूचकाः सूक्ष्माङ्काश्च पक्तिसूचका विज्ञेयाः।

इति प्रवचनप्रवेश ।

---

§ २. न्यायविनिश्चयस्य विषयानुक्रमः[1]

---

[1] विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाका. पृष्ठसूचका सूक्ष्माकाश्च श्लोकसख्यासूचका ज्ञेया ।

§ ३. प्रमाणसंग्रहस्य विषयानुक्रमः[1]

1 विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाङ्काः पृष्ठसंख्याबोधकाः सूक्ष्माङ्काश्च पंक्तिसंख्यासूचका विज्ञेयाः ।

इति प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्ताव. ।

इति द्वितीय अनुमानप्रस्तावः ।

श्चित्करस्य च ज्ञानस्य भावाऽविरोधात् । § १) "नहि तत्त्वज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसाधनम्" इत्यपरः; तेनापि तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं समर्थ्येत वस्तुबलायाततदर्थान्तरस्यापि परम्परया तत्कारणतोपपत्तेः । तत्राऽज्ञानस्य प्रमाणता अन्यत्रोपचारात् । ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ॥३॥

5 [§ ४. के पुनर्बुद्धेर्वैशद्यावैशद्ये यदुपेतत्वेन प्रत्यक्षेतरयोर्भेदः स्यादिति चेदुच्यते—]

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥ ४ ॥

तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् । तदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञान-
10 रहितसकलपुरुषपरिषत्परिज्ञानस्य तदन्तरेणानुपपत्तेः । तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिदनुपलब्धेः खपुष्पवत् । ननु जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः रथ्यापुरुषवत् । पुरुषातिशयसम्भवे अतीन्द्रियार्थदर्शी किन्न स्यात् ? अत्राऽनुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञादिविशेषाभावे कुतः प्रमाणयेत् अभेदात् ? साधकबाधकप्रमाणाभावात् तत्र संशीतिः इत्यनेन प्रत्युक्ताः बाधकस्यैवाऽसम्भवात् ।
15 सर्वत्र बाधकाभावेतराभ्यां भावाभावव्यवहारसिद्धिः, तत्संशयादेव सन्देहः । तत एवानुभवप्रामाण्यव्यवस्थापनात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ४ ॥

[§ ५. ननु च इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य वर्त्तमानमात्रपर्यवसितत्वेन हेयोपादेयाऽविषयत्वात् कथं संव्यवहारनियुक्तत्वमित्यारेकायामाह—]

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः ।
20 **अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहाऽवायो विनिश्चयः ॥५॥**

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणम् अवग्रहः । विषयस्तावत् द्रव्यपर्यायात्मार्थः विषयिणो द्रव्य-भावेन्द्रियस्य । द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम् । लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् । * अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः । उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः ।* अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणम् । तदनन्तरभूतं सन्मात्रदर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविक-
25 ल्पमुत्तरपरिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः । पुनः अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणम् ईहा । तथेहितविशेषनिर्णयोऽवायः । कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषाद्भेदः ॥५॥

[§ ६. अवायानन्तरं धारणामुक्त्वा चतुर्विधमतिज्ञानमुपसंहरन् कारिकार्धमाह—]

धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम् ।

---

१ कारिकेयं ज० प्रतौ नास्ति । २ तत्रा– ज० । ३ बाधकभावे– ज० । * एतदन्तर्गत पाठो नास्ति ज० । ४ अवग्रहगृहीत– ई० ।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्

[अकलंकग्रन्थत्रयम्]

स्वोपज्ञविवृतिसहितम्

॥ लघीयस्त्रयम् ॥

क्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः; द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात्। न केवलं साक्षात्करणमेकान्ते न संभवति; अपितु–

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥८॥

5 'अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्' अङ्गीकृत्य स्वपक्षे पुनरर्थक्रियां स्वयमेव निराकुर्वन् कथमनुन्मत्तः ? स्वभूतिमात्रमर्थक्रियां विपक्षेऽपि कथं निरस्येत्, मिथ्याव्यवहारं वा ? संवित्तेरभेदेऽपि विषयाकारस्यैव विषयसाधनत्वं नाकारान्तरस्य। ततः–

[§ ९. तस्माद् विषयाकारस्य विषयसाधनत्वात्–]

नाभेदेऽपि विरुद्धयेत् धिक्रिया विंक्रियैव[1] वा।

10 परमार्थैकत्वेऽपि मिथ्याव्यवहारभेदात् ज्ञानस्यानेकार्थक्रियाकारिणः प्रतिभासाः परमार्थासंवेदिनः तत्त्वं भेदाभेदात्मकं साधयन्ति ।

[§ १०. एवं तावत् सौत्रान्तिकमतमनेकान्तनान्तरीयकं प्रदर्श्य साम्प्रतं योगाचारमतं तन्नान्तरीयकं प्रदर्शयन्नाह–]

मिथ्येतरात्मकं दृश्यादृश्यभेदेतरात्मकम् ॥९॥
15 चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः ।

चित्रनिर्भासिनः तत्त्वमविभागविज्ञानस्य दृश्यं यदि क्रमेणापि सदसदात्मकं विवर्त्तेत ततः सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तुतत्त्वमन्तर्बहिश्च प्रमेयम्। एकान्तस्यानुपलब्धेः तदनेकान्तात्माऽर्थः इति ॥६॥

इति[3] श्रीभट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयस्त्रये) परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमनेकान्तनयेन द्रव्यव्यवस्थापन नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥
20

प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः।

[§ ११. अथेदानीं परोक्षप्रमाणप्ररूपणायाह–]

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वा (चा) भिनिबोधिकम्[4] ॥१०॥
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।

---

१ 'अविक्रियैव वा' इत्यपि पाठ न्यायकु० । २–गज्ञान– न्यायकु० । ३ इति न्यायकुमुदचन्द्रे (?) प्रमेयस्वरूपप्रतिपादकः द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः । ई० । ४–बोधकम् ई० । –बोधनम् मु० लघी० ।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्

स्वोपज्ञविवृतिसहितम्

॥ लघीयस्त्रयम् ॥

प्रमाणप्रवेशे प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

[§ १. तत्र शास्त्रस्यादौ शास्त्रकारो निर्विघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्करोति–]

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥

[§ २. स्वप्रमाणादिलक्षणवर्त्मनि कण्टकशुद्ध्यर्थं निराकुर्वन्नाह–]

सन्तानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम् ।
सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः,
स्यान्नित्यत्ववदेव नत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥२॥

[§ ३. स्वमते प्रमाणादिलक्षणप्ररूपणार्थमिदमुपक्रमते ··· ···अक्षुण्णसकलशास्त्रार्थसङ्ग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह–]

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥३॥

सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत् । नवै 'ज्ञानम्' इत्येव प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात्, संव्यवहारानुपयोगिनः संशयविपर्यासकारणस्य अकि-]

---

१ वृषभा– न्यायकु० । २ मतिज्ञान– ब० । ३–विपर्यय– न्यायकु० ।

[§ १६. अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका नान्या संशयहेतुत्वात्' इति नियम निराकुर्वन्नाह–]

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।
तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः ॥१५॥

5 अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्ध्यति अपि तु स्वचित्तभावश्च; तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ॥१५॥

[§ १७ ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–]

10 वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम् ।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥१६॥

स्थूलस्यैकस्य दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभावसिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेर्विज्ञानाऽनंश-तत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेरविभागज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित्स्वयमुपलब्धिः
15 तथैवाऽप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः ॥१६॥

[§ १८. एवं परस्य अनुपलब्धिं निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतुं निराकुर्वन्नाह–]

अनंशं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षं तदभासनात् ।
कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥१७॥

साक्षात्स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसम्भवः स्वभा-
20 वविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः, तदङ्गीकरणं प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वं चानुपब्धेः कृतकत्वाद-नित्यत्वं सिद्ध्येन्नान्यथा ॥१७॥

[§ १९. यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धाया तत्कल्पितोऽखिलोऽयं व्यवहारः स्यात्, न च
25 तत्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति–]

धीर्विकल्पाविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोप्यनवस्थितेः ॥१८॥

सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि; निश्चयस्यापि कस्यचित्

१–द्विपरी– ज० । २–स्यावृत्या– ज० । ३–रप्रभेद– न्यायकु० । ४–कल्पकं ई० ।

स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत् । ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात् ।

[§ ७. इदानीं स्वसंविदामपि बह्वादिभेदमवग्रहादिक्रमम् अवग्रहादीनाञ्च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वे फलत्वमुत्तरोत्तरस्य दर्शयन्नाह—]

बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्स्वसंविदाम् ॥६॥
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ।　　5

परमार्थैकसंवित्तेर्वेद्यवेदकाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायां क्षणभङ्गादेरपि प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत। ततः किम् ? गृहीतग्रहणात् संवृतिवत्तदनुमानं [1]प्रमाणं न स्यात्। तदनयोः समारोपव्यवच्छेदाविशेषात् संवृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं स्यात् । सर्वस्यैव निर्विकल्पकज्ञानस्य समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षिणः प्रमाण्यं न स्यात् ततः संव्यवहाराभावात् । अर्थक्रियार्थी हि प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते। रूपादिक्षणक्षयादिस्फुटप्रतिभासाविशेषात् खण्डशः प्रामाण्यं यदपेक्षं तदेव फलं युक्तम् । तत्त्वतस्तत्कृतो न भवति, भावे वा निर्णीतिः अखण्डशः कुतो न भवेत् [2]? बहुबहुविधक्षिप्रानिसृताऽनुक्तध्रुवेतरविकल्पानामवग्रहादेः स्वभावभेदान्न विरु[3]ध्यते । प्रतिभासभेदेपि स्वभावभेदाभावकल्पनायां क्रमवृत्तिधर्माणामपि तथा भावात् कुतः क्रमः सुखदुःखादिभेदो वा परमार्थतः प्रतिष्ठापयेत् सहप्रतिभासवत् ? तदयमेकमनेकाकारं क्षणिकज्ञानं कुतश्चित्प्रत्यासत्तेः प्रतिभासभेदानामुपयन् क्रमवर्तिनामपि तथैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हति हर्षविषादादीनाम्, अतोऽनेकान्तसिद्धिः। प्रमाणफलयोः क्र[4]मभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम् ॥६॥

[5]इति भट्टाकलङ्कविरचिते [6]न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयस्त्रये) प्रमाणप्रवेशः (शे) प्रथम. परिच्छेदः ॥　　20

—❀—

प्रमाणप्रवेशे द्वितीयः प्रमेयपरिच्छेदः ।

—❀—

[§ ८. समीचीनश्च विषयः प्रमाणस्य यादृशो भवति तं दर्शयन् प्रकृतमर्थञ्चोपसंहरन्नाह—]

तद्द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥७॥

भेदाभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिरनेकान्तात् । नान्तर्बहिर्वा स्वल-

---

१ 'प्रमाण' नास्ति ई० । २–तस्ततो इत्यपि पाठ न्यायकु० । ३ विरुद्धयेत् ज० । ४ क्रमभावेऽपि न्यायकु० । ५ इति प्रत्यक्षप्रतिपादक प्रथम. परिच्छेद. सम्पूर्ण. । ई० । ६ ज०, ई० प्रत्यो सन्धिवाक्येषु क्वचित् न्यायकुमुदचन्द्रस्य न्यायकुमुदचन्द्रोदयस्य वोल्लेख लघीयस्त्रयव्याख्याभूतस्य प्रभाचन्द्रकृतन्यायकुमुदचन्द्रस्य भ्रमादेव जात । —सम्पा० ।

चिरनुमानात् †प्रमाणान्तरं नवेति किञ्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात्†। तत्स-मञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्सङ्ख्यानवस्थानात् ॥२१॥

इति श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयस्त्रये) परपरिकल्पितानु-मानादिखण्डने स्वमतप्रणीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापने तृतीयः परिच्छेदः ॥

5

प्रमाणप्रवेशे चतुर्थः आगमपरिच्छेदः ।

[§ २३. अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभास न सर्वथेति प्रदर्शयन्नाह–]

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित्स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥२२॥

10 तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणम् यथा तत्सङ्ख्यादौ विसम्वा-दकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् । नहि ज्ञानं यद्प्यनुकरोति तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षणात् । कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः कृतस्य करणायोगात्? तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणानिष्टेः । तदस्य विसंवादोऽप्य-वस्तुनिर्भासात् चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानाम् अविसम्वादकत्वात् ॥२२॥

15 [§ २४. साम्प्रतं कल्पनापदेन यत्परेण तदाभासमुक्त तदपि प्रत्यक्षं साधयन्नाह–]

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥२३॥

सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपिचक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं स्वलक्षणम् । 20 प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवाऽस्मरणात् । तस्मादविशदमेव अविकल्पकं प्रत्य-क्षाभम् । न विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरार्थप्रत्यक्षाणाम् एकार्थविषयतोपपत्तेः ॥२३॥

[§ २५. न हीमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽप्यनु-पलक्षिताः स्युरिति । तद्दूषयन्नाह–]

---

† एतदन्तर्गत पाठो नास्ति ई० । १ इति न्यायकुमुदचन्द्रे (?) परोक्षप्रमाणसङ्ख्यास्वरूपप्रति-पादकः तृतीयोऽन्तर्भूतः परिच्छेदः ॥छ॥ ई० । २–हारव्यु– ई० ।

अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः । प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ॥१०॥

[§ १२. ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह–] 5

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते ॥११॥
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ।

नहि[1] प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इतीयतो[2] व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् । नाप्यनुमानान्तरम्[3]; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ[4] क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम । § २) *"तत्राप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणम्"* इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् ॥११॥ 10

[§ १३. कीदृशं तदनुमानमित्याह–]

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ॥१२॥
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः । 15

नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण[5], ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । नचात्र विसंवादोऽस्ति ॥१२॥

[§ १४. अत्रैवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह–]

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा ॥१३॥ 20

नहि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ॥१३॥

[§ १५. अपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति–]

भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥१४॥

तदेतद्भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसङ्ख्यां प्रमाणसङ्ख्याञ्च प्रतिरुणद्धि ॥१४॥ 25

---

१ न प्रत्य– न्यायकु० । २–तियतो ज० । ३–नुमानान्त– ई० । ४ व्याप्तिर– ज० । ५–पत्तितर्केण न्यायकु० । –पत्तिवित– ज० ।

नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वे[1] अर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्यभिचारैकान्तसम्भवात् । वाचोऽभिप्रायविसंवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयो. आप्तेतरव्यवस्थां कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् (§ ३) "*वक्तुरभिप्रेत तु वाचः सूचयन्त्यविशेषेण नार्थतत्त्वमपि*" इति कथमविक्लवः ? ॥२८॥

5 [§ ३० अत्राह सौगतः–वक्तुरभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यं नास्ति, माभूत्, किन्नष्टं प्रमाणद्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमात् इत्याशङ्क्याह–]

पुंसश्चित्राभिसन्धेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।
कार्यं दृष्टं[2] विजातीयात् शक्यं कारणभेदि किम् ॥२९॥

श्रुतेर्बहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रायानुविधा-
10 यिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेत्; उक्तमत्र 'तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः' इति। अपि च वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् अग्निरत्र धूमादिति वा कथमाश्वासः क्वचिल्लताचूतादेरुपलब्धेः शिंशपायाः स्वयमवृक्षत्वेप्यविरोधात् ? काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अशनिजन्मनः तदर्थान्तरजन्मनश्च साकल्येन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः 'अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः ?
15 यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् धूमादग्निरत्र इत्याश्वासः । कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः क्वचिदविसम्वादस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ॥२९॥

इति श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे (? लघीयस्त्रये) परोक्तागमखण्डने स्वप्रणीतागमस्थापने चतुर्थः परिच्छेदः ॥

---

20 एवमन्तर्भूतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टय प्रमाणप्रवेश परिच्छेद समाप्त[3] । न्यायकु० ।

२. द्वितीयो नयप्रवेशः ।

[§ ३१. अथ प्रमाण परीक्ष्येदानी नयपरीक्षार्थमुपक्रमते–]

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।
ये[4] तेऽपेक्षाऽनपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥३०॥

25 द्रव्यपर्यायात्मकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् प्रमेयं वस्तुतत्त्वम्, तत्रैव कथञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात् । नयो ज्ञातुरभिप्रायः । स द्रव्यार्थिकः, पर्याया-

---

१ सर्वार्थान् ज० । २ कार्यदृष्टं ई० । ३ प्रमाणप्रवेश (शः) प्रथम परिच्छेद. समाप्त । ई० । ४ एते मु० लघी० ।

स्वत एवाऽनिश्चयात् । निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतः तत्संव्यवहार-सिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलापसंसर्गयोग्यायोग्यविनिर्भासैकज्ञानं प्रति-पत्तव्यं स्वरूपवत् ॥१८॥

[§ २०. एव परं प्रति तर्कादिक प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्तरत्वनियम विधुरयन्नाह—] 5

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥

प्रसिद्धार्थसाधर्म्यमन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतश्चेत् लिङ्गमेव, ततः प्रतिपत्तिरन्यथा न युज्यते[1] । प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे वृक्षोऽयमिति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम् गवयोऽयमिति यथा गवयदर्शिनः, प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् गौरिव गवयः इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् । प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु[2] तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम् ? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ॥१९॥ 10

[§ २१ तथा अपरमपि परस्य अनिष्ट प्रमाण दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥२०॥ 15

आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन प्रमाणमप्रमाणं[3] वा न पुनरुपमानमेव । यथा एतस्मात्पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकर्मे[4]-तन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तद्दर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः । कश्चायं निश्चयः संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव[5] समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः सङ्ख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति ? ॥२०॥ 20

[§ २२. एतदेव दर्शयन्नाह—]

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥२१॥

दृष्टेष्वर्थेषु परस्परं[6]व्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानम्[7] अधरोत्तरादिज्ञानं द्वित्वादिसङ्ख्याज्ञानम् अन्यच्च प्रमाणम्, अविसम्वादकत्वात् उपमानवत् । अर्थाप- 25

१ युज्येत ज० । २ 'तिर्यक्षु' नास्ति ई० । ३–त्तिप्रमाणं ई० । ४–क ये तन्नाम–ई० । ५ संज्ञासम्प्रति– ज० । ६–रंव्य–ई० । ७ अल्पबहुत्वादि–ई० ।

[§ ३६. एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधावभिधाय साम्प्रतमर्थक्रियाकारित्वबलेन तौ प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह–]

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्यार्थक्रिया सति ।
कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥३५॥

5 सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित्क्षणिके अर्थक्रियां साधयेत्, अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्तेत । नच क्षणिकानामनिश्चयात्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् विप्रकृष्टाऽर्थान्तरवत् । 'यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यम् इतरत् कारणम्' इति लक्षणं क्षणभङ्गे न सम्भवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः; अन्यथा क्षणभङ्गभङ्ग-
10 प्रसङ्गात् ॥३५॥

[§ ३७. ननु यस्मिन्निति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव स्वसत्ताक्षणे कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोषु दुह्यमानासु गतः दुग्धासु आगत इति। समसमयभावित्वे चानयोः कार्यकारणभावविरोधात् सव्येतरगोविषाणवत् इत्यारेकापनोदर्थमाह–]

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।
15 **युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियासम्भवसाधनम् ॥३६॥**

नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते, यतः तदर्थक्रिया अक्षणिकत्वे विरुध्येत । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुषङ्गात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत् सर्वथा भावस्यैव वा । स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भाऽसिद्धेः कुतः कार्यव्यतिरेकोपलक्षणं
20 कारणशक्तेः ? ॥३६॥

[§ ३८. कार्यस्य देशवत् कालेऽपि असत एव कारणादेव उदयोपगमात्, कथमन्यथा जाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधः भाविमरणादेर्वा अरिष्टादिकमित्याशङ्क्याह–]

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद्व्याप्नोति वा सकृत् ।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद्व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

25 यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिग्देशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेऽपि तत्कारणस्वभावभेदः । तथैकमक्षणिकं कारणं यद्यदोत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण कारणसामर्थ्यात् तदात्मकमेकमेव इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अव-

१ कारिकेयं मुद्रितलघीयस्त्रये नास्ति । २ लक्षणभङ्गे ज० । ३ कार्यस्योत्प– ई० । ४ कारणसिद्धेः ई० । ५ करण– ई० ।

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योपि कल्पनाः ।
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरंस्तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥२४॥

सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्यानिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेरन् ? ॥२४॥ 5

[§ २६. तत. स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह–]

अक्षधीः स्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽऽभिनिबोधिकैः ।
व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥२५॥

प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञानतदाभासव्यवस्था ॥२५॥ 10

[§ २७. ननु श्रुतज्ञान प्रमाणमेव न भवति तत्कथ तद्व्यवस्था इत्याशङ्कयाह–]

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥२६॥

श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम् । कथमन्यथा द्वीपदेशनदीपर्वतादिकमदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निरारेकमविसंवादं च[1] ॥२६॥ 15

[§ २८. ननु चार्याभावेऽपि श्रुते प्राय. प्रवृत्तिदर्शनान्न क्वचिद्प्यसौ प्रमाणमित्याशङ्कयाह–]

प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम् ।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥२७॥ 20

नहि इन्द्रियज्ञानम् अभ्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात् । तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोष ? यथा कृतिकादेः शकटादिज्ञानं स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैवादृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं[2] ज्ञानमविसंवादकम्[3] । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । क्वचिद् व्यभिचारे साकल्येनाऽनाश्वासे वक्त्रभिप्रायेऽपि वाच कथमनाश्वासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचारसम्भवात् ? तथाऽनिच्छतः श्रुतिकल्पना[4]- 25
दुष्टादेः उच्चारणात् ॥२७॥

[§ २९. किञ्च–]

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये ।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ? ॥२८॥

---

१ 'च' नास्ति ई०, ज० । २–र्थभि– ज० । ३–धानमवि–ई० । ४ श्रुत– ई० ।

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात्तत्त्वतस्तयोः ।
मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥४१॥

शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्यायं[१] व्यस्तं समस्तं वा[२] व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यं च व्यवहारेणैव, स च सङ्ग्रहे
5 भेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (सः प्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम्; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात्, अन्यथा स्वमान्तरवत् तद्विसंवादान्न किञ्चित्प्रमाणम् । नैगमेऽपि चलं गुणप्रवृत्तं नित्यं चैतन्यमिति व्यवहाराऽसिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि

§ ४) "गुणाना परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति ।
10 यत्तु दृष्टिपथप्राप्त तन्मायै(ये)व सुतुच्छकम् ॥"

इति प्रमाणमस्ति । समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तेत शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः इति लोकव्यवहारमतिवर्त्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । नवै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत्; कथं स्वस्वभावरहितः सोऽस्ति[३], वर्त्तेत
15 वा समवायान्तराभावात् ? तदनवस्थानुपङ्गात् ॥४१॥

[§ ४३. इदानीं व्यवहारनयं दर्शयितुमाह–]

व्यवहाराविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।
बहिर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥४२॥

प्रत्यक्षस्याऽपि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । स पुनः अर्थाभिधानप्रत्यया-
20 त्मकः[४] । कथम् ? उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चैतन्य-स्वभावः इति श्रुतेः । प्रमाणान्तराबाधनं[५] पूर्वापराऽविरोधश्चाऽविसंवादः[६] । तदपेक्षोऽयं नयः । ततोऽन्यथा दुर्नयः । कथम् ? बहिरपि स्वलक्षणमर्थक्रियासमर्थं सदङ्गीकृत्य, तत्प्रतिक्षेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वमिति प्रत्यवस्थाप्य, तदतिसूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाकुलं प्रलपन् कश्चिन्नवतिष्ठेत
25 स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिनिरोधात् । तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरलं शेष[७]प्रलापेन ॥४२॥

[§ ४४. इदानीं ऋजुसूत्रनयं साभासं दर्शयन्नाह–]

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।
चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥४३॥

---

१ 'पर्याय' नास्ति ई० । २ 'वा' नास्ति ज० । ३ 'सोस्ति' नास्ति ई० । ४–प्रत्ययात्मकः लघी० । ५–बाधने ज० । ६ पूर्वापरविरोधश्च विसंवाद. ई० । ७ 'शेष' नास्ति ई० ।

र्थिकश्च । द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत् इति द्रव्यम्, तदेवार्थोऽस्ति यस्य सो द्रव्यार्थिकः । सोऽभेदाश्रयः ॥३०॥

[§ ३२. ननु सकलभावाना देशकालाकारैरत्यन्तभेदात् नाभेदो नाम, अतः कथमसौ अभेदाश्रयः स्यादित्यारेकापनोदार्थमाह–]

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनास्तदस्ति सत् ।　　5
एकं यथा स्वनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

यथैव ज्ञानस्य आत्मनिभा (निर्भा) सभेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्य अजीवस्य वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः, तथैव सत्त्वस्य भेदा जीवाजीवादयः । तदेवम्—

[§ ३३ तस्मिन् सत्त्वे एवमुक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति–]

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति सङ्ग्रहस्तदभेदनः ।　　10
भेदानां नाऽसदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

सर्वमेकं सदविशेषादिति सङ्ग्रहः । सतां च स्वभावानां भावैकत्वाबाधनात् । नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं सद्रूपं द्रव्यमनवबुद्ध्य भेदं गृह्णाति नाम ॥३२॥

[§ ३४ अत्राह सौगत'—यदुक्तम्—'यथा ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्वं बाधन्ते' इति; तदयुक्तम्, निरंशैकज्ञानोपगमात् । पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह–निस्तरङ्ग पुरुषमात्र तत्त्वं जीवाजीवप्रभेद. पुनरुपप्लव, ततो 'जीवस्याऽजीवस्य वा' इत्याद्यप्ययुक्तमित्याशङ्क्याह–]　　15

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।
द्रव्यं स्वलक्षणं ज्ञंसेद्भेदात्सामान्यलक्षणम् ॥३३॥

स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं स्वलक्षणं विद्यात्, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् ॥३३॥　　20

[§ ३५. ननु प्रतिक्षणविलक्षणज्ञानादिक्षणव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासम्भवात्कथ 'द्रव्य शंसेत्' इत्याद्युक्त शोभेत [2] इत्याशङ्क्याह–]

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्त्तिभिः ।
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥३४॥　　25

यथैकं क्षणिकं ज्ञानं सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथैकं द्रव्यं सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्च अनादिनिधनमवगन्तव्यम् । बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसङ्क्रमव्यवस्थायामेकस्थूलनिर्भासविरोधात् ॥३४॥

---

१ अद्रवत् ज० । २ जीवाद्य ज० ।

[§ ४७. ननु यद्यर्थाभावेऽपि तज्ज्ञानं स्यात्तर्हि सर्वमेव शाब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात्। प्रयोगः—विवादास्पदीभूतं शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात् प्रकृतज्ञानवदित्याशङ्क्याह—]

अक्ष[1]शब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम् ।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥४६॥

तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षण[2]व्यभिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं त[3]त्तस्येति सम्बन्धात्। वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत्। विवक्षाव्यतिरेकेण वागर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं [4]प्रत्याययति अनुमानवत्, सम्बन्धनियमाभावात्। वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ॥४६॥

[§ ४८. ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणाभावतोऽभावात् सतामप्यभेदात्, अन्यत: कालभेदात्तद्भेदे अनवस्था स्यात्। अर्थभेदात्तद्भेदे अन्योन्याश्रयः। ततोऽयुक्तमुक्तं 'कालकारक' इत्यादि; इत्याशङ्क्याह—]

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनि[5]ष्ठितम् ॥४७॥

नहि एकान्ते वर्तनालक्षणं कालस्य सम्भवति। भूतभविष्यद्वर्तमानप्रभेदो यतः स्यात्तदर्थक्रियानुपपत्तेः। न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वे[6]ति कारकलक्षणम्; शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धाऽसिद्धिः, अनवस्थानुषङ्गात्। तदव्यतिरेकैकान्ते 'श[7]क्तिः शक्तिमत्' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः। तत्र एकान्ते षट्कारकी व्यवतिष्ठेत। कुतः पुनः स्त्यायत्यस्यां गर्भः इति स्त्री, प्रसूते स्वान् पर्यायान् इति पुमान्, तदु[8]भयात्यये नपुंसकम् इति शब्दार्थप्रत्ययानाम् अन्यतमस्यापि लिङ्गव्यवस्था? तथैकस्यार्थस्य इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शक्रः, पुरं दारयतीति पुरन्दरः इति पर्यायभेदात् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न सम्भवत्येव, व्यतिरेकेतरैकान्त[9]योः तत्र विरोधात्। तत एव क्रियाकारकयोस्तत्र असम्भवो विज्ञेयः। तदनेकान्तसिद्धिः विधिप्रतिषेधाभ्यां तदर्थाभिधानात्। [10]नाभावैकान्तः कुतः, तदभिधानलिङ्गाद्यसम्भवोपालम्भः स्याद्वादमनुवर्तेत? ॥४७॥

[§ ४९. यतश्चानेकान्तेन तदुपालम्भाभावः अतः—]

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।
षट्कारकी प्र[11]कल्प्येत तथा कालादिभेदतः ॥४८॥

---

१ अक्षात् शब्दार्थ- ई० । २-लक्षण व्य-ई० । ३ तत्तथेति ज० । ४ प्रत्यापयति ई० । ५-निश्चितम् ज० । ६ चेति ई० । ७ शक्तिश- ई० । ८-भयाभावे नपुं-ई० । ९-न्तरयोः ज० । १० नर्वैकान्तः ज० । ११ प्रकल्पेत् ज० ।

यवान् व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात् तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेद-कत्वात्तेषां स्वभावानामिति । एवम्–

[§ ३९. तत्र परसङ्ग्रहं प्रदर्शयितुमाह–]

सङ्ग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥ 5

नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद्यदात्मकं तत्तदेव यथा स्वनिर्भासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात्सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यदिति सङ्ग्रहः तत्प्राधान्यान्न तु भेदप्रतिक्षेपात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवादवत् ॥३८॥

[§ ४०. अधुना नैगमतदाभासप्ररूपणार्थमाह–]

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् । 10
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥३९॥

स्वलक्षणभेदाऽभेदयोरन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः । यथा जीवस्वरूपनिरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तत्प्ररूपणायां चात्मा । तदर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां क्रियाकारकाणां जातितद्वतोश्च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथा वृत्तिविरोधात् । एकमनेकत्र 15
वर्त्तमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात्; तदेकमित्येवं न स्यात् । यदि पुनः एकदेशेन वर्त्तेत; तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रसङ्गात् क्व किं वर्त्तेत ? ॥३९॥

[§ ४१. एवं गुणगुण्यादीनां भेदैकान्तं निराकृत्य सत्तातद्वतां तं निराकर्तुमाह–]

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।
असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥४०॥ 20

यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माण्येव सन्तु किं तत्र सत्तासमवायेन ? स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात्, असतां चातिप्रसङ्गात् । तदेवमवान्तरजातिष्वपि योज्यम् । गोत्वादेः सर्वगतत्वे तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम्, अन्यथा निष्क्रियस्य अर्थोत्पित्सुदेशमव्याप्नुवतः अनंशस्य अनेकत्र कथञ्चित्कवर्त्तनमयुक्तम् । गुणगुण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमित्यलं प्रसङ्गेन । गुणानां वृत्तं चलं 25
सत्त्वरजस्तमसां सुखज्ञानादिकं चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमचलमित्येतदपि तादृगेव; तदर्थान्तरताऽसिद्धेः, अतिप्रसङ्गश्चैवं तदभेदे विरोधाभावात् । गुणानां द्रव्याद्द्रव्यात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्वं युक्तं कृतं गुणकल्पनया ॥४०॥

[§ ४२. अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासता तयोर्दर्शयितुमाह–]

१–स्वात्स्व– ई० । २–स्मात्तदात्मानो ई० । ३–न्तरतोक्तौ ज० । ४–यव्यवयवनि– ई० ।

३. तृतीयः प्रवचनप्रवेशः ।

[§ ५२. अथ प्रमाणनयस्वरूपं निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूपं पृथग् निरूपयितुमुपक्रमते, तत्रानेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्यमङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह–]

5 प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥५१॥

[§ ५३. तत्र प्रमाणादीनां समासतो लक्षणं प्रतिपादयन्नाह–]

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२॥

10 ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत् । विषमोऽयमुपन्यासः, असन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम्; अर्थस्य तदकारणत्वात्, तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात्, अर्थस्य विषयत्वात् । नहि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ॥५२॥

[§ ५४. किञ्च अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे 15 वा ? न तावदसिद्धे अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे कुतः तत्सिद्धिः ? तत एव ज्ञानात्, अन्यतो वा ? न तावत्तत एव; यतः -]

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥५३॥

अर्थं परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपरं सूचयत्येव । नहि ततः 20 स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छित्तिः अनुत्पन्नत्वात् । उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ॥५३॥

[§ ५५. अन्वयव्यतिरेकौ अनुकरोति च ज्ञानमर्थस्येत्याशङ्क्याह–]

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।
25 संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ? ॥५४॥

बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य । कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेकावनुकुर्वती व्यभिचरेन्नाम ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमिराशुभ्रमणनौयानसङ्क्षोभादिहेतुत्वे कमर्थमर्थः पुष्णातीति मृग्यम् ? सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्य-

---

१ उच्यते ज० । २ किमर्थ–ज० ।

यथा बहिः परमाणवः सन्निविष्टाः स्थवीयांसमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव संवित्परमाणवोऽपि। तन्नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साधयेत्, भेदस्य अभेदविरोधात्, क्वचिन्नानात्वमेव अन्यथा न स्यात्। सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः। प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपत्तुमर्हत्येव विशेषाभावात्। तदन्यतरापायेऽर्थस्याऽनुपलब्धेः ॥४३॥   5

[§ ४५. अधुना शब्दसमभिरूढैवम्भूतान्नयान् कथयन्नाह—]

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।
अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

कालभेदात्तावदभूत् भवति भविष्यति इति, कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि, लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति, तथा पर्यायभेदात् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर   10
इति, तथैतौ शब्दसमभिरूढौ। क्रियाश्रयः एवम्भूतः। कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात्। तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु प्रत्येति? कथं च न? तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन ॥४४॥

[§ ४६. ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राहुर्नान्यम् अतिप्रसङ्गात्। सङ्केतश्च नाविषयी-   15
कृताना शब्दार्थाना युक्तो तन्निर्विषयताप्राप्तेः। तद्विषयीकरणञ्च नाध्यक्षेण, शब्दाध्यक्षस्य अभिधेये, तदध्यक्षस्य च अभिधानेऽप्रवृत्तेः। नापि स्मृत्या, तस्या निर्विषयत्वादित्याशङ्क्याह—]

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः।
प्रतिभासभिदैकाऽर्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत् ॥४५॥

क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षं तत्कारणस्य   20
अतीतस्य तदनात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाशयोश्च अभावाऽविशेषात्। तदुत्पत्तिसारूप्ययोरसम्भवात्, व्यभिचाराच्च किं कस्य ज्ञानमित्युक्तम्। यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथञ्चिद्वेत्ति स्मृतिः कथन्न संविद्यात्? साक्षादतदुत्पत्तेरताद्रूप्याच्च इति वैयात्यम्; व्यवहितोत्पत्तावपि तद्रूपानुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वप्नवत्। प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदान्नैकार्थत्वमनैकान्तिकम्; दूरासन्नै-   25
कार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात्। दूराक्षार्थज्ञानं भ्रान्तेरप्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात्। नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ विसंवादैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात्। तदयं शब्दार्थौ स्मृत्या सङ्कलय्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति। स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थविषयत्वात्। तदर्थाभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसम्भवात् ॥४५॥   30

---

१ विसंवादयते सवप्र- ज०। २ सङ्कलय्य ई०। ३-प्रवृत्तौ ई०।

त्वम्; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसम्भवात्। काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः, मुमूर्षूणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ॥५७॥

5 [§ ५९. अत्रैव दूषणान्तरमाह–]

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८॥

नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत्। न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाऽभावात् भविष्यत्तमवत्। नार्थसारूप्यभृ-10 द्विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात्। मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानं मूर्तिधर्माभावात्। नहि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत्। ततः तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्षणत्वेन ? ॥५८॥

15 [§ ६०. ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासम्भवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसङ्गादित्याशंकायामाह–

स्वहेतुजनितोप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः नाऽलर्कधात्मनोः कर्तृकर्मस्वभाववत्। ततस्तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राहकभाव-20 सिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ॥५९॥

[§ ६१. ननु सिद्धेपि स्वरूपतस्तद्भावे तत्फलं वक्तव्यम्। तच्च अधिगतिमात्रमित्येके, स्वरूपस्यैवाधिगतिरित्यन्ये, अर्थस्यैवेत्यपरे। इत्याशङ्क्याह–]

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥६०॥

25 अनिर्णीतिफलस्य नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात्। अविसंवादकत्वं च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात्। व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणमिति व्यवस्थितम्। स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात्, तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्। सति

१–कारिणो ई०। २–त्तंमूर्त्त–ज०। ३–हेतुत्व ज०। ४–लब्धात्माकर्तृ–ई०। ५ मुख्यप्रा–ज०। ६–स्याधिगमो–ई०। ७–सोप्यव–ई०।

प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् षट्कारकीसम्भवेऽपि यथैकं स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः, तदपेक्षो नयः । स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्मार्थज्ञानं प्रमाणम् ।

[§५०. ननु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः । विकल्पश्च निर्विषय एव तत्त्वात् प्रधानादिविकल्पवत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगमः स्यादित्याशङ्क्य 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य 5 हेतोः तर्कादिना अनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह–]

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे ।
प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थाविसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयौघैः ॥४९॥ 10

[§५१. तैश्च तेषां समधिगतौ सत्यां यज्जातं तद्दर्शयति–]

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षावानकलङ्कमेति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥५०॥ 15

नयप्रवेशे पञ्चमः परिच्छेदः ।

इति प्रमाणनय (य) प्रवेशः समाप्तः ।

कृतिरियं सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्येति ।

[मोहेनैव परोऽपि कर्मभिरिह प्रेत्याभिबन्धः पुनः,
भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रभ्रष्टदृष्टिर्जनः । 20
कस्माच्चित्रतपोभिरुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दते,
किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तैर्जडा वञ्चिताः ॥]

---

१ यथैकस्व–ज० । २–र्थं ज्ञा–ज० । ३–थानु–ज० । ४–र्थाविस–मु० लघी० । ५–वानकलङ्कयाति मु० लघी० । ६ एव प्रक्रान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चम नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेद समाप्त । न्यायकु० । ७ श्लोकोऽयं ई०, ज० प्रत्योः प्रमाणनयप्रवेशसमाप्त्यनन्तरमुपलभ्यते । परं न्यायकुमुदचन्द्रकृता प्रभाचन्द्रेण लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिकृता अभयचन्द्रेण च अव्याख्यातत्वात्, अर्थदृष्ट्या प्रकरणेन चासङ्गतत्वात् प्रक्षिप्त एवेति भाति ।–सम्पा० ।

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते ।
विधौ निषेधेप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥६३॥

कचित् स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्, अवधारणाभावेऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यम्भावित्वात्, अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गः। 5 किं बहुना विधिनिषेधानुवादाऽतिदेशवाक्येषु, कारकेषु कर्त्रादिषु, स्वार्थादिषु, प्रातिपदिकार्थेषु, साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः इत्याबालप्रसिद्धम् ॥६३॥

[§ ६५. ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽयुक्तमुक्तं 'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह–]

10 वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।
वाञ्छितांश्च कचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वि(३)ति ॥६५॥

वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वमागमात् प्रतिपत्तव्यम्। वक्त्रभिप्रायाद्भि-15 न्नस्यार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । अयञ्च प्रसङ्गोऽन्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतो(४)ऽपनीयते सुषुप्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात्, अनिच्छतामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात्, वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृ(५)त्वाभावात् । उभयत्र व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इत्यलौकिकप्रतिभानम्; लोको हि अर्थस्या(६)-20 ऽऽप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे, त(७)त्र शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात् । (८)अबाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेयस्वरूपमातिष्ठमानानां युक्तमभिप्रेतमात्रसूचित्वं शब्दानाम् ॥६४, ६५॥

[§ ६६. साम्प्रतं 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह–]

श्रुतभेदाः नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।
25 द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥६६॥
निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरे(९)कपृथक्त्वगः ।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥६७॥

नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्र-

१-क्तेऽपि मु० लघी० । २-निराकाराभ्युपगमस्यावश्य-ई० । ३ त्विति मु० लघी० । ४ कुतोऽप्रतीयते ज० । ५-वक्तृत्वभा-ज० । ६-र्थस्याप्ति-ज० । ७ तत्र शब्दव्यवहारोस्थितिमतिक्रम्य स्वेच्छ-ई० । ८ अबाधितमतिक्रम्य ज० । ९-रेकापृ-मु० लघी० ।

भावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात्, ततः सुभाषितम्– § ५) *"इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः"* इति ॥५४॥

[§ ५६. ननु चेन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निकर्षव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव उत्पत्तेः तस्यैव तत्र साधकतमत्वोपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम्। इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–]

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः । 5
कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥५५॥

सन्निकर्षादयः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसीयन्ते नच तैर्बुद्धिः, प्रागनध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद् बुद्धेरन्वेषणम्? आत्ममनइन्द्रियार्थानां कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुरवबोधः। कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम्? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः? उत्पन्नं 10 हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः। आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५५॥

[§ ५७. ननु यथालोक तदुत्पत्तेः कारणं न स्यात्तर्हि तदभावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तिः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह–]

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् । 15
कुड्यं दिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकम्; तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात्। अन्यत्र विज्ञानाऽभावहेतुरिति चेत्; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात्। अर्वाग्भागदर्शिनः परभागपरिच्छेदाऽभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्वं स्यात् तमोवत्। प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात्। नावरणं 20 तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५६॥

[§ ५८. ननु चात्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गान्न किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–]

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥५७॥ 25

यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः। § ६) *"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः"* इति बालिशगी-

---

१–क्या बु–ज०। २ आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणां ई०। ३ वाक्यमेतन्नास्ति ज०। ४–द्ध्यमना ज०। ५ ब्रूयु कथ तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चित्यासाधि (?) ज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमाना कारणमकारण वा कथ ब्रूयु ज०। ६ तत्कारणतया ई०। ७ विरोधि ज०। ८–ज्ञाने प्र–ज०। ९–नविरो–ई०। १०–स्वकर्म–ज०।

सदभेदात्समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥६९॥

सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः तदभ्युपगमो-पायाभावात्, नापि तस्योपेयत्वं खरविषाणवत् ॥६९॥

5 [§६९. व्यवहारनयं दर्शयन्नाह–]

व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता ।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥७०॥

प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इत्याकुमारं प्रसिद्धम् । अन्यथा संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पं प्रमाणं
10 व्यवहाराविसंवादात् । 'उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चै-तन्यस्वभावः' इत्यादिश्रुतज्ञानेन पूर्वापराविरोधलक्षणसंवादसम्भवात् प्रामाण्यम्, अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च । बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां व्यव-हारविरोधित्वात् दुर्ण (र्न) यत्वम् ॥७०॥

[§७०. ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह–]

15 भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।
सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

बहिरणवः सञ्चिताः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं दर्शयन्ति यथा तद्वत् संवि-त्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साध-येत् भेदस्य अभेदविरोधात्, अन्यथा क्वचिन्नानात्वमेव न स्यात् । सापेक्षो नयः,
20 निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः ॥७१॥

[§७१. अथ सप्तनयेषु मध्ये केऽर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह–]

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥

25 कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत्, अभूत् भवति भविष्यति, करोति क्रियते, देवदत्तो देवदत्तेति । पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्, इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । क्रियाश्रयः एवम्भूतः, कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्व-स्याऽयोगादिति । कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति ? कथञ्च न ?

---

१ तस्योपे–ज० । २–मात्रे शून्यवचसा ज० । ३–विन्यासमाश्रिता ज० ।

मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेयं ब्रुवाणः स्वस्थः? ॥६०॥

[§ ६२. अधुना तद्भेदं दर्शयन्नाह–]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।
अन्तर्भावान्न युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥ 5

इन्द्रियार्थज्ञानं[1] स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्, अवग्रहेहावायधारणात्मकम्। अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधात्मकम् । अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम्। तदस्ति सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्। श्रुतं परोक्षं सकलप्रमाणप्रमेययाथात्म्यस्वरूपाभिधायि बाधारहितं प्रमाणम्। अत्र अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रोक्तमिति नेहोच्यते ॥६१॥ 10

[§ ६३. श्रुतस्य भेदं दर्शयन्नाह–]

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा ॥६२॥ 15

अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकाशं काल इति। तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैरसाधारणैः अमूर्तत्वासङ्ख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधारणैः अनेकान्तः। तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः। तथेतरे परिणामनो योज्याः। ज्ञो जीवः सुखदुःखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः। साकल्यमनन्तधर्मात्मकता। वैकल्यमेकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः। तत्र 'जीवः' इत्युक्ते जीवशब्दो योग्यतापेक्षोऽनादिसङ्केतः स्वभावभूताऽन्यापोहस्वार्थप्रतिपादनः न्यक्षेण प्रतिपक्षं निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात्। ततः स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति स्वेष्टसिद्धिः। नयोपि तथैव सम्यगेकान्तः। 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्तविषयः स्याच्छब्दः। 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ॥६२॥ 20 25

[§ ६४. ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारञ्च प्रयुञ्जते अन्यथैव तत्प्रयोगदर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोदार्थमाह–]

१-मु ज०। २-न्यार्थ ज्ञा-ज०। ३-यत्तात्म- न्यायकु०। ४-क्षोऽना-ई०। ५ स्वेष्टविसि-ज०। ६-क्ते नैका- न्यायकु०।

पेक्षं संज्ञाकर्म नाम। तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वादनेकधा। आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना। अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्। तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः। अप्रस्तुतार्थाऽपाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्। निक्षिप्ताः 5 पदार्थाः निर्देशादिभिः सदादिभिश्चानुयोगैः अनुयो(यु)ज्यन्ते। अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः सर्वे पदार्थाः; तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि। एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तो बाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्तमतीन्द्रियं 10 सुखमृच्छत्यात्मा। नहि गुणादिविनाशात् जडः, गुणगुणिविनाशात् शून्यः, भोग्यविरहात् तदभोक्ता; तथाधिगमाभावात् तद्बाधासम्भवाच्च। शरीरादिकं धर्मि ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य, तत्सत्यपि ज्ञानोदयसम्भवात्॥७६॥

[§ ७३. इदानीं शास्त्रकारः शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनं प्ररूपयन्नाह–]

भव्यः पञ्च गुरून् तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
15 तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः।
दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम्॥७७॥
प्रवचनपदान्यभ्यस्यार्थांस्ततः परिनिष्ठितान्–
सकृदवबुद्धेद्धाद्बोधाद्बुधो हतसंशयः।
20 भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम्॥७८॥

लक्षणसङ्ख्याविषयफलोपेतप्रमाणनयनिक्षेपस्वरूपप्ररूपके हि हेतुवादरूपे आगमे गुरूपदेशपरम्परायथावदधिगते परमप्रकर्षेण अभ्यस्ते सति आत्मनो जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति। तत्सम्पत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण 25 परार्थसम्पत्तयेऽसौ चेष्टते॥७८॥

इति भट्टाकलङ्कशशाङ्कानुस्मृतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः॥छ॥

नमोऽकलङ्काय कृतीर्थनाशिने स्याद्वादमार्गप्रतिबोधहेतवे।
मिथ्यान्धकारप्रतिभेदभानवे सम्यक्त्वसत्त्वविकाशमर्त्तये॥छ॥

[समाप्तमिदं प्रकरणम्।]

१–क्षं कर्म ज०। २ 'जड' नास्ति ज०। ३ अयं विवृतिभागो न व्याख्यातो न्यायकुमुदचन्द्रकृता।–सम्पा०।

तिकार्थग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताऽभिनिबोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयौ द्रव्य-पर्यायार्थिकौ । द्रव्यमेकान्वयात्मकम् । एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वादन्वयि । पुरुषत्वादेः अपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मनां तथाभावसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकादन्वयिनोरस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वमनुमिमीमहे । तथाहि-स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः । पुरुषश्च समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीवः कर्मनिर्मुक्तः, व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्यायः पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम् एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य ज्ञानादयैः प्रतिक्षणमात्मसात्कृताऽनन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम् पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वमाविर्भूताऽनाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमत्त्वमपरिजहत् । नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः मूर्त्तत्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्त्तभेदप्रसङ्गात् । सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्तामित्युक्तप्रायं नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्कुर्वत् कथन्निराकुर्युः ? ततः तीर्थकरवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकारिणौ द्रव्य-पर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति, तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भावात् । न नैगमस्य प्रमाणता तादात्म्यविवक्षाऽभावात् ॥६७॥

[§ ६७. एतदपि कुत इत्यत्राह-]

> गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।
> विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

'जीवः सत्त्वमूर्त्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टाऽसङ्ख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः' इति जीवस्वतत्त्वनिरूपणायां गुणीभूता सुखादयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभासः । गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्वताञ्चेत्यादितादात्म्यमविवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे, सङ्ग्रहादावेकविवक्षेति भेदः ॥६८॥

[§ ६८. तत्र सङ्ग्रहस्वरूपं सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह-]

१-मतिभिन्नार्थवि-ई० । २-मेकत्वान्वया-न्यायकु० । ३-यस्ते च प्र-न्यायकु० । ४मूर्तिं-ज० । ५-णाम ज० । ६-भूतावि-ज० । ७ निगमे ज० ।

तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येव प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात्। कृतिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्यौदनः, व्रीहयस्तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्यनागतविषयाणामविसंवादिनामानन्त्यात्। ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धम् प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादकस्वाभाव्यात् विज्ञानवत्। वर्तनालक्षणः कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, स्त्यानप्रसवतदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्, कथञ्चिद्वस्तुस्वभावभेदकं तथाप्रतीतेः। पर्यायोऽप्यर्थभेदकृत्। क्रियाभेदात् एकोऽपि शब्दः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात्तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवन्नेव इन्द्रः नान्यदा। ततः सिद्धः क्रियाभेदः पाचकपाठकादिवत्। नहि वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं वितथं परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्। व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन्नयो न मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षत्वस्यैव मिथ्यात्वात्। अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वम्, तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम्, नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम्[४]।

[§ ७२. अथेदानीं शास्त्रविधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सरं निक्षेपस्वरूपं प्ररूपयन्नाह-]

> श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः।
> परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥७३॥
> नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।
> विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥७४॥
> अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्भिदां गतैः।
> द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः ॥७५॥
> जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्।
> तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥

श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि। प्रमाणं त्रिकालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपणम्। तदर्थांशपरीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः। ताभ्यामधिगमः परमार्थव्यावहारिकार्थानाम्। तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोपन्यासो न्यासः। सोऽवरतश्चतुर्धा नामस्थापनाद्रव्यभावतः। तत्र निमित्तान्तरान-

१-पायत्वात् न्यायकु०। २-प्रतिभागे-ज०। ३ तत्प्राप्त्युपा-न्यायकु०। ४ एतावत्पर्यन्तं न्यायकुमुदचन्द्रकृता तात्पर्यवृत्तिकृता च षष्ठपरिच्छेदरूपेण विभज्य परिच्छेदसमाप्ति कृता। विवृतिप्रतौ तु नाय विभाग।-सम्पा०। ५-भिदागतैः मु० लघी०। ६-भिनिवेशत ज०। ७-रीक्षप्र-ज०।

भात्रस्य निश्चयात् किं प्रमाणान्तरेण अपूर्वार्थाधिगमस्य तत्फलस्याभावात्, समारोपव्यवच्छेदस्य च निश्चिते समारोपाभावेनासंभवादित्यत्रेदमाह–]

सदसज्ज्ञानसंवादविसंवादविवेकतः ।
सविकल्पाविनाभावी समक्षेतरसम्प्लवः ॥५॥

5 [§ ६. नाध्यारोपव्यवच्छेदान्नापि वस्तुग्रहात्ततः, प्रामाण्यमनुमानस्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । एतदेवाह– 'एकत्र' इत्यादिना ।]

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।
अतद्धेतुफलापोहे कुतस्तत्र विपर्ययः ? ॥६॥

[§ ७. तत्र अभिलापवत्त्वं विकल्पलक्षणमित्येतदेवाह–]

10 **अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः ।**
अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते ॥७॥

[§ ८. भवतु वा किमपि सामान्य तथापि शब्दस्मरणवच्चक्षुरादिबुद्धीनामपि व्यवसायात्मव (क) त्वमनिवार्यमेव, तदाह–]

पदार्थज्ञानभागानां पदसामान्यनामतः ।
15 **तथैव व्यवसायः स्याच्चक्षुरादिधियामपि ॥८॥**

[§ ९. तत्र विचारबलात् प्रत्यक्षस्य क्षणविषयत्वावगमः, स्वत एवेति चेन्न; तथैवासम्प्रतिपत्तेरेतदेवाह–]

आत्मनाऽनेकरूपेण बहिरर्थस्य तादृशः ।
विचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यभाक् ॥९॥

20 [§ १०. ननु तदिदं भवता जात्यन्तरं यत्पुरोवर्तितया प्रतिभाति नीलादिस्थूलरूप तस्य च दूरविरलकेशादिविन्ना (दिवद) विद्यमानस्यैव प्रतिभासनात् कथ तद्रूपो बहिरर्थः पारमार्थिको यतस्तद्विषयत्वं प्रत्यक्षस्येति चेदत्राह–]

अर्थज्ञानेऽसतोऽयुक्तः प्रतिभासोऽभिलापवत् ।

[§ ११. न केवलमवयविन एव तस्य तद्विषयत्वमपि तद् (तु) द्रव्यस्यापि अक्रमव ;
25 क्रमेणापि परापरपर्यायाविष्वग्भावस्वभावस्य द्रव्यसंज्ञितस्य स्तम्भादेरविरोधादेतदेवाह–]

परमार्थैकतानत्वपरिणामाविघातिनः ॥१०॥

[§ १२. स्यान्मतम्–अवयवेभ्यो भिन्न एवावयवी, पर्यायेभ्यश्च द्रव्यमर्थान्तरमेव, बहिर्र्था अवयवा एव वा, निरवयविनो द्रव्या एव वा, पर्यया बहिरर्थाः, ततस्तस्यैव प्रत्यक्षात् प्रतिभासो न क्रमाक्रमानेकस्वभावस्येति । तत्राह–]

30 **प्रतिज्ञातोऽन्यथाभावः प्रमाणैः प्रतिषिध्यते ।**

श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कदेवविरचितः

॥ न्यायविनिश्चयः ॥

[न्यायविनिश्चयविवरणादुद्धृतः]

[§ २२. तदयं परोक्षज्ञानेत्यादेः सङ्ग्रहः, तदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह–]

एतेन येऽपि मन्येरन्नप्रत्यक्षं धियोऽपरम्।
संवेदनं न तेभ्योऽपि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥१९॥

[§ २३. ततो नाऽनात्मवेदनस्य ज्ञानस्य विषयप्रतिनियमो विवक्षितवदन्यत्रापि तस्य 5 प्रवृत्तिसंभवात्। तदेवाह–]

विमुखज्ञा न संवेदो विरुद्धो व्यक्तिरन्यतः।
असञ्चारोऽनवस्थानमविशेष्यविशेषणम् ॥२०॥

[§ २४. साम्प्रतं 'विमुख' इत्यादिकमेव व्याख्यातुकामो यौगज्ञानदूषण सौगतज्ञानेऽपि योजयन्निदमाह–]

10 **निराकारेतरस्यैनत् प्रतिभासभिदा यदि।**
तत्राप्यनर्थसंवित्तौ अर्थज्ञानाविशेषतः ॥२१॥

[§ २५. इदानीमनवस्थानमेव संविद्विषयं पूर्वोक्त व्यक्ति (क्ती) कुर्वन्नाह–]

ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानमपेक्षितपरस्तथा।
ज्ञानज्ञानलताऽशेषनभस्तलविसर्पिणी ॥२२॥
15 **प्रसज्येत, अन्यथा तद्वत्प्रथमं किन्न मृग्यते?।**
गत्वा सुदूरमप्येवमसिद्धावन्यचेतसः ॥२३॥
असिद्धिरितरेषाञ्च तदर्थस्याप्यसिद्धितः।
असिद्धो व्यवहारोऽयमतः किं कथयाऽनया? ॥२४॥

[§ २६. तदेवमवस्थापिते अर्थज्ञानस्यात्मवेदने सांख्यः प्राह–सत्यमर्थज्ञान प्रत्यक्षमिति 20 नात्र विवादः, किन्तु तत् परार्थमचेतनञ्च ... तत इदमुच्यते – अर्थज्ञानमचेतनं विषयत्वात् घटादिवदिति; तत्रेदमाह–]

प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम्?।
अथ नायं परिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम्? ॥२५॥

[§ २७. अर्थविषयत्वञ्च यदि प्रतिविम्बमन्तरेण प्रथमप्रत्यक्षेऽपि व्यर्थं तत्कल्पनम्। 25 प्रतिविम्बेनेति चेत्; तदर्थकार्यत्वस्यापि न स्वतोऽवगमः। पूर्ववदन्यतः प्रत्यक्षादिति चेन्न; तस्याप्यर्थविषयत्व इत्याद्यनुबन्धादव्यवस्थितेः। एतदेवाह–]

प्रत्यक्षं करणस्यार्थप्रतिविम्बमसंविदः।

[§ २८. न पुरुषस्यापि वस्तु तदुपरक्तं वा चित्तं संवेद्यं सम्भवतीति, तदेवाह–]

अप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमयुक्तमविकारिणः ॥२६॥

30 [§ २९. यथैव तर्हि स्वरूपं सवेदनरूपेण पश्यति तदाऽर्थमर्थरूपेण इत्यर्थरूपता

श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कविरचितः

॥ न्यायविनिश्चयः ॥

१. प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।

[§ १ अतः सर्वत्र तद्गुणस्तवनमेव मङ्गलम्, तत एव तत्प्रयोजनभावान्नापरम् । किं पुनस्तदित्याह—]

प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकमूर्त्तये ।
नमः श्रीवर्द्धमानाय भव्याम्बुरुहभानवे ॥१॥

[§ २. अथ यदि भगवतो भव्याम्बुरुहभानुत्वं तर्हि वाङ्मयूखसापेक्षमेव नान्यथा । 5
न हि तत्सन्निधानादनुपदेशमेव भव्याना तत्त्वज्ञानमिति सौगतवत्स्याद्वादिनामभिनिवेशोऽस्ति,
ततस्तद्वाङ्मयादेव तत्त्वज्ञानसिद्धे वाङ्मयमिदमपार्थकम् । नह्येकवाङ्मये (या) वसाध्ये तदश-
मुपयोगवत् । तत्रापि तदपरापरवाङ्मयोपयोगपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गादिति, तत्रेदमाह—]

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः । 10
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥२॥

[§ ३. सम्यग्ज्ञानात्मकत्वमेव प्रमाणस्य व्यवस्थापयन्नाह—]

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥३॥ 15

[§ ४. करिष्यते हि 'सदसज्ज्ञान' इत्यादिना इन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'परोक्षज्ञान' इत्यादिना अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'लक्षणं समम्' इत्यादिना चातीन्द्रियप्रत्यक्षस्य समर्थनमतमपि (मत इ) न्द्रियप्रत्यक्षादिभेदेन त्रिविधमेव तदिति भवत्येव निर्णयः । तत्र—]

हिताहितामिनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्मितम् ।
यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥४॥ 20

[§ ५. कश्चिदाह—यदि साकारं निश्चयात्मक प्रत्यक्षं तत एव निरवशेषोपाधिगर्भस्य

तैमिरिकज्ञानादावर्थ एव नास्ति तत्र कथम्.....इति सिद्धं तत्केशादेस्ताद्रूप्यादेव प्रतिवेदनम्, ततस्तत्र विपर्यस्यत्येव भवदुक्तो न्यायः । तदेवाह–]

अनर्थाकारशङ्केषु त्रुटत्येष नयो यदि ।

[§ ३७. उत्तरमाह–]

5 **सर्वं समानमर्थात्मासंभाव्याकारडम्बरम् ॥३४॥**
तद्भ्रान्तेराधिपत्येन सान्तरप्रनिभासवत् ।

[§ ३८. इदानीं 'प्रकाशनियमो हेतोः' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुरवसरप्राप्तमेव चोद्यमुत्थापयति–]

यथैवात्मायमाकारमभूतमवलम्बते ॥३५॥
10 **तथैवात्मानमात्मा चेदभूतमवलम्बते ।**

[§ ३९. तत्रोत्तरमाह–]

न स्वसंवेदनात्तुल्यं भ्रान्तेरन्यत्र चेन्मतम् ॥३६॥

[§ ४०. तदेकयोगक्षेमत्वेन आत्माप्यनुपप्लव एव स्वपरपरिच्छेदस्वभावावपि तस्य, इति कथन्न बाह्यग्रहणम् ? तदेवाह–]

15 **सत्यं तमाहुराचार्या विद्यया विभ्रमैश्च यः ।**
यथार्थमयथार्थं वा प्रभुरेषोऽवलोकते ॥३७॥

[§ ४१. ततो न ग्राह्यभेदान्नाप्याकारभेदात् संवित्तिभेदः शक्तिभेदादेव तदुपपत्तेः इत्युपपन्नमुक्तम्–'विषय' इत्यादि ।]

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽनेन वेदितः ।
20 **ग्राह्यभेदो न संवित्तिं भिनत्त्याकारभङ्ग्यपि ॥३८॥**

[§ ४२. ततो विषयसङ्कलिततज्ज्ञानस्मरणस्य अन्यथैव भावान्न ततो विषयाकारव्यवस्थापनं विज्ञानस्योपपन्नमिति चेदुच्यते–अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्यदि । भ्रान्त्या सङ्कलनज्योतिर्मनस्कारेऽपि सा भवेत्...तदिदमतिप्रसङ्गापादन...परस्यान्युत्पत्तिमापादयति न निराकारज्ञानवादिनः, शक्तिप्रतिनियमादेव तेन तत्परिहारस्य अभिधानात् । तदेवाह–]

25 **अर्थज्ञानस्मृतावर्थस्मृतौ नातिप्रसज्यते ।**

[§ ४३. कथं पुनर्नातिप्रसज्यते यावता निराकारज्ञानस्य साधारणतया सर्वविषयत्वं तत्स्मरणस्यैव च सर्वत्रैवानुभवविषये प्रवर्त्तनमापद्यत एवेति चेत्; अत्र पूर्वोक्तमेव शक्तिनियममुत्तरीकुर्वन्नाह–]

सरूपमसरूपं वा यत्परिच्छेदशक्तिमत् ॥३९॥
30 **तद्व्यनक्ति ततो नान्यत्,**

[§ १३. विचारज्ञानं स्वपरप्रकाशमुरीकर्त्तव्यम्, अन्यथा स्वगतपरोक्षतायास्तेनाप्रतिपत्तेरुक्तदोषापरिहारादेतदेव दर्शयितुमाह-]

परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् ॥११॥

[§ १४. तत्र सिद्धस्य तस्य [अर्थप्रकाशस्य] अन्यथानुपपत्तिपरिज्ञानम्, नाप्यसिद्धस्यैव, नह्यप्रतिपन्ने धूमे तस्य पावकापेक्ष स्वप (सुप) रिज्ञानमन्यथानुपपन्नत्वम्, तदेवाह-]　5

अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्धयति ।

[§ १५. ततो मिथ्यैवेद मतम्-'अव्यवसितैरपि व्यवसायैर्बाह्य व्यवसीयते' इति; तदाह-]

मिथ्याविकल्पकस्यैतद् व्यक्तमात्मविडम्बनम् ॥१२॥

[§ १६. तदेव प्रासङ्गिक प्रतिपाद्य 'परोक्ष' इत्यादिकस्यैवार्थम् 'अध्यक्षम्' इत्यादिभिः श्लोकै. सङ्ग्रहीतुकामः प्रथम परप्रसिद्धेनैव अर्थज्ञानानुमानेन अर्थज्ञानस्य स्वसंवेदनविषयता व्यवस्थापयन्नाह-]　10

अध्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।
नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥१३॥

[§ १७. पुनरप्युक्तस्यैवार्थस्य सोपपत्तिक सङ्ग्रहमाह-]　15

आन्तरा भोगजन्मानो नार्थाः प्रत्यक्षलक्षणाः ।
न धियो नान्यथेत्येते विकल्पा विनिपातिताः ॥१४॥

[§ १८. यत्पुनरेतत्-'माभूत् सुखादीना प्रत्यक्षत्वम्' इति, तत्राह-]

सुखदुःखादिसंवित्तेरवित्तिर्न हर्षादयः ।
आनुमानिकभोगस्याप्यन्यभोगाविशेषतः ॥१५॥　20

[§ १९. ततो न सुखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्व न्याय्यम् । इतश्च [न] तन्न्याय्यम् इत्याह-]

तावत्परत्र शब्दोऽयमनुमातुं कथं धियम् ।
यावदात्मनि नचेष्टासम्बन्धं न प्रपद्यते ? ॥१६॥

[§ २०. तत्र आत्मनि बोधज्ञानमनुमानात्, लिङ्गाभावाच्च; तदाह-]

विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षणः ।　25
अहेतुरात्मसंवित्तेरसिद्धेर्व्यभिचारतः ॥१७॥

[§ २१. 'मनस्कारादि' इत्यत्र आदिशब्देन अनुक्तपरिग्रहः । अनुक्तश्च परिच्छिन्नो विषय., तत्परिच्छेदो वा स्यात्, सोप्यात्मसंवित्तेः मीमासकज्ञानस्य अहेतुरगमक. इत्याह-]

असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ।
सिद्धे तत्किमतो ज्ञेयं सैव किन्नानुपाधिका ? ॥१८॥　30

अभिन्नदेशकालानामन्येषामप्यगोचराः ।
विप्लुताक्षमनस्कारविषयाः किं बहिः स्थिताः ? ॥४६॥

[§ ५३. ततो न बहिरर्थतया स्वप्रान्तिकस्य कामिन्यादेर्वा सत्त्वम्, बहिरवस्थितस्य नानाप्रतिपत्तृसाधारणत्वप्रसङ्गात् । नाय दोपः, तस्य अन्तर्देहवृत्तित्वात् इति चेत्; इदमेवोल्लिग्य
5 (ल्लिख्य) परिहारयन्नाह–]

अन्तःशरीरवृत्तेश्चेददोषोऽयम् ; न; तादृशः ।
तत्रैव ग्रहणात् किं वा रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥४७॥

[§ ५४. तदिदमतिसुकुमारप्रज्ञगोचरमपि हेतुदोपम् अन्तरङ्गतमोबाहुलका [द] प्रतिपद्यमानैरेव परैः प्रकृतमनुमानमुपदर्शितमित्यावेदयन्नाह–]

10 **विप्लुताक्षा यथा बुद्धिर्वितथप्रतिभासिनी ।**
तथा सर्वत्र किन्नेनि जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥४८॥

[§ ५५. यत्पुनरेतत्–कामिन्यादिबुद्धिवत्तरङ्गचन्द्रादिवच्चेति निदर्शनम्; तत्रापि वितथप्रतिभासित्वस्य च यतः प्रतिपत्तिः तस्य चेद्वितथप्रतिभासत्व कथन्न व्यभिचारः ? वितथप्रतिभासित्वे तु ततः कथ तत्सिद्धिर्विपर्ययवत् । अतो निदर्शनस्य साध्यवैकल्या [त्] मिथ्या [त्वमा]
15 वेदयन्नाह–]

प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत् ।
वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥४९॥

[§ ५६. ग्राह्यादिसन्तानान्तरजीवान्तरभेदप्रतिभासस्तु विपरीतवासनाबलादविद्याबलाद्वा परिकल्पितः···तदेवाह–]

20 **अद्वयं द्वयनिर्भासं सदा चेदवभासते ।**

[§ ५७. तत्रोत्तरमाह–]

न स्वतो नापि परतो भेदपर्यनुयोगतः ॥५०॥

[§ ५८. तन्न अत्रापि विकल्पप्रतिसंहारवती वेला नाम काचिच्छक्यनिरूपणा, यतद (यतस्तद) द्वैतस्य स्वतःप्रकाशनमुपकल्प्येत । तदाह–]

25 **प्रतिसंहारवेलायां न संवेदनमन्यथा ।**

[§ ५९. तन्न अद्वैतवादः श्रेयान् । विभ्रमवाद एवास्तु; इति चेन्न; तस्य 'विप्लुत' इत्यादिना प्रतिक्षेपात् । तदेव व्याचक्षाणास्तत्प्रतिक्षेपमेव दर्शयति–]

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तिमीरयन्ति नचापरम् ॥५१॥
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ।

30 [§ ६०. बालादीनामपि तत्र विप्लवप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्, न चैवम्, अविप्लवपरिज्ञानस्य तत्र तेषां भावादित्यसिद्धो हेतुः । अतश्च तद्वादिनां जडत्वमिति,···तदाह–]

अर्थस्य साधिका, सवेदनरूपता सवेदनस्येति तदाकारतैव सर्वस्य साधिका नान्यः स्वभावो भेद-कोऽपि ज्ञानस्यार्थेन घटयतीत्यत्राह–]

एतेन वित्तिसत्तायाः साम्यात्सर्वैकवेदनम् ।
प्रलपन्नः प्रनिक्षिप्ताः प्रतिबिम्बोदये समम् ॥२७॥

[§ ३०. पुनरपि साकारवाद दूषयन्नाह–] 5

सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम् ।

[§ ३१. इति नार्थ सारूप्येण यतः स एव तत्र तद्विशेष स्यात् । कस्तर्हि तद्वि-शेष इति चेत्, अतदर्थपरावृत्तत्वमेव, तदेवाह–]

अतदर्थपरावृत्तमतद्रूपं तदर्थदृक् ॥२८॥

[§ ३२. तदयमर्थशक्तिनियमात् सवेदनस्याधिगमनियम. इत्येतदेवोत्तरार्थं विवृण्वन्नाह–] 10

अथेदमसरूपं किमतदर्थनिवृत्तितः ।
तदर्थवेदनं न स्यादसमानामपोह्वत् ॥२९॥
अत्राक्षेपसमाधीनामभेदे नूनमाकुलम् ।
स्वचित्तमात्रगर्त्तावतारसोपानपोषणम् ॥३०॥

[§ ३३. स्यान्मतम्–'सारूप्येऽपि' इत्यादिना सारूप्यसामान्ययोः साधारणो दोषम 15 (षोऽन्) न्वयः प्रतिपादित । ततश्च कथ सारूप्यवत् सामान्यस्यापि वस्तुत्वम्² माभूदिति चेन्न; तस्य 'सामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्' इत्यनेन प्रत्यक्षविषयत्वनिवेदनात् । अवस्तुन. प्रत्यक्षविषय-त्वानुपपत्तेरिति । तत्राह–]

सामान्यमन्यथासिद्धं न विज्ञानार्थयोस्तथा ।
अदृष्टेरर्थरूपस्य प्रमाणान्तरतो गतेः ॥३१॥ 20

[§ ३४. भवतु तर्हि प्राग्भाविन एव विषयत्व तस्य हेतुत्वेन ज्ञाने प्रतिबन्धादिति चेन्न, ज्ञानकाले तस्याभावात् । न हि असतस्तत्काले तद्विषयत्वम्, एव हि निर्विषयत्वमेव ज्ञानस्य स्यात् । साकारवादिना तु नाय दोष., स्वाकारज्ञानहेतुतयैव तस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः तत्राह–]

अतीतस्यानभिव्यक्तौ कथमात्मसमर्पणम् ? ।
असतो ज्ञानहेतुत्वे व्यक्तिरव्यभिचारिणी ॥३२॥ 25

[§ ३५. यदि निराकारैव व्यक्तिः, कथ ततः प्रकाशननियमो 'नीलस्यैवाय प्रकाशो न पीतादे.' इत्येवरूप इति चेदत्राह–]

प्रकाशनियमो हेतोर्बुद्धेर्न प्रतिबिम्बतः ।
अन्तरेणापि ताद्रूप्यं ग्राह्यग्राहकयोः सतोः ॥३३॥

[§ ३६. भवतु नाम सत्यर्थ (र्थे) हेतोरेव तत्प्रकाशननियमो न ताद्रूप्यात् । यत्र तु 30

तत्र मणिप्राप्त्या परितोषदर्शनात्, न प्रदीपप्रभामणिज्ञानं विपर्ययात्। तद्वदत्रापीति चेन्न; तत्रापि विभ्रमे तदनुपपत्तेः.....तदेवाह–]

परितुष्यति नामैकः प्रभयोः परिधावतोः ॥६०॥
मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ मणिरत्र दुरन्वयः ॥

5 [§ ६९. तदनेन साध्यसमत्वं दृष्टान्तस्य दर्शितम्। परो दृष्टान्तसमर्थनमाह–]

सति भ्रान्तेरदोषश्चेत्;

[§ ७०. तत्रोत्तरमाह–]

तत्कुतो यदि वस्तु न? ॥६१॥
कामं सति तदाकारे तद्भ्रान्तं साधु गम्यते।

10 [§ ७१. तन्न सांवृतं तत्त्वमित्युपपन्नम्। भवतु वास्तवमेवेति चेन्न; तस्य मिथ्याज्ञानादसिद्धेः, सर्वेषामपि तत एवाभिमतसिद्धिप्रसङ्गात्। तदाह–]

अयमेवं नवेत्येवमविचारितगोचराः ॥६२॥
जायेरन् संविदात्मानः सर्वेषामविशेषतः।
तावता यदि किञ्चित् स्यात् सर्वेऽमी तत्त्वदर्शिनः ॥६३॥

15 [§ ७२. शून्य-निर्विकल्पवादिनोः विचारस्यैवासंभवात्। सतोऽपि तस्य स्वांशमात्रपर्यवसानात् तदाह–]

पर्वतादिविभागेषु स्वांशमात्रावलम्बिभिः।
विकल्पैरुत्तरैर्वेत्ति तत्त्वमित्यतियुक्तिमत् ॥६४॥

[§ ७३. ततो विचारसाफल्यमभ्युपगच्छता तावद् वक्तव्यं बहिरर्थविषयत्वं विकल्पानाम्, 20 अन्यथा उपहासास्पदत्वेन तत्साफल्यानुपपत्तेः। प्रकारान्तरेणापि तेषां तद्विषयत्वं दर्शयन्नाह–]

सन्तानान्तरसद्भूतेश्चान्यथानुपपत्तितः।
विकल्पोऽर्थक्रियाकारविषयत्वेन तत्परैः ॥६५॥
ज्ञायते,

[§ ७४. ननु यावदर्थान्तरस्यैव जलादेर्विकल्पवेद्यत्वमनुमानेन उच्यते, तावदनर्थान्तरस्य 25 कस्मान्न कथ्यते? तदनुमानस्यापि भावात्; तथाहि–जलादिस्तद्विकल्पादनर्थान्तरं तद्वेद्यत्वात् तत्स्वरूपवत् इति चेन्न, सन्तानान्तरेण व्यभिचारात्। इदमेवाह–]

न पुनश्चित्तमात्रेऽप्येष नयः समः।

[§ ७५. ननु सन्तानान्तरस्य विकल्पो न तावत्प्रत्यक्षम्; परचेतसा साक्षादप्रतिभासनात्। अनुमानमिति चेन्न; लिङ्गाभावात्। व्याहारादेस्तु न लिङ्गत्वं गाढमूर्छादौ तदभावेऽपि 30 भावात्। तद्विशेषस्य तत्त्वमित्यपि न युक्तम्, असिद्धे साध्ये तस्यैव दुरवबोधत्वात्। सिद्धे

[§ ४४. भवतु नाम वर्तमानस्य तच्छक्तितो व्यक्तिः सति तत्र शक्तिसद्भावात् । अतीतादेस्तु कथम् असति तद्भावादिति मन्यमानश्चोदति–]

व्यक्तिश्चेदसतः कथम् ? ।

[§ ४५. तदिदमपि दर्शनबलेन तत्रापि शक्तिमवस्थापयन् परिहरति–]

आरादपि यथा चक्षुरचिन्त्या भावशक्तयः ॥४०॥ 5

[§ ४६ चोद्यमाविष्कुर्वन्नाह–]

विषमोऽयमुपन्यासः तयोश्चेत्सदसत्त्वतः ।

[§ ४७. परिहरन्नाह–]

यदा यत्र यथा वस्तु तदा तत्र तथा नयेत् ॥४१॥
अतत्कालादिरप्यात्मा, 10

[§ ४८. विपक्षे दोषमाह–]

न चेन्न व्यतिष्ठते ।
व्यवहारविलोपो वा,

[§ ४९. नास्त्येव देशादिभेदः प्रवृत्त्यादिरूपो व्यवहारो वा कश्चित्, तदाश्रयस्य बहिर्भावस्यैवाऽभावात् । तत्प्रतिभासस्तु विपर्यासोपनीत एव । 'प्रतिभासः समस्तोऽपि वासना- 15 बलनिर्मितः' इति वचनात् । तस्मादयमयथार्थमेव (र्थ एव) तदेवाह–]

मोहाच्चेदयथार्थता ॥४२॥

[§ ५०. तत्रोत्तरमाह–]

अत्यन्तमसदात्मानं सन्तं पश्यन् स किं पुनः ।
अस्फुटं विपरीतं वा न्यूनाधिकतयापि वा ॥४३॥ 20
प्रदेशादिव्यवायेऽपि प्रतीयन् प्रतिरुद्ध्यते ? ।

[§ ५१. साम्प्रत 'विपरीतं वा प्रति (ती) यन्' इत्येतत् स्मरणपर्यायेणैव (णेव) प्रत्यभिज्ञानादिना पर्यायेणापि दम (दर्श) यन्नाह–]

एतेन प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिर्गता ॥४४॥
प्रायशोऽन्यव्यवच्छेदे प्रत्यग्रानवबोधतः । 25
अविज्ञाततथाभावस्याभ्युपायविरोधतः ॥४५॥

[§ ५२. स्यान्मतम्–यदुक्तमसन्नेव केशादिः तैमिरिकस्य प्रतिभासते तद्भ्रान्तेराधिपत्येनेति; तदयुक्तम्; असतः प्रतिभासेऽतिप्रसङ्गात् व्योमकुसुमादेरपि तदापत्तेः, ततो वस्तुसन्नेव तत्केशादिः स्वप्नविषयश्चेति; तन्न, '' इच्छयैव तद्भावनालक्षणया परितः कामिन्यादेरुपलम्भात्, अतो न तस्य पारमार्थिक बहिरर्थत्वमेतदेवाह–] 30

तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्षक्षममात्मसमात्मनोः ।
तथा हेतुसमुद्भूतमेकं किन्नोपगम्यते ? ॥७३॥
सर्वैकत्वप्रसङ्गादिदोषोऽप्येष समो न किम् ? ।
भेदाभेदव्यवस्थैवं प्रतीता लोकचक्षुषः ॥७४॥

5 [§ ८५. नहि विभ्रमाद्वस्तुपरिज्ञानमतिप्रसङ्गात्, इति चेदेतदेवाशङ्क्य परिहरन्नाह–]

विज्ञप्तिर्वितथाकारा यदि वस्तु न किञ्चन ।
भासते केवलं नो चेत् सिद्धान्तविषमग्रहः ॥७५॥

[§ ८६. भवतु तत एव निर्णय इति चेन्न; ततोऽपि विभ्रमरूपात्तदयोगात्, अन्यतादृशादेव प्र[ति] सिद्धान्तादपि तद्विषयस्य तत्प्रसङ्गात्तदेवाह–]

10 **अनादिनिधनं तत्त्वमलमेकमलं परैः ।**
सम्प्रीतिपरितापादिभेदात् तत्किं द्वयात्मकम् ? ॥७६॥

[§ ८७. एव पातनिकाया प्रतिविदाहन (विधान) माह–]

ग्राह्यग्राहकवद्भ्रान्तिस्तत्र किन्नानुषज्यते ? ।

[§ ८८. तदेवमङ्गीकृत्य सम्प्रीत्यादिभेद तस्य तत्प्रत्यनीकत्वमपाकृतम् । इदानीं स 15 एवोपायान्नास्तीति निवेदयन्नाह–]

भेदो वा सम्मतः केन हेतुसाम्येऽपि ? भेदतः ॥७७॥
तेषामेव सुखादीनां नियमश्च निरन्वयः ।

[§ ८९. भवतु तर्हि विज्ञानवाद एव तस्य प्रत्यक्षबलादेवोपपत्ते· न ब्रह्मवादो विपर्ययादिति चेदत्राह–]

20 **प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानं मूर्च्छितादौ कथन्न तत् ? ॥७८॥**

[§ ९०. अपि च मूर्च्छितादौ ज्ञानाभावे प्रबोधस्य कादाचित्कत्वेनाहेतुत्वायोगात्, शरीरोपादानत्वप्रसङ्गात्तदाह–]

अज्ञानरूपहेतुस्तदहेतुत्वप्रसङ्गतः ।
प्रवाह एकः किन्नेष्टः तदभावाविभावनात् ? ॥७९॥

25 [§ ९१. यद्येक आत्मा कथ प्रतिशरीरं जीवभेद ··इति चेन्न सम्यगेतत्, उपाधिकल्पितेभ्यस्तेभ्यः परमात्मनोऽन्यत्वात्,···तद्विकारत्वाच्च, तस्यैव परमात्मनः खल्वेते विकाराः तथै (त्रै) वाह–]

अविप्रकृष्टदेशादिरनपेक्षितसाधनः ।
दीपयेत् किन्न सन्तानः सन्तानान्तरमञ्जसा ? ॥८०॥
30 **अन्यवेद्यविरोधात्; किमचिन्त्या योगिनां गतिः ।**
आयातमन्यथाऽद्वैतमपि चेत्थमयुक्तिमत् ॥८१॥

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञाऽपराधिनी ॥५२॥
बभूवेति वयं तावद् बहु विस्मयमास्महे ।
तत्राद्यापि जनाः सक्ताः तमसो नाऽपरं परम् ॥५३॥

[§ ६१. अपि च यद्यपरिज्ञान तद्विप्लवस्य कथमवस्थानम् अविप्लववत् ? परिज्ञानञ्च यद्यविप्लव कथ तदेकान्तः ? सविप्लव चेत्कथ ततस्तत्सिद्धिः विपर्ययवत् ? तदाह–]	5

विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।

[§ ६२. तदसिद्धौ दूषणान्तरमप्याह–]

कथमेवार्थे आकाङ्क्षानिवृत्तेरपि कस्यचित् ॥५४॥
व्यवहारो भवेज्जातिमूकलोहितपीतवत् ? ।

[§ ६३. तदनेन प्रतीत्यपलापादनवधेयवचनत्वं तेषामुपदर्शयति–]	10

अनर्थानेकसन्तानानस्थिरानविसंविदः ॥५५॥
अन्यानपि स्वयं प्राहुः प्रतीतेरपलापकाः ।

[§ ६४. भवतु तत्त्व संविदद्वैतमेवेति चेत्; दत्तमत्रोत्तरम्–'अद्वय द्वयनिर्भासम्' इत्यादिना । तदेव विस्तरयन्नाह–]

स्वतस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ? ॥५६॥	15
मिथस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासनः ? ।

[§ ६५. अतो वितथ एव परस्यापि परतस्तत्प्रतिभासनमित्युपपन्न एव तदुपक्षेप., तदेवाह–]

यतस्तत्त्वं पृथक् तत्र मतः कश्चिद् बुधः परः ॥५७॥
ततस्तत्त्वं गतं केन कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः ? ।	20

[§ ६६. यदि निरंशस्य स्वतः परतश्च न प्रतिभासन तदपि माभूत्, सर्वाभावस्यापि बौद्धै· सिद्धान्तीकरणादिति कश्चित् । निरंशेतरादिनित्येतरादिविकल्पनादिति पर । तत्राह–]

यथा सत्त्वं सतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः ॥५८॥
तथाऽसत्त्वमतत्त्वं वा प्रमाऽसत्त्वसतत्त्वतः ।

[§ ६७. यदि तेषु सत्त्वस [त] त्त्वे तदा कथमसत्त्वासतत्त्वे ? ते चेत्; कथ सत्त्व-सतत्त्वे इति ? तदेवाह –]	25

तदसत्त्वमतत्त्वं वा परसत्त्वसतत्त्वयोः ॥५९॥
न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा तदसत्त्वासतत्त्वयोः ।

[§ ६८. स्यान्मतम्–सावृतमपि विज्ञानमसत्त्वादिविषयमेव तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं न सतत्त्वादिविषयमिति तन्मिथ्यात्वाविशेषात् । मिथ्याज्ञानमपि मणिप्रभामणिज्ञानमेव तन्निबन्धनम्, 30

एतत्समानमन्यत्र भेदाः संविदसंविदोः ॥८८॥
न विकल्पानपाकुर्यान्नैरन्तर्यानुबन्धिनः ।
आहुरर्थबलायातमनर्थमविकल्पकाः ॥८९॥

[§ ९९. इदमेव अनेकान्तवादिनमुपहसत. सौगतस्य प्रत्युपहासं दर्शयन् व्याचष्टे–]

5 **चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ।**
चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः ॥९०॥

[§ १००. ततो न यथोक्त बाह्यमसत्, नापि विभ्रममात्रम्, सकलविकल्पविकलं वा, तत्प्रतिषेधस्याभिहितत्वात् । नापि संवृतिमात्र (त्रं) स्पष्टप्रतीतिविषयस्य तत्त्वानुपपत्ते· । तदाह–]

तस्मान्नैकान्ततो भ्रान्तिर्नाऽसत्संवृतिरेव वा ।
10 **अतश्चार्थबलायातमनेकात्मप्रशंसनम् ॥९१॥**

[§ १०१. सुगतसन्निधानात्तद् (चित्रज्ञानं) अवगम्यत इति चेन्न; अद्वैतवादे सुगतस्यैवाभावात् । भावेऽप्युत्तरमाह–]

न ज्ञायते न जानाति न च किञ्चन भाषते ।
बुद्धः शुद्धः प्रवक्तेति तत्किलैषां सुभाषितम् ॥९२॥

15 [§ १०२. न च कार्याभावादसत्त्व कार्येण सत्त्वव्याप्तेरभावात् ···इति न कार्याभावात् तद्द्वय (तद्द्वय) स्याभावः, एतदेवाह–]

न जातं न भवत्येव न च किञ्चित्करोति सत् ।

[§ १०३. उत्तरमाह–]

तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते ? ॥९३॥

20 [§ १०४. ततो युक्तं विज्ञानवदर्थस्यापि प्रतीतिबलादवस्थापनम् । इदानी वक्तव्यशेषं दर्शयित्वा परिहर्तुमाह–]

एकेन चरितार्थत्वात्तत्राविप्रतिपत्तितः ।
अलमर्थेन चेत्;

[§ १०५. उत्तरमाह–]

25 **नैवमतिरूढानुवादतः ॥९४॥**

[§ १०६. ततः प्रतीतिबलाद्विज्ञानस्य यदस्तित्व तदर्थस्यापि, यच्च अर्थस्याऽपरमार्थत्वं विशददर्शनपथप्रस्थायित्वात्तैमिरिककेशादिवत् तद् विज्ञानस्यापि स्यादविशेषात् । तदाह–]

कल्पना सदसत्त्वेन समा किन्तु गरीयसी ।
प्रतीतिप्रतिपक्षेण तत्रैका यदि नापरा ॥९५॥

तस्मिन् तद्बुद्धिरिति चेन्न ; परस्पराश्रयात्–साध्यसिद्ध्या तद्विशेषस्य तत्सिद्ध्या च साध्यस्य व्यवस्थापनात् । तदेवाह–]

अन्योन्यसंश्रयान्नो चेत्,

[§ ७६. समाधानान्तरामिषित्सया परं पृच्छन्नाह–]

तत्किमज्ञानमेव तत् ? ॥६६॥ 5

[§ ७७. तत्रोत्तरमाह–]

अद्वयं परचित्ताधिपतिप्रत्ययमेव वा ।
वीक्षते किं तमेवायं विषमज्ञ इवान्यथा ॥६७॥

[§ ७८. तेषा [विकल्पानाम्] समारोपव्यवच्छेदेन फलवत्त्वात्तदेवाह–]

समारोपव्यवच्छेदः साध्यश्चेत् सविकल्पकैः । 10

[§ ७९. अत्रोत्तरमाह–]

नैषा विकल्पना साम्याद्दोषाणामनिवृत्तितः ॥६८॥

[§ ८०. एव विकल्पानामर्थक्रियाकारविषयत्वव्यवस्थापनेन वहिरर्थमवस्थाप्य प्रकारान्तरेणापि तमवस्थापयन्नाह–]

न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति । 15
असंश्चेद् वहिरर्थात्मा प्रसिद्धोऽप्रतिषेधकः ॥६९॥

[§ ८१ ननु यथा तस्य [वहिरर्थस्य] न प्रतिषेधक तथा न साधकमपि । तत.साधकवाधकप्रमाणाभावात् सन्देह एव । न च सन्दिग्धस्य प्रसिद्धत्वमिति चेदत्राह–]

सन्देहलक्षणाभावात्, मोहश्चेद् व्यवसायकृत्; ।
बाधकासिद्धेः, स्पष्टाभात् कथमेष निश्चयः ? ॥७०॥ 20
विपर्यासोऽपि किन्नेष्टः आत्मनि भ्रान्त्यसिद्धिनः ? ।

[§ ८२. भेद एव भ्रमस्तस्य चिदादौ नात्मनीति चेत्, विभ्रमेतररूपं तदेकं संवेदन कथम् ? तथैव प्रतिभासाच्चेदेतदेवाह सौगत –]

अद्वयं द्वयनिर्भासमात्मन्यप्यवभासते ॥७१॥

[§ ८३. एव प्रक्रमानेकान्ते परेण निरूपिते सन्याह–] 25

इतरत्र विरोधः कः एक एव स्वहेतुतः ।
तथा चेत् स्वपरात्मानौ सदसन्तौ समश्नुते ? ॥७२॥

[§ ८४. तत्र विभ्रमेतराकारतया उभयाकारं संवेदनं यत् तदवस्थमेन (वक्रमेन) क्रमानेकान्तव्यवस्थापनमिति चेदत्राह–]

[§ ११४. कुतः पुनः समवायाभावे 'शाखासु वृक्षः' इति प्रत्ययः ? इति चेदत्राह-]

अथ ऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेषतः ॥१०४॥
तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखाः वृक्षेऽपि लौकिकः ।

[§ ११५. इति नावधिभ्यः [परमाणुभ्यः] स्थूलमर्थान्तरम्, अर्थान्तरत्वे पुनरपि 5 तदाशङ्कापूर्वं दूषणमाह-]

तुलितद्रव्यसंयोगे स्थूलमर्थान्तरं यदि ॥१०५॥
तत्र रूपादिरन्यश्च साक्षैरीक्ष्येत सादरैः ।

[§ ११६. तत्रैव दूषणान्तरमाह-]

गौरवाधिक्यतत्कार्यभेदाश्च,

10 [§ ११७. अत्र परस्य परिहारमाह-]

आसूक्ष्मतः किल १०६॥
अतौल्यादर्थराशेस्तद्विशेषानवधारणम्; ।

[§ ११८. तत्रातौल्याद् गुरुत्वादेस्तत्राप्यनवधारणम्। आहासिद्धत्वमप्यस्य हेतोः सम्प्रति शास्त्रकृत्-]

15 **ताम्रादिरक्तिकादीनां समितक्रमयोगिनाम् ॥१०७॥**
कथमातिलकात्स्थूलप्रमाणानवधारणे ।
अल्पभेदाग्रहान्मानमणूनामनुषज्यते ॥१०८॥
अंशुपातानुमादृष्टेरन्यथा तु प्रसज्यते ।

[§ ११९. अपि परमाणुपर्यन्तमध्यपातिनामवयवविशेषाणाम् अशक्येयत्तातोलनाना यद्य-20 भावः पर्यन्तोऽप्यवयवी न भवेत्, तस्याप्यवयवाधारस्यैवाभ्युपगमात् । भावश्चेत्तत्राह-]

क्षीराद्यैरविजातीयैः प्रक्षिप्तैः क्रमशो घटः ॥१०९॥
तावद्भिरेव पूर्येत यावद्भिर्न विपर्ययैः ।

[§ १२०. साम्प्रत परमताक्षेपपुरस्सरं स्वमतमाह-]

नांशेष्वंशी न तेऽत्रान्ये वीक्ष्या न परमाणवः ॥११०॥
25 **आलोक्यार्थान्तरं कुर्यादत्रापोद्धारकल्पनाम् ।**

[§ १२१. तदेवं 'परोक्षज्ञानविषय' इत्यादिना आत्मवेदनम्, 'एतेन वित्तिसत्तायाः' इत्यादिना चार्थवेदनं व्यवस्थापयता कारिकोपात्तमात्मपदमर्थपद व्याख्यातम् । इदानीं तदुपात्त द्रव्यपदं व्याचिख्यासुराह-]

गुणपर्ययवद् द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ॥१११॥
30 **विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्या भेदाभेदौ रसादिवत् ।**

[§ ९२. कथं पुनर्बहिरर्थस्य वस्तुसतः परिज्ञानम् ? न प्रतिभासात्, तस्याऽसत्यपि तस्मिन् विप्लवावस्थाया भावात् । तद्विशेषादित्यपि न युक्तम्, अजादितत्त्वादेस्तद्विशेषस्य निराकरणादिति चेन्न; तद्वत् सन्तानान्तरस्यापरिज्ञानापत्तेः, प्रत्यक्षतस्तद्वेदनात्, तल्लिङ्गस्य च व्याहारादेरसत्यपि तस्मिन् विप्लवदशाया भावात्तदाह–]

व्यवहारादिनिर्भासो विप्लुताक्षेऽपि भावतः । 5
अनाधिपत्यशून्यं तत् पारम्पर्येण चेत्; असत् ॥८२॥
अर्थेष्वपि प्रसङ्गश्चेत्यहेतुमपरे विदुः ।

[§ ९३. ततो भवत्येव नीलतज्ज्ञानयोरभेदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह–]

सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः ॥८३॥
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वयत्वतः । 10

[§ ९४. तदयं प्रतिपक्षमनपाकुर्वत एव कल्पिताद्धेतोः साध्यसिद्धिं तात्त्विकीमन्विच्छन् कथमिव प्रज्ञावन्तमात्मानं प्रेक्षावद्भ्यः प्रकटीकुर्यात्, अपि च यदि केनापि निष्ठुरहृदयेन विप्रलब्धो न भवेत्तदाह–]

साध्यसाधनसङ्कल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः ॥८४॥
परमार्थावताराय कुतश्चित्परिकल्पितः । 15
अनपायीनि चिद्धत्तामात्मन्याशंसमानकः ॥८५॥
केनापि विप्रलब्धोऽयं हा कष्टमकृपालुना ! ।

[§ ९५. स्यादेतदेव यदि परमाणवः प्रतीयेरन्, न चैवम्; एकैकशः समुदायेन वा तत्प्रतिपत्तेरप्रतिवेदनात् । तदारब्धोऽवयवीति चेन्न; परमाणूनां निरपेक्षतया तदारम्भकत्वे पृथग्दशायामपि प्रसङ्गात् । संयोगसव्यपेक्षाणां तत्त्वे; संयोगो यद्येकदेशेन, अनवस्थापत्तिः । 20 तदाह–]

तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः ॥८६॥

[§ ९६. तस्मान्नैकदेशेन तेषां संयोगः । सर्वात्मनेति चेदत्राह–]

नो चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यान्न च ते बुद्धिगोचराः ।

[§ ९७. पटादेरपि परपरिकल्पितस्याभावात्, अभावश्च तस्य परिस्फुटमनवभास- 25 नात्तदाह–]

न चैकमेकरागादौ समरागादिदोषतः ॥८७॥
स्वतः सिद्धेरयोगाच्च, तद्वृत्तेः सर्वथेति चेत्; ।

[§ ९८. साम्प्रतं पूर्वपक्षसमाप्तिमितिशब्देन चेच्छब्देन च पराभिप्रायं द्योतयन्नाह–'इति चेत्'इति । अत्रोत्तरमाह–] 30

तथायं क्षणभङ्गो न ज्ञानांशः सम्प्रतीयते ॥१२०॥
अर्थाकारविवेको न विज्ञानांशो यथा क्वचित् ।

[§ १३२. एवं स्थिते परिणामस्य निर्व्याकुलत्वात् तमेव वस्तुलक्षणमागमाविरोधेन कथयन् तल्लक्षणं तत्त्वार्थसूत्रेण दर्शयति–]

5 **'तद्भावः परिणामः' स्यात् सविकल्पस्य लक्षणम् ॥१२१॥**

[§ १३३. तत्रैवानुमानमाह–]

तदेव वस्तु साकारमनाकारमपोद्धृतम् ।

[§ १३४. यत्पुनरिदमनेकान्तव्या (निरा) करणाय व्यासस्य सूत्रम्–'नैकस्मिन्नसम्भवात्' इति । अस्यार्थः नानेकान्तवादो युक्तः । कुत एतत् ? एकस्मिन् धर्मिणि सदसत्त्वनित्यत्वानित्यत्वनानैकत्वादीना विरुद्धधर्माणामसंभवादिति तत्राह–]

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात् ॥१२२॥

[§ १३५. तत्रैकत्र भेदसंभवः तस्यैवैकस्याभावादिति, तत्राह–]

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ।
ततः सर्वा व्यवस्थेति नृत्येत्काको मयूरवत् ॥१२३॥

15 [§ १३६. कुतश्च स्वलक्षणस्यान्वयस्य वा प्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तौ ताभ्यामेव सर्वव्यवस्थितिप्रतिज्ञानुपपत्तेः । यथासंख्येन प्रत्यक्षादनुमानाच्चेति चेन्न; प्रत्यक्षस्य यथाकल्पनमप्रतिपत्तेः ···अनुमानस्य च यथा नाभिजल्पसम्पर्कयोग्याकारस्य प्रतिपत्तिः तथा निवेदितमेव । अप्रतिपन्नादपि तत एव तत्प्रतिपत्तिरिति चेदत्राह–]

प्रामाण्यं नाऽगृहीतेऽर्थे प्रत्यक्षेतरगोचरौ ।
20 **भेदाभेदौ प्रकल्प्येते कथमात्मविकल्पकैः ? ॥१२४॥**

[§ १३७. इति स्थितम्–सामान्यविशेषात्मकत्व प्रत्यक्षविषयस्य । साम्प्रतमुक्तमेवार्थमनुग्रहपरत्वाच्छिष्याणामनुस्मरणाय श्लोकानां विंशत्या सङ्गृह्य कथयन्नाह–]

उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्यायसङ्ग्रहम् ।
सद्, भिन्नप्रतिभासेन स्याद्भिन्नं सविकल्पकम् ॥१२५॥

25 [§ १३८. यद्येव भिन्नमेव तद्वस्तु नाभिन्नमित्यत्राह–]

अभिन्नप्रतिभासेन स्यादभिन्नं स्वलक्षणम् ।

[§ १३९. कथ पुनः परस्परविरुद्धभेदाभेदधर्माधिष्ठानमेकं वस्त्विति चेदाह–]

विरुद्धधर्माध्यासेन स्याद्विरुद्धं न सर्वथा ॥१२६॥

[§ १४०. एतदेव कुत इत्याह–]

[§ १०७. न चैवं केशादेरपि तज्ज्ञानात्सिद्धिः; तत्र स्वतः परतश्च असत्यत्वस्यैव निश्चयात्, तदाह–]

न हि केशादिनिर्भासो व्यवहारप्रसाधकः ।

[§ १०८. पर आह–वासनाभेदात् । तत्रोत्तरम्–सिद्धस्तत्र ।]

वासनाभेदाद्भेदोऽयम्; सिद्धस्तत्र न सिद्ध्यति ॥९६॥ 5
तन्मात्रभावो दृष्टान्ते सर्वत्रार्थोपकारतः ।
पारम्पर्येण साक्षाद्वा परापेक्षाः सहेतवः ॥९७॥
विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो व्यवहारादिधियो यथा ।

[§ १०९. यथैताः परापेक्षाः तथान्येऽपि दृष्टान्ता इत्येवं साध्यवैकल्यं दृष्टान्तस्य प्रतिपाद्य इदानीं तन्मात्रभावे साध्यसिद्धिमावेदयन्नाह–] 10

सन्निवेशादिभिर्दृष्टैर्गोपुराट्टालिकादिषु ॥९८॥
बुद्धिपूर्वैर्यथा तत्त्वं नेष्यते भूधरादिषु ।
तथा गोचरनिर्भासैर्दृष्टैरेव भयादिषु ॥९९॥
अबाध्यभावनाजन्यैरन्यत्रेत्यवगम्यताम् ।
अत्र मिथ्याविकल्पौघैरप्रतिष्ठानकैरलम् ॥१००॥ 15

[§ ११०. भवतु वहिरर्थः स तु परमाणुरूप एव तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्न परो विपर्ययादित्युपक्षिप्य प्रत्याचक्षाण आह–]

अत्यासन्नानसंसृष्टानणूनेवाक्षगोचरान् ।
अपरः प्राह; तत्रापि तुल्यमित्यनवस्थितिः ॥१०१॥

[§ १११. तदेव परमाणूनां प्रत्यक्षत्वं प्रत्याख्याय अवयविनस्तत्प्रत्याख्यानायां यौग- 20 मतमुपक्षिपति–]

तत्रापि तुल्यजातीयसंयोगसमवायिषु ।
अत्यक्षेषु द्रुमेष्वन्यदध्यक्षमपरे विदुः ॥१०२॥

[§ ११२. अत्र प्रतिविधानमाह–]

कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ? । 25

[§ ११३. ततः शाखाचलनमेव वृक्षस्यापि चलनमिति कथ शाखातादात्म्यं वृक्षस्य प्रतीतिसिद्धं न भवेत्, यतस्तत्र अर्थान्तरसम्बन्धप्रतिज्ञा प्रतीतिप्रतिक्षिप्ता हेतवश्च विरुद्धा न भवेयुः । तदेवाह–]

समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः ॥१०३॥
अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः ! । 30

समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यताम्[1] ।

[§ १४९. तदेवं वस्तुभूतादेव धर्मभेदात् व्यवहारोपपत्तौ यत्तदर्थं व्यावृत्तिभेदेन जाति-भेदोपकल्पन तस्यायुक्तत्वं तत्कल्पनाकृताश्च अस्थानभीरुत्व दर्शयन्नाह–]

अत्र दृष्टविपर्यस्तमयुक्तं परिकल्पितम् ॥१३५॥
5 मिथ्याभयानकग्रस्तैः मृगैरिव तपोवने ।

[§ १५०. मिथ्याभयानकत्वमेव तेषां दर्शयन्नाह–]

यस्यापि क्षणिकं ज्ञानं तस्यासन्नादिभेदतः ॥१३६॥
प्रतिभासभिदां धत्तेऽसकृत्सिद्धं स्वलक्षणम् ।
विलक्षणार्थविज्ञाने स्थूलमेकं स्वलक्षणम् ॥१३७॥
10 तथा ज्ञानं तथाकारमनाकारनिरीक्षणे ।
अन्यथाऽर्थात्मनस्तत्त्वं मिथ्याकारैकलक्षणम् ॥१३८॥

[§ १५१. सदादिरूपस्यैव तत्र दर्शन न तद्विवेकस्येति चेदत्राह–]

विज्ञानप्रतिभासेऽर्थविवेकाप्रतिभासनात् ।
विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् व्यतिरेकेण चक्रकम् ॥१३९॥

15 [§ १५२. तत्र जीवति स्थूलज्ञाने निर्भागज्ञानसम्भवो यतः परमाणुसिद्धिः, तदसिद्धौ यदन्यत्प्राप्तं तदप्याह–]

प्रतिक्षणं विशेषा न प्रत्यक्षाः परमाणुवत् ।
अतदारम्भतया बुद्धेरर्थाकारविवेकवत् ॥१४०॥

[§ १५३. एवञ्च यजात परस्य तद्दर्शयन्नाह–]

20 अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम् ।
दृश्यादृश्यात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयोः ॥१४१॥
सर्वथाऽर्थक्रियाऽयोगात्, तथा सुप्तप्रबुद्धयोः ।
अंशयोर्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत् ॥१४२॥

[§ १५४. इदानी तेन द्रव्यपर्यायादीनामन्योन्यात्मकत्वेन भावः इति परिणामलक्षणं 25 सङ्गृह्य दर्शयन्नाह–]

संयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यदि वर्त्तते ।
अनेकत्रैकमेकत्रानेकं वा; परिणामिनः ॥१४३॥

[§ १५५. भवतु सामान्य तत्तु विजातीयव्यावृत्तिरूपमेव ··· इति चेदत्राह–]

---

१ एतदनन्तरम् 'अत एवाह–' इति कृत्वा 'भेदानां बहुभेदाना तत्रैकत्रापि सम्भवात्' इति कारिकायाः पुनरप्युक्त । परं विवरणकृताऽव्याख्यातत्वात् स विवरणकारेणैव अनुस्मृत इति प्रतिभाति ।

[§ १२२. किं गुणग्रहणेन पर्यायवद्द्रव्यमित्येवास्तु, गुणानामपि परिच्छिन्नायन (त)-रूपतया पर्ययेष्वन्तर्भावादिति चेदत्राह–]

सदापि सविकल्पाख्यासाधनाय क्रमस्थितेः ॥११२॥
गुणपर्यययोर्नैक्यमिति सूत्रे द्वयग्रहः ।
गुणवद्द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः ॥११३॥ 5
अद्रवद् द्रवति द्रोष्यत्येकानेकं स्वपर्ययम् ।
भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि ॥११४॥
अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ।

[§ १२३. ततः सर्वं सत् उत्पादादित्रयात्मकमेव नोत्पादाद्यन्यतमैकान्तात्मकं तदप्रतिपत्तेरेतदेवाह–] 10

सदोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, असतोऽगतेः ॥११५॥

[§ १२४. ननु ध्रौव्यं नाम दधिपर्यायस्य उत्तरतत्पर्यायेणैकत्वं तच्च तेनैव कुतो न करभपर्यायेणापि ? देशादिभेदस्य प्रकृतेऽप्यविशेषादिति चेदत्राह–]

तादात्म्यनियमो हेतु-फलसन्तानवद्भवेत् ।

[§ १२५. भवतु तदुभयमपि क्षणिकमेवेति चेदत्राह–] 15

भिन्नमन्तर्बहिः सर्वं युगपत्क्रमभावि, न ॥११६॥
प्रत्यक्षं न तु साकारं क्रमयुक्तमयुक्तिमत् ।

[§ १२६. एतदेव लोकप्रसिद्धेनोदाहरणेन दर्शयन्नाह–]

प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥११७॥

[§ १२७. तदेव मूलकारिकानिर्दिष्टयोः द्रव्यपर्यायपदयो व्याख्यानं कृत्वा सामान्यविशेषपदयोः तद्दर्शयति–] 20

समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया ।

[§ १२८. तदेव द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकत्वं भावस्य प्रपञ्चोक्तमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह–]

स्वलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ॥११८॥
समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्तिभिः । 25

[§ १२९. सहविवर्तिभिरेकमित्येतदसहमानस्य मतमाशङ्कते–]

यदि शेषपरावृत्तेरेकज्ञानमनेकतः ॥११९॥

[§ १३०. अत्रोत्तरमाह–]

अन्वर्थमन्यथाभासमनंशानां न राशयः ।

[§ १३१. सिद्धा तर्हि क्षणभङ्गस्यापि प्रत्यक्षे तद्वदप्रतिपत्तिरेतदेवाह–] 30

प्रत्याचष्टे, समानन्यायतया तत्प्रत्याख्यानादेव द्रव्यत्वादेरपरसामान्यस्यापि प्रत्याख्यानोपनीता-(नीतत्वा) त्-]

नित्यं सर्वगतं सत्त्वं निरंशं व्यक्तिभिर्यदि ॥१५१॥
व्यक्तं व्यक्तं सदा व्यक्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
5 **सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा ॥१५२॥**
सर्वेऽर्थाः देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम् ।
सर्वभेदप्रभेदं सत् सकलाङ्गशरीरवत् ॥१५३॥
तत्र भावाः समाः केचिन्नापरे चरणादिवत् ।

[§ १६६. साम्प्रतं प्रस्तुतप्रस्तावार्थविस्तारमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह-]

10 **एकानेकमनेकान्तं विषमं च समं यथा ॥१५४॥**
तथा प्रमाणतः सिद्धमन्यथाऽपरिणामतः ।

[§ १६७. ततो व्यवस्थितं व्यवसायात्मकं विशदं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थवेदनं प्रत्यक्षमिति । किमनेन तल्लक्षणेन प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमित्येवास्तु निर्दोषत्वात् ? इति चेदुच्यते-]

अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम् ॥१५५॥
15 **अविसंवादनियमादक्षगोचरचेतसाम् ।**

[§ १६८. तत्र विकल्पजननात् प्रत्यक्षप्रामाण्यं विकल्पस्यैव मुख्यतस्तदुपनिपातात् । विकल्पानामयथार्थत्वान्नेति चेदत्राह-]

सर्वथा वितथार्थत्वं सर्वेषामभिलापिनाम् ॥१५६॥
ततस्तत्त्वव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् ! ।

20 [§ १६९. इदानीं मानसमपि तत्प्रत्यक्षं प्रतिषेद्धुं कारिकापादत्रयेण परप्रसिद्धं तत्स्वरूपमुपदर्शयति-]

अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम् ॥१५७॥
प्रत्यक्षं मानसं चाह;

[§ १७०. तदिदानीं निराकुर्वन्नाह-]

25 　　　　**भेदस्तत्र न लक्ष्यते ।**

[§ १७१. शान्तभद्रस्त्वाह-यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तस्माद्भेदो न लक्ष्यते, कार्यतो लक्ष्यत एव । कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण कादाचित्कत्वात् । न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणं सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरज्ञानवत् । ततोऽन्यदेव अक्षज्ञानात् तत्कारणम्, तदेव च मानसं प्रत्यक्षमित्येतदेव दर्शयित्वा प्रत्याचिख्यासुराह-]

30 **अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत् ॥१५८॥**

स्यादसम्भवतादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठितम् ।
समानार्थपरावृत्तमसमानसमन्वितम् ॥१२७॥

[§ १४१. कुतः पुनस्तदित्थमित्याह—]

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च परोक्षं स्वप्रदेशतः ।

[§ १४२. कथ पुनरेकमेव स्वलक्षणं तथा प्रत्यक्ष परोक्षञ्चेति चेदत्राह—] 5

सुनिश्चितमनेकान्तमनिश्चितपरापरैः ॥१२८॥

[§ १४३. स्यान्मतम्—उपादानोपादेयलक्षणसन्तानादन्यद् क्रमाऽनेकान्त परमाणुसमुदायादवयव्यादेश्चार्थान्तरमक्रमानेकान्तमपि दुर्विवेचनमेवेति; तत्राह—]

सन्तानसमुदायादिशब्दमात्रविशेषतः ।

[§ १४४. उपादानमपि न प्रत्यभिज्ञानादन्यतः शक्यसमर्थनम्......ततः तत्समर्थनादपि अनेकान्तमेव सुनिश्चितमित्यावेदयन्नाह—] 10

प्रत्यभिज्ञाविशेषात्तदुपादानं प्रकल्पयेत् ॥१२९॥
अन्योन्यात्मपरावृत्तभेदाभेदावधारणात् ।
मिथ्याप्रत्यवमर्शेभ्यो विशिष्टात् परमार्थतः ॥१३०॥

[§ १४५. तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षम्, न ताभ्या भिन्नमन्यत् प्रत्यभिज्ञानं यतस्तयोरवधारणमिति चेदत्राह—] 15

तथाप्रतीतिमुल्लंघ्य यथास्वं स्वयमस्थितेः ।
नानैकान्तग्रहग्रस्ता नान्योन्यमतिशेरते ॥१३१॥

[§ १४६. भवतु तत्र सुनिश्चितमनेकान्त यत्र पूर्ववदुत्तरस्यापि दर्शनं प्रत्यभिज्ञानस्य तन्निश्चयहेतोस्तत्र संभवात् । यत्र तु पूर्वस्यैव दर्शन न परस्य तत्र कथ संभवात् (वः) नह्यप्रतिपन्नस्य पूर्वाभेदेन अन्यथा वा प्रत्यभिज्ञानं संभवतीति चेदत्राह—] 20

शब्दादेरुपलब्धस्य विरुद्धपरिणामिनः ।
पश्चादनुपलम्भेऽपि युक्तोपादानवद्गतिः ॥१३२॥

[§ १४७. युक्तमुपादानस्योपलब्धाच्छब्दादेरनुमानम् तस्य निरुपादानस्यायोगात् । नोपादेयस्य; कारणस्य कार्यवत्त्वनियमाभावादिति चेदत्राह—] 25

तस्याऽदृष्टमुपादानमदृष्टस्य न तत्पुनः ।
अवश्यं सहकारीति विपर्यस्तमकारणम् ॥१३३॥

[§ १४८. निगमयन्नाह—]

तदेवं सकलाकारं तत्स्वभावैरपोद्धृतैः ।
निर्विकल्पं विकल्पेन नीतं तत्त्वानुसारिणा ॥१३४॥ 30

श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु ॥१६५॥
प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी ? ।

[§ १८१. साम्प्रतं नैयायिकस्य प्रत्यक्षलक्षणमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह–]

तथाऽक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शनम् ॥१६६॥
5 व्यवसायात्मसंवाद्यव्यपदेश्यं विरुद्ध्यते ।

[§ १८२. पुनरपि नैयायिकस्य विरुद्धं दर्शयति–]

नित्यः सर्वगतो ज्ञः सन् कस्यचित्समवायतः ॥१६७॥
ज्ञाता द्रव्यादिकार्थस्य नेश्वरज्ञानसंग्रहः ।

[§ १८३. भवताऽपि कस्मादतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं नोच्यते ? इति चेदत्राह–]

10 लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ॥१६८॥
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥१६८½॥

[§ १८४. भवतु तर्हि तत्सुगतस्यैव तत्रैव तल्लिङ्गस्य तत्त्वोपदेशस्य भावात् इति चेत्; सत्यमिदं यदि तत्त्वोपदेश एव तत्र भवेत्, न चैवमत एवाह–]

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,
15 चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलन्नेति तत्त्वं प्रपेदे ।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन्न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्,
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥१६९½॥

इति न्यायविनिश्चये प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ॥

२. द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ।

20 [§ १८५. इदानीं परोक्षस्य तथानिरूपणमवसरप्राप्तमिति तत्प्रभेदमनुमानं निरूपयन्नाह–]

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये ॥१७०॥
विरोधात् क्वचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ।

[§ १८६. प्रत्यक्षस्यापि न वस्तुतः स्वार्थपरिच्छेदः तत्काले तदर्थस्य कारणत्वेन व्यतिक्रमादपि तु तदाकारस्वरूपपरिच्छेदस्य तत्रारोपादौपचारिकवत् (कं तत्) तथाऽनुमानस्यापि
25 तत्परिच्छेदसाधने सिद्धसाधनमिति चेदत्राह–]

प्रत्यक्षं परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ॥१७१॥
सत्यं परिस्फुटं येन तथा प्रामाण्यमश्नुते ।

अतद्धेतुफलापोहमविकल्पोऽभिजल्पति ।

[§ १५६. साम्प्रतं तस्य वस्तुषु भावादीना वस्तुसामान्यसाधनत्वेन विरुद्धत्वमावेदयन्नाह–]

समानाकारशून्येषु सर्वथाऽनुपलम्भतः ॥१४४॥
तस्य वस्तुषु भावादिसाकारस्यैव साधनम् ।
न विशेषा न सामान्यं तान् वा शक्त्या कयाचन ॥१४५॥ 5
तद्बिभर्त्ति स्वभावोऽयं समानपरिणामिनाम् ।

[§ १५७ भिन्नमेव सामान्य विशेषेभ्यः तदाधेयञ्च, खण्डादिषु गोत्वमिति प्रतिपत्तेः तत्कथं ते तन्न बिभ्रति? इदि चेदत्राह–]

अप्रसिद्धं पृथक्सिद्धम् उभयात्मकमञ्जसा ॥१४६॥

[§ १५८. ततः सावृतमेतत्, अस्थूलादिव्यावृत्त्या स्थूलादेः संवृत्या कल्पनादिति 10 चेदत्राह–]

सन्निवेशादिवद्वस्तु सांवृतं किन्न कल्प्यते ? ।

[§ १५९. निरंशार्थप्रवादे हि वस्तुनः सर्वथा ग्रहात् । न कश्चिद्विभ्रमो नाम भवेदित्याह शास्त्रकृत्–]

समग्रकरणादीनामन्यथा दर्शने सति ॥१४७॥ 15
सर्वात्मनां निरंशत्वात् सर्वथा ग्रहणं भवेत् ।

[§ १६०. भवतु तस्य [चन्द्रस्य] एकत्वादिनेव वर्तुलत्वादिनाप्यग्रहणमेवेति चेदत्राह–]

नौयानादिषु विभ्रान्तो न न पश्यति बाह्यतः ॥१४८॥

[§ १६१. पश्यन्नपि असदेव पश्यतीति चेदाह–]

न च नास्ति स आकारः ज्ञानाकारेऽनुषङ्गतः । 20

[§ १६२. तस्माद् दृश्येतरात्मत्वमनेकान्तावलम्बनम्, इदमेवाह–]

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य न दृष्टः सकलो गुणः ॥१४९॥

[§ १६३. तदेवं रूपसंस्थानात्मकत्ववद् दृश्येतरात्मकत्ववच्च सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते सति यत् परस्यापद्यते, तदाह–]

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् । 25

[§ १६४. निगमयन्नाह–]

अध्यक्षलिङ्गतः सिद्धमनेकात्मकमस्तु सत् ॥१५०॥
सत्यालोकप्रतीतेऽर्थे सन्तः सन्तु विमत्सराः ।

[§ १६५. साम्प्रतं सदृशपरिणामं सामान्यमनभ्युपगच्छतो वैशेषिकादेः तद्व्यवहार एव न संभवति तत्परिकल्पितस्य सामान्यस्यानुपपत्तेरिति दर्शयितुं प्रथमं तावत् परसामान्यं सत्त्वमेव 30

[§ १९७. साम्प्रतं सौत्रान्तिकं प्रति सत्तासाधनमाह–]

अक्षादेरप्यदृश्यस्य तत्कार्यव्यतिरेकतः ।

[§ १९८. एवमदृश्यस्यापि सत्ता प्रसाध्यते; तत्र परोक्तं दूषणं प्रत्याचक्षाण आह–]

एतेनातीन्द्रिये भावकार्यकारणतागतेः ॥१७९॥
5 **तत्सत्ताव्यवहाराणां प्रत्याख्यानं निवारितम् ।**

[§ १९९. इदानीम् *'अतीन्द्रिये भाव'* इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुराह–]

व्याधिभूतग्रहादीनां विप्रकर्षेऽपि गम्यते ॥१८०॥
कुतश्चित्सदसद्भावविरोधप्रभवं तथा ।
प्रामाण्यमविसंवादाद् भ्रान्तिरध्यवसायतः ॥१८१॥
10 **प्रत्यक्षाभावप्रसङ्गश्चेत्तथानभिनिवेशतः ।**

[§ २००. यद्यस्पष्टावभासित्वादनुमानमवस्तुविषयं प्रत्यक्षमपि कथञ्चित्तथा भवेदित्याह–]

दूरदूरतरादिस्थैरेकं वस्तु समीक्ष्यते ॥१८२॥
नानाभं स्यात्तथा सत्यं न चेद्वस्त्वनुरोधि किम् ? ।

[§ २०१. इति सिद्धं तस्य स्पष्टज्ञानेनैकविषयत्वं भिन्नप्रतिभासत्वेऽपि तदेकार्थत्वात्, 15 एतदेव दर्शयन्नाह–]

तस्मादनुमितेरर्थविषयत्वनिराकृतिः ॥१८३॥
प्रतिभासभिदायाः किमेकस्यानेकतो ग्रहात् ? ।

[§ २०२. सिद्धं तर्हि वस्तुष्वेव प्रतिबन्धपरिज्ञानमनुमानस्य च साफल्यमेतदेवाह–]

समानपरिणामात्मसम्बन्धप्रतिपत्तितः ॥१८४॥
20 **तत्राशक्तिफलाभावौ न स्यातां लिङ्गलिङ्गिनोः ।**

[§ २०३. भवतु तत्परिणाम एव सामान्यम्, तस्य तु व्यक्तिभ्यो भेद एवेति यौगाः अभेद एवेति सांख्याः, तत्राह–]

न भेदोऽभेदरूपत्वात् नाऽभेदो भेदरूपतः ॥१८५॥
सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ।

25 [§ २०४. अभेदस्यैव सर्वभावेषु ''प्रतिपत्तेः इति कश्चित्; भेद एव भावानां तात्त्विकः न कथञ्चिदप्यनुगमः''''इत्यपरः; तत्रोत्तरमाह–]

संसर्गो नास्ति विश्लेषात्, विश्लेषोऽपि न केवलम् ॥१८६॥
संसर्गात् सर्वभावानां तथा संवित्तिसंभवात् ।

[§ २०५. कुतः पुनः समानपरिणाम एव सामान्यमभिमतम् [न] नैयायिकादिक-30 ल्पितमेवेत्याह–]

सन्तानान्तरवच्चेतः समनन्तरमेव किम् ? ।
शष्कुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यपि ॥१५९॥
यावन्तीन्द्रियचेतांसि प्रतिसन्धिर्न युज्यते ।

[§ १७२. तत्र तावत्त मनसामुपपन्नम्, अथैकमेव सकलरूपादिविषयं तेभ्यो मनस्तदाह–] 5

अथैकं सर्वविषयमस्तु;

[§ १७३. अत्रोत्तरम्–]

किं चाऽक्षबुद्धिभिः ? ॥१६०॥

[§ १७४. साम्प्रतं मनसामक्रमोत्पत्तौ उक्त प्रतिसन्ध्यभाव क्रमोत्पत्तावपि दर्शयन्नाह–]

क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽयं विरुद्ध्यते । 10
अध्यक्षादिविरोधः स्यात्तेषामनुभवात्मनः ॥१६१॥

[§ १७५. तत्र शान्तभद्रपक्षो ज्यायान् । धर्मोत्तरस्त्वाह–न प्रत्यक्षादिप्रसिद्धत्वात् मानसं प्रत्यक्षमिष्यते यतोऽय दोषः किन्तु आगमाधीनत्वात् । तत्र च परे दोषमुत्पादयन्ति–यदि मानसमपि किञ्चित् प्रत्यक्ष तर्हि नान्धो नाम कश्चित् लोचनविकलस्यापि तत्सम्भवात्; इति तत्परिहाराय तल्लक्षणप्रणयनम्–'इन्द्रियज्ञानेन' इत्यादि । न हीन्द्रियज्ञानमन्धस्य यतस्तदुपादानस्य मानसप्र- 15 त्यक्षस्य तत्र भावात्तद्व्यवहारो न भवेदिति, तत्रोत्तरमाह–]

वेदनादिवदिष्टं चेत्; कथन्नातिप्रसज्यते ? ।

[§ १७६. यत्पुनरुक्तम्–विप्रतिपत्तिनिराकरणाय तल्लक्षणमुच्यते इति; तत्राह–]

प्रोक्षितं भक्षयेन्नेति दृष्टा विप्रतिपत्तयः ॥१६२॥
लक्षणं तु न कर्त्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु । 20

[§ १७७. साम्प्रतमविकल्पकमित्यादिना सामान्यत. प्रतिक्षिप्तमपि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष युक्त्यन्तरेण प्रतिक्षिपन्नाह–]

अध्यक्षमात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते ॥१६३॥
स्वापमूर्च्छाद्यवस्थोऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत् ? ।

[§ १७८. तदवस्थस्य ज्ञानमेव नास्ति, तद्भावे जाग्रत इव तत्त्वविरोधात्, ततः कथ- 25 मात्मवेदनं यतोऽय प्रसङ्ग इति प्रज्ञाकरो ब्रह्मवादी च ' 'तत्रोत्तरं दर्शयति–]

विच्छेदे हि चतुःसत्यभावनादिर्विरुद्ध्यते ॥१६४॥

[§ १७९. तत्र निश्चयविकल संवित्तिमात्रमेव प्रत्यक्षम् । अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह–]

प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम् ।

[§ १८०. साम्प्रत साङ्ख्यस्य प्रत्यक्षलक्षण प्रत्याचक्षाण आह–] 30

[§ २१४. ततस्तत्र [अपोहे] भेदाभेदाभ्यां दोषोपकल्पनं परमतानभिज्ञानं पिशुनयति इति । तदेवाह–]

सामान्यं चेदपोहिनां बुद्ध्या सन्दर्श्यते तथा ॥१९४॥
अतद्धेतुफलापोहः;

5 [§ २१५. तत्रोत्तरमाह–]

न तथाऽप्रतिपत्तितः ।

[§ २१६. तत्प्रतिपत्तिः [अपोहप्रतिपत्तिः] तु वासनापरिपाकजन्मनो विकल्पादेव, तस्य चावस्तुविषयत्वान्न ततस्तद्व्यवस्थापनमिति चेदत्राह–]

यन्न निश्चीयते रूपं जातुचित्तस्य दर्शनम् ॥१९५॥
10 **यथा निश्चयनं तस्य दर्शनं तद्वशात् किल ।**

[§ २१७. तत्रैकस्तत्परिणामः सम्भवति यस्य दर्शनं यतो वा सामान्यप्रयोजनमुपकल्प्येत, तदेवाह–]

समानपरिणामश्चेदनेकत्र कथं दृशिः ? ॥१९६॥

[§ २१८. भवतु प्रतिविशेषं भिन्न एवेति चेत्, कथमिदानीमसौ सामान्यम् असाधार-
15 णत्वात्, विशेषवदसंभवाच्च विशेषाव्यतिरेकात् । व्यतिरेके सम्बन्धाभावात् तस्येति व्यपदेशानुपपत्तिः । तदाह–]

न चेद् विशेषाकारो वा कथं तद्व्यपदेशभाक् ? ।

[§ २१९. प्रतिविधानमाह–]

सदृशासदृशात्मानः सन्तो नियतवृत्तयः ॥१९७॥

20 [§ २२०. अतश्च ते सन्त इत्याह–]

तत्रैकमन्तरेणापि सङ्केताच्छब्दवृत्तयः ।

[§ २२१. यदि न शब्दस्य कालान्तरावस्थितिः किमिति तत्र समयः साध्यते व्यवहारानुपयोगादिति चेदत्रोत्तरम्–]

तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामिषु ॥१९८॥
25 **समयः तत्प्रकारेषु प्रवर्त्तेतेति साध्यते ।**
तज्जातीयमतः प्राहुर्यतः शब्दा निवेशिताः ॥१९९॥

[§ २२२. साम्प्रतमुक्तार्थस्मरणार्थं 'सदृशासदृशात्मानः' इत्यादि व्याचक्षाण आह–]

नानैकत्र नचैकत्र वृत्तिः सामान्यलक्षणम् ।
अतिप्रसङ्गतस्तत्त्वादन्यत्रापि समानतः ॥२००॥

30 [§ २२३. सर्वतः सर्वस्य व्यावृत्तत्वेन विलक्षणत्वात् कथं तत्परिणाम इत्यत्राह–]

[§ १८७. इदानीं साध्यं निरूपयन्नाह–]

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्,

[§ १८८. साध्याभासं निरूपयति–]

ततोऽपरम् ॥१७२॥

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः । 5

[§ १८९. यद्यप्रसिद्धं साध्यं धर्मिणो विद्यमानमपि साध्यं भवेत् तत्रापि विप्रतिपत्तेः संभवात्तथाह–]

जातेर्विप्रतिपत्तीनां सत्ता साध्यानुषज्यते ॥१७३॥

[§ १९०. तत्रोत्तरमाह–]

तथेष्टत्वाददोषोऽयम्, 10

[§ १९१. पर इदानीमशक्यसाध्यतां तस्यां [सत्तायां] दर्शयन्नाह–]

हेतोर्दोषत्रयं यदि ।

[§ १९२. शास्त्रकारस्तु उभयाभावधर्मयोरनभ्युपगमं परिहारं मन्यमानः परिहारान्तरमनुक्त्वा भावधर्मस्य असिद्धत्वमेव परिहरन्नाह–]

भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वाद्यथावस्तुबलागमम् ॥१७४॥ 15
प्रपेदे सर्वथा सर्वस्तुसत्तां प्रतिक्षिपन् ।

[§ १९३. ततः प्रतिष्ठापरिहारेण प्रतिक्षेपमेव ब्रुवता तात्त्विकमेव भावधर्मत्वं तस्याभ्युपगन्तव्य तथाह–]

भावनादभ्युपैतिस्म भावधर्ममवस्तुनि ॥१७५॥

[§ १९४. तदेव निरुपाधिकं सत्त्वं प्रसाध्य सोपाधिक साधयन्नाह–] 20

असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽन्यथाऽनुपपत्तिमान् ।
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥१७६॥
इष्टसिद्धिः परेषां वा तत्र वक्तुरकौशलम् ।

[§ १९५. ततः सत्येव भेदाभेदात्मिका तदिष्टसिद्धिरिदमेवाह–]

अतीतानागतादीनामपि सत्तानुषङ्गवत् ॥१७७॥ 25
अतश्च बहिरर्थानामपि सत्ता प्रसाध्यते ।

[§ १९६. ततः प्रत्यक्षादर्थसाधनोपपत्तेः स्थितमेतत्–'अतश्च' इत्यादि । यदि चायं निर्बन्धो न ततस्तत्साधनमिति तथापि तदाह–]

तदभावेऽपि तद्भावस्यान्यथानुपपत्तितः ॥१७८॥

तेषामपि तद्वत्ते (त्वे) न कश्चिदपि अनृतवादी तीर्थकर इति प्रामाण्यमेव सर्वप्रधानानाम्, न च तदुपपन्नम्, ततः प्रधानेश्वरादिशब्दवत् अन्येऽपि अनृतार्था एवेति चेदत्राह–]

अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्यमनुमानं तदिष्यते।
ततः संभाव्यते शब्दः सत्यार्थप्रत्ययान्वितः ॥२०७॥

5 [§ २३६. यस्यायं निर्बन्धो विवक्षाजन्मानः शब्दास्तामेव गमयेयुर्न बहिरर्थमिति। तत्राह–]

सत्यानृतार्थताऽभेदो विवक्षाऽव्यभिचारतः।

[§ २३७. साम्प्रतं 'तत्रैकमभिसन्धाय' इत्यादि प्रपञ्चेन श्लोकैर्व्याचिख्यासुः सङ्केतनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानमेव तत्र स इति अयमिति स्मरणदर्शनरूपयोर्विरुद्धाकारयोरनुपपत्त्या निराकुर्वन्तं प्रत्याह–]

10 **सह शब्दार्थदृष्टावप्यविकल्पयतः कथम् ॥२०८॥**
समयस्तत्प्रमाणत्वे क्व प्रमाणे विभाव्यताम् ?।

[§ २३८. किं पुनर्विकल्पेन, समुदायपरिज्ञानस्य प्रत्यक्षादेव भावादिति चेदत्राह–]

तदर्थदर्शनाभावात्,

[§ २३९. अर्थ एव सङ्केतो न ज्ञानाकारेषु इत्याह–]

15 **मिथ्यार्थप्रतिभासिषु ॥२०९॥**
ज्ञानाकारेषु सङ्केत इति केचित् प्रचक्षते।

[§ २४०. क्व तर्हि सः ? इत्याह–]

वागर्थदृष्टिभागेषु गृहीतग्रहणेष्वपि ॥२१०॥
सत्याकारावबोधेषु सङ्केतमपरे विदुः।

20 [§ २४१. भवतु तर्हि वागादिभेदेष्वेव समयः इति चेन्न; ···एतदेवाह–]

न भेदेषु न सामान्ये केवले न च तद्वति ॥२११॥
फलाभावादशक्तेश्च समयः सम्प्रवर्त्तते।

[§ २४२. किन्निबन्धनः पुनः सङ्केतोऽयमपरे विदुरिति चेदत्राह–]

स एवायं समश्चेति प्रत्ययस्तन्निबन्धनः ॥२१२॥
25 **वितथोऽवितथश्चापि तत्रैकत्वनिबन्धनः।**
तथा तत्प्रतिषेधेऽपि वैलक्षण्यादिशब्दवत् ॥२१३॥

[§ २४३. साम्प्रतं सङ्केतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति–]

तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये।
सङ्क्षेपेण क्वचित् कश्चिच्छब्दः सङ्केतमश्नुते ॥२१४॥
30 **तथाऽनेकोऽपि तद्धर्मनानात्वप्रतिपादने।**

तद्व्याप्तिव्यतिरेकाभ्यां मतं सामान्यदूषणम् ॥१८७॥

[§ २०६. कुत पुनः समानपरिणामे न सामान्यदूषणम् ? इति चेदत्राह—]

समानपरिणामे न तदेकस्यानुपायतः ।

[§ २०७. तत्र सामान्य नाम किञ्चित् । तद्भा (तदभा) वे कुतस्तत्प्रयोजन समानप्रत्ययादिकमिति चेन्न; समानपरिणामादेव तद्भावात्तदाह—] 5

सदृशात्मनि सम्बन्धग्रहे भूयस्तथाविधे ॥१८८॥
प्रत्यभिज्ञादिना सिद्ध्येत् प्रायो लोकव्यवस्थितिः ।

[§ २०८. अपि च सदृशेतरवदेकानेकरूपयोरपि विरोधाविशेषात् कथमेकत्र अनेकोपाधिसंभवो यतस्तैस्तद्वान् व्यपदिश्येत ? अर्थान्तरभूतैरेव स तैस्तद्व्यपदिश्यत इति चेदत्राह—]

तत्त्वतोऽनुपकारेऽपि भेदे कथमुपाधयः ? ॥१८९॥ 10

[§ २०९. अभेद एवेति चेदत्राह—]

तत्रैकत्वप्रसङ्गाच्चेदभेदे कथमुपाधयः ? ।

[§ २१०. कथं पुनर्भेदाभेदाभ्यामुपाधितद्भावनिराकरणम् जैनस्य, स्वयमपि तदभ्युपगमात्, इति चेदत्राह—]

नोपाधयो न तद्वन्तो भिन्नाऽभिन्ना अपि स्वयम् ॥१९०॥ 15
जात्यन्तरे तथाभूते सर्वथा दर्शनादपि ।

[§ २११. परस्य तु मतम्—च (न) शब्दाल्लिङ्गाद्वा उपाधिमतः प्रतिपत्तिर्यतस्तस्य निरवशेषोपाधिशबलितस्य एकस्मादेव शब्दादेरवगमात् तदन्तरस्य तत्र वैफल्य स्यात्, अपि तु उपाधीनामेव, तत्र च एकल्पतम (एकतम) विषयेण अन्येषामनवगमान्न तदन्तरवैयर्थ्यमिति । तत्राह—] 20

तद्वत्यचोदिते शक्तेऽशक्ताः किं तदुपाधयः ? ॥१९१॥
चोद्यन्ते शब्दलिङ्गाभ्यां समं तैस्तस्य लक्षणे ।

[§ २१२. भवतु विशेषेष्वेव तस्य तत्; इति चेन्न; तेषामानन्त्येन अर्वाग्दृशा तत्र (तद) संभवात् इत्यभाव एवानुमानस्य । इदमेवाह—]

सम्बन्धो यत्र तत्सिद्धेरन्यतोऽप्रतिपत्तितः ॥१९२॥ 25
अनुमानमलं किं तदेव देशादिभेदवत् ? ।

[§ २१३. साम्प्रतमुक्तन्यायेन सौगतमपि प्रतिक्षिपन्नाह—]

एतेन भेदिनां भेदसंवृत्तेः प्रतिपत्तितः ॥१९३॥
तत्रैकं कल्पयन् वार्यः समाना इति तद्ग्रहात् ।

[§ २५१. कथं पुनरुपयोगवत्त्वे तस्य सुषुप्त्यादिः सत्यज्ञानस्वभावस्य तदसंभवादिति चेन्न; कर्मवशात्तस्यापि तदुपपत्तेः तदाह–]

कर्मणामपि कर्त्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ।

[§ २५२. परमपि तत्फलं दर्शयति–]

5　**संसरेत् परिणामात्तो मुच्यते वा ततः पुनः ॥२२३॥**

[§ २५३. नन्वात्मा कर्म तत्फलं संसारो मुक्तिरिति च सत्येव भेदे, नचायमस्ति तदवस्थानोपायाभावात् । ततोऽद्वैतबोध एव परमार्थः तस्य स्वत एवाधिगमात् 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः' इति वचनादिति चेदत्राह–]

आत्मादिव्यतिरेकेण कोऽपरोऽध्यक्षतां व्रजेत् ? ।

10　**नानाऽयं क्रमशो वृत्तेर्न चेदभिधास्यते ॥२२४॥**

[§ २५४. ततो युक्तं प्राणादिमत्त्वात् परिणामिन एवात्मनः साधनम् न कूटस्थस्य नापि ज्ञानसन्तानस्य तत्र तस्य विरुद्धत्वात् । परिणामिन्यपि विरुद्ध एवाय शरीरोपक्लृप्तादेव चैतन्यादुत्पत्तेरिति चार्वाकः । तदेवाह–]

भूतानामेव केषाञ्चित् परिणामविशेषतः ।

15　**कायश्चित्कारणम्;**

[§ २५५. तत्रोत्तरमाह–]

सोऽपि कथं संसारमुक्तिभाक् ? ॥२२५॥

शक्तिभेदे तथा सिद्धिः; संज्ञा केन निवार्यते ? ।

यथा भूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणसंस्थितिः ॥२२६॥

20　**तथा भूताविशेषेऽपि भवद्भूतादिसंस्थितिः ।**

[§ २५६. तन्न तद्गुणस्यापि तेनाभिव्यक्तिः, नापि तत्कार्यस्य वर्द्यमाणोत्तरत्वात् । कथमेवं गुणनिषेधे गुणवद्द्रव्यमित्युपपन्नं भवतोऽपि इति चेन्न; परकीयतल्लक्षणस्यैवातिव्याप्त्यादिना प्रतिषेधान्न गुणस्य । कथं तर्हि तदुपपत्तिरिति चेदाह–]

तस्मादनेकरूपस्य कथञ्चिद् ग्रहणे पुनः ॥२२७॥

25　**तद्रूपं भेदमारोप्य गुण इत्यपि युज्यते ।**

[§ २५७. गुणतद्वतोः एकान्त एव भेदो न कथञ्चित्, तद्वादस्य विरोधादिदोषादिति चेदत्राह–]

यदि स्वभावाद्भावोऽयं भिन्नो भावः कथं भवेत् ? ॥२२८॥

अनवस्थानतो भेदे सकलग्रहणं भवेत् ।

30　**तदनेकान्तात्मकं तत्त्वम्,**

व्यावृत्तिं पश्यतः कस्मात्सर्वतोऽनवधारणम् ? ।

[§ २२४. न दृष्टमित्येव निश्चयः, तत्रापि सारूप्याद्विभ्रमोपपत्तेः मायागोलकवत् इति चेदत्राह–]

सादृश्याद्यदि साधूक्तम्,

[§ २२५. सादृश्यमपि व्यावृत्तिरूपमेवेति चेदाह–] 5

तत्किं व्यावृत्तिमात्रकम् ? ॥२०१॥

[§ २२६. परमतमाशङ्कते परिहर्तुम्–]

एकान्ते चेत्तथाऽदृष्टेरिष्टम्;

[§ २२७. अत्रोत्तरमाह–]

वक्तुरकौशलम् । 10

सर्वैकत्वप्रसङ्गो हि तदूदृष्टं भ्रान्तिकारणम् ॥२०२॥

[§ २२८. न कश्चिदपि अन्यथा प्रतिभासहेतुर्भवेत् नौयानादीनामपि निरंशत्वादिनामसमवात् । माभूदिति चेदेतदेवाह–]

नो चेद्विभ्रमहेतुभ्यः प्रतिभासोऽन्यथा भवेत् ।

[§ २२९. अत्रोत्तरमाह–] 15

तदकिञ्चित्करत्वं न निश्चिनोति स किं पुनः ? ॥२०३॥

[§ २३०. भवत्वेवं तथापि किमित्याह–]

तथाहि दर्शनं न स्याद् भिन्नाकारप्रसङ्गतः ।

[§ २३१. विशेष एव परमार्थसंज्ञः तस्यैव दृष्टेः नाविशेष [:] परमार्थविपर्ययादिति चेदत्राह–] 20

न च दृष्टेर्विशेषो यः प्रतिभासात् परो भवेत् ॥२०४॥

[§ २३२. भवतु तर्हि यथादर्शन वस्तुव्यवस्थितिरिति चेदत्राह–]

प्रतिभासभिदैकत्र तदनेकात्मसाधनम् ।

[§ २३३. अनेकान्तेऽपि दुर्लभैव दृष्टिरिति चेदाह–]

अदृष्टिकल्पनायां स्यादचैतन्यमयोगिनाम् ॥२०५॥ 25

[§ २३४. उपसंहरन्नाह–]

तस्मादभेद इत्यत्र समभावं प्रचक्षते ।
नेक्षते न विरोधोऽपि न समानाः स्युरन्यथा ॥२०६॥

[§ २३५. कथ पुनः शब्दानामर्थवत्त्वं तदभावेऽपि प्रवृत्तेः प्रधानादिशब्दानाम्,

जीवच्छरीरधर्मोस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः ।
यथा चैतन्यमन्यत्रेत्यपरः प्रतिपन्नवान् ॥२३५॥

[§ २६८. तत्रोत्तरमाह–]

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ।
5 प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नेति सन्तः प्रचक्षते ॥२३६॥

[§ २६९. ततः किम् ? इत्याह–]

तद्दृष्टहानिरन्येषामदृष्टपरिकल्पना ।
स्वातन्त्र्यदृष्टेर्भूतानामदृष्टेर्गुणभावतः ॥२३७॥

[§ २७०. भवतु तस्य तदात्मत्वं तद्गुणत्वं वा तथापि संसारमोक्षयोरभाव इत्याह–]

10 तत्सारतरभूतानि कायापायेऽपि कानिचित् ।

[§ २७१. मतान्तरमुपदर्शयति दूषयितुम्–]

कार्यकरणयोर्बुद्धिकाययोस्तन्निवृत्तितः ॥२३८॥
कार्याभावगतेर्नास्ति संसार इति कश्चन ।

[§ २७२. तत्रोत्तरमाह–]

15 तस्यापि देहानुत्पत्तिप्रसङ्गोऽन्योन्यसंश्रयात् ॥२३९॥
उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्वधियो भवः ।

[§ २७३. उपसंहरन्नाह–]

अत एव विरुद्धत्वादलं प्रायस्तथा भवात् ॥२४०॥

[§ २७४. किञ्च, कायः कारणमात्रं तद्विशेषो वा बुद्धेः ? तन्मात्रमिति चेत्, न तर्हि 20 तन्निवर्त्तमानमपि कार्यस्य बुद्धेस्सत्त्वं निवर्तयति, निवृत्तेऽपि सहकारिणि कार्यस्यावस्थितिप्रतिपत्तेः, यथा मृतेऽपि स्थपतौ प्रासादगोपुरादेः । इदमेवाह–]

तन्न कारणमित्येव कार्यसत्तानिवर्त्तकम् ।
स्वनिवृत्तौ यथा तक्षा गोपुराट्टालिकादिषु ॥२४१॥

[§ २७५. भवतु परिणामित्वेन कारणविशेष एव स तस्या इति चेदत्राह–]

25 युगपद्भिन्नरूपेण बहिरन्तश्च भासनात् ।
न तयोः परिणामोऽस्ति यथा गेहप्रदीपयोः ॥२४२॥

[§ २७६. अतश्च न तयोः परिणामः इत्याह–]

प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद् विकृतेरविकारिणी ।
निर्ह्रासातिशयाभावान्निर्ह्रासातिशये धियः ॥२४३॥
30 बलीयस्यबलीयस्त्वाद् विपरीते विपर्ययात् ।

[§ २४४. कथं पुनरेकत्रानेकधर्मसद्भाव इत्यत्राह—]

एकत्र बहुभेदानां संभवान्मेचकादिवत् ॥२१५॥

[§ २४५. कथं पुनः सामान्यस्य व्यक्तिव्यतिरिक्तस्याभावे तद्व्यवहार इति चेदत्राह—]

समानं केनचित्किञ्चिदपरञ्च तथाविधम् ।
भेदवद्धर्मिणः कृत्वा समानाकारकल्पना ॥२१६॥ 5

तदन्यत्र समानात्मा स एवेति तथाविधे ।
व्यवच्छेदस्वभावेषु विशेषणविशेष्यधीः ॥२१७॥

तत्तन्निमित्तकः शब्दः तदन्यत्रापि योज्यताम् ।

[§ २४६. यदि पुनः सदृशपरिणाम एव सामान्यं तस्य व्यक्तिवदनेकत्वात् कथं तत्र सत्तेत्येकतया व्यवहार इति चेदत्राह—] 10

ततः सत्तेति साध्यन्ते सन्तो भावाः स्वलक्षणाः ॥२१८॥
नानैकवचनाः शब्दास्तथा सङ्केतिता यतः ।

[§ २४७. यदि समानप्रत्यवमर्शात् सामान्यं तर्हि जलयोरिव जलमरीचिकाचक्रयोरपि भवेत् इदं जलमिदमपि जलमिति । तत्रापि प्रत्यवमर्शादिति चेन्न; तच्चक्रे प्रत्यवमर्शस्य बाध्यत्वेन मिथ्यात्वात् ... ततो निर्बाधादेव प्रत्यवमर्शात्तत्सिद्धेरेतदेवाह—] 15

प्रत्यभिज्ञा द्विधा काचित् सादृश्यविनिबन्धना ॥२१९॥
प्रमाणपूर्विका नान्या दृष्टिमान्द्यादिदोषतः ।

[§ २४८. कथं तर्हि बहिरर्थादिवत् प्रधानस्यापि सत्त्वं ततो न साध्यते ? नान्वयादिति चेन्न; अन्वयस्य तन्मतेनालिङ्गलक्षणत्वात् इत्यत्राह—]

अस्ति प्रधानमित्यत्र लक्षणासम्भवित्वतः ॥२२०॥ 20

[§ २४९. नन्वन्यथानुपपन्नत्वमपि सत्येव पक्षधर्मत्वादौ भवति, ततस्तदेव हेतुलक्षणम् । तदसत्त्वादेव च प्रधानास्तित्वमप्यसाध्यमिति चेन्न; तदभावेऽपि क्वचित्तदुपलम्भात् । तदाह—]

तत्रान्यत्रापि वाऽसिद्धं यद्विना यद्विहन्यते ।
तत्र तद्गमकं तेन साध्यधर्मी च साधनम् ॥२२१॥

[§ २५०. ततो न मृतशरीरवत् सुषुप्तादावपि जाग्रज्ज्ञानादुत्पत्तिरिति सन्निहित एव कश्चिद्धेतुर्वक्तव्यः, स चात्मैव उपयोगपरिणामी नापर इति तत्रैव तस्य गमकत्वम् अन्यथानुपपत्तिसंभवादेतदेवाह—] 25

अप्रत्यक्षः सुषुप्तादौ बुद्धः प्रत्यक्षलक्षणः ।
जीवतीति यतः सोऽयं जीव आत्मोपयोगवान् ॥२२२॥

[§ २८६. सत्यं लक्ष्यते, स तु न पौर्वभविकाद् अनुमाना (अनुभवा) दपि तु गर्भभाविन एव, तदाह—]

गर्भे रसविशेषाणां ग्रहणादिति कश्चन।
तदादावभिलाषेण विना जातु यदृच्छया ॥२५१॥
तत्संस्कारान्वयेक्षत्वाद् भूयोभूयः प्रवर्त्तितः।

[§ २८७. तत्रोत्तरमाह—]

कोशपानं विधेयम्,

[§ २८८. भवतोऽपि समानमिदं गर्भ [ग] तस्यापि पौर्वभविकादेवानुभवादेः स्मरणादित्यत्रापि प्रमाणाभावादिति चेदत्राह—]

न समं भूयस्तथा दृशः ॥२५२॥

[§ २८९. पुनरपि गर्भे इत्यादि निराकुर्वन्नाह—]

रूपादिदर्शनाभावात् तत्सम्बन्धस्मृतिः कथम्?।
नावश्यं चक्षुरादीनां सर्वत्रोन्मीलनादयः ॥ २५३ ॥

[§२९०. पुनरपि 'तद्विकृतेः' इत्यादि समर्थयितुमाह—]

तथा रागादयो दृष्टाः सङ्कल्पाद्यविनाभुवः।

[§ २९१. कथं तर्हि सामान्यस्मरणाद्विशेषे प्रवृत्तिरिति चेन्न; तस्य तस्मादव्यतिरेकात् दृष्टत्वाच्च, तदेवाह—]

तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोषयोः ॥२५४॥
भावोऽभावश्च वृत्तीनां भेदेष्विह च दृश्यते।

[§ २९२. उपसंहरन्नाह—]

तस्मात्संसारवैचित्र्यं नियमान्न विहन्यते ॥२५५॥

[§ २९३ व्याहतमेव पिपीलिकाजीवस्य तच्छरीरपरित्यागेन हस्तिशरीरसञ्चरणम्··· इति चेदत्राह—]

न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति देहान्तरपरिग्रहे।

[§ २९४. तदेवम् 'इह च दृश्यते' इत्यनेन तत्परिग्रहमुपपाद्य तदन्तरेणापि उपपादयन्नाह—]

तदभावे हि तद्भावप्रतिषेधो न युक्तिमान् ॥२५६॥

[§२९५. तस्माद् बुद्धिरियं पुरुषस्यैव स्वभावो न पृथिव्यादेः। चार्वाकस्तत्स्वभावत्वे दूषणमाह—]

बुद्धेः पुरुषतन्त्रत्वे नित्यत्वात्तदनुक्रिया।
न भवेत्;

[§ २५८. भवतु स एव वादः, तत्रैव चेतनो देहस्य गुण इति चेदत्राह—]

नहि ज्ञानात्मना क्वचित् ॥२२९॥

शरीरग्रहणं येन तद्गुणः परिकल्प्यते ।

[§ २५९. वैशेषिकादेस्त्व (देस्त्व) गुणवान् गुण इति ब्रुवाणस्य न गन्धादेर्गुणत्व गुणवत्त्वात् । तदेवाह—] 5

गुणानां गुणसम्बन्धो गन्धादेः सङ्ख्यया ग्रहात् ॥२३०॥
तादात्म्यं केन वार्येत ?

[§ २६० ननूक्त भाक्तत्वेन तन्निवारणमिति चेदत्राह—]

नोपचारप्रकल्पनम् ।
अत्रान्यत्रापि तुल्यत्वादाधारस्यैकरूपतः ॥२३१॥ 10
तत्रैकत्वं प्रसज्येत, सङ्ख्यामात्रं यदीष्यते ।
नानात्मविभ्रमादेवं न पृथग्गुणिनो गुणाः ॥२३२॥

[§ २६१. आकारभेदात्ते ततः पृथगिति चेदेतदेवाह—]

प्रसक्तं रूपभेदाचेत्;

[§ २६२. तत्रोत्तरमाह—] 15

भेदो नानात्वमुच्यते ।

[§ २६३. नास्त्येव तत्रैकत्व केवल भावसादृश्यात्तत्र तद्व्यवहार. …तदेवाह—]

एकता भावसाम्याचेत्;

[§ २६४. तत्रोत्तरमाह—]

उपचारस्तथा भवेत् ॥२३३॥ 20

[§ २६५. यदि च तत्र गुणवत्त्वभयान्न वास्तवमेकत्व पृथक्त्वमपि न भवेत्, तदपि कुतश्चित्कार्यविशेषादेरुपचरितमेव स्यात् तदेवाह—]

भेदेऽपि, वस्तुरूपत्वान्न चेदन्यत्र तत्समम् ।

[§ २६६. तन्न गुणगुण्यादीनामपृथक्त्वम्, भवतु पृथक्त्वमेव प्रतिभासादिभेदादिति चेदत्राह—] 25

एतेन भिन्नविज्ञानग्रहणादिकथा गता ॥२३४॥

[§ २६७. तन्न गुणो नाम कश्चिन्निश्चितो य [त] श्चेतनोऽपि गुणः स्यात् । माभूत् धर्मस्तु तर्हि स्यात्, तदवष्टम्भेन अवस्थानात् चित्रवत् कुडयस्य । यथा कुडयापाये न चित्रं तत्र तिष्ठति नाप्यन्यत्र गच्छति नश्यत्येव परं तथा शरीरापाये चेतनोऽपि इति मन्वानस्य मतमुपदर्शयन्नाह—] 30

तस्मात्सभागसन्तानकल्पनापि न युज्यते ।
न चेत्स परिवर्त्तेत हेतुरेव फलात्मना ॥२६४ ॥

[§ ३०८. कथं पुनर्हेतोः फलात्मना परिवर्त्तनं प्रत्यक्षबाधनात्, तेन निरन्वयस्यैव विनाशस्य प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह–]

5 **तस्माद्भावविनाशोऽयं फलीभावस्तदग्रहः ।**
तद्ग्रहः,

[§ ३०९. भवतु तत्र फलीभावव्यवहारो विनाशव्यहारस्तु कथम् ? तद्भावस्याविनाशरूपत्वात्; अत्राह–]

प्रतिषेधोऽस्य केवलं तन्निबन्धनः ॥२६५॥

10 [§ ३१०. साम्प्रतं हेतुफलयोः पराभिप्रेतमन्यत्वव्यवस्थापनं दर्शयति–]

अन्यथात्वं यदीष्येत हेतोरपि फलात्मनः ।
अन्य एवेति किन्नेष्टमिति केचित् प्रचक्षते ? ॥२६६॥

[§ ३११. तत्रोत्तरमाह–]

अन्यथात्वं न चेत्तस्य भवेद् ध्रौव्यमलक्षणात् ।
15 **अभावस्याप्यभावोऽपि किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते ? ॥२६७॥**

[§ ३१२. साम्प्रतं व्यवहारस्यातिप्रसङ्गमपरत्र तदभावप्रसङ्गमिव परिहरन्नाह–]

स्वस्वभावस्थितो भावो भावान्तरसमुद्भवे ।
नष्टो वा नान्यथाभूतस्ततो नातिप्रसज्यते ॥२६८॥

[§ ३१३. तदेवं प्रपञ्चतः साध्यमुपदिश्य साधनस्वरूपं दर्शयन्नाह–]

20 **साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्,**

[§ ३१४. हेत्वाभासानुपदर्शयति–]

ततोऽपरे ।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ॥२६९॥

[§ ३१५. यदि साधनं प्रकृते सत्येव न तदा स्वप (सप) क्षेऽपि स्यात् तत्र प्रकृताभावात्, 25 ततश्च न तस्य तदविनाभावपरिज्ञानम्, सपक्ष एव तत्संभवान्न पक्षे, तत्र अद्यापि प्रकृतस्यानिश्चयादिति चेदत्राह–]

तथाऽर्थे सत्यसम्भूष्णुः धर्मो न बहिर्गतः ।
सर्वथैकान्तविश्लेषे साध्यसाधनसंस्थितेः ॥२७०॥

[§ ३१६. जात्यन्तरस्यैव तत्त्वात् । न तादृशं किमपि दृष्टमस्ति यतः सविस्रम्भं चेतः 30 स्यात् इति चेदाह–]

[§ २७७. उपसंहरन्नाह—]

कार्ये तस्मान्न ते तस्य परिणामाः सुखादयः ॥२४४॥

[§ २७८. यत्रापि परिणामतद्भावो घटकपालादौ तत्रापि प्रमितेऽपीत्यादि विद्यते, ततो व्यभिचारः; इति चेदाह—]

एतदत्र घटादीनां न तज्जातुचिदीक्ष्यते ।　5

[§ २७९. गुणदूषणमप्यत्रातिदिशन्नाह—]

तुल्यश्च गुणपक्षेण तत्तथा परिणामतः ॥२४५॥

[§ २८०. कुत इदं ससारवैचित्र्यम् ? ···तस्य च कर्मण एव तद्वैचित्र्यात्···एतदेवाह—]

अक्षादीनां विकारोऽयमात्मकर्मफलं भवेत् ।　10
अन्यथा नियमायोगात् प्रतीतेरपलापतः ॥२४६॥

[§ २८१. स्वभावकल्पनाया सामर्थ्यस्य मुक्तिरूपस्याभावात् कर्मफलमेव तद्वैचित्र्य तदेवाह—]

कल्पनायामसामर्थ्यात्,

[§ २८२. तदेवं तदहर्जातस्य परलोकित्वे कर्मसिद्ध्या सिद्धे यत्सिद्धं तदाह—]　15

ततस्तद्विकृते कृते ।
पारम्पर्येण साक्षाच्च नास्ति विज्ञानविक्रिया ॥२४७॥

[§ २८३. तत्र शरीरपरतन्त्रो जीवः तदुपरमे व्यवस्थानात्तदहर्जातवत् । कुतो वा तस्य तत्परतन्त्रत्वम् ? तद्धेतुत्वादिति चेन्न; केवलादुत्पत्तौ मृतेऽपि प्रसङ्गात् । इन्द्रियसहायादिति चेत्; 20 इन्द्रियाणामपि समुदायेन तत्सहायत्वं प्रत्येकं वा ? प्रथमविकल्प निराकुर्वन्नाह—]

कारणं नाक्षसङ्घातः तत्प्रत्येकं विना भवात् ।
विकल्पानां विशेषाच्च तत्तद्धति विरोधतः ॥२४८॥
जातिस्मराणां संवादादपि संस्कारसंस्थितेः ।
अन्यथा कल्पयन् लोकमतिक्रामति केवलम् ॥२४९॥　25

[§ २८४. तत· पौर्वभविकस्यैव तस्य तेन स्मरणमिति कथन्न जातिस्मराणा संवादः ? एतदेवाह—]

नाऽस्मृतेऽभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् ।
तद्धि जन्मान्तरान्न,

[§ २८५. तदहर्जातस्य अभिलाप एव नास्ति तत्कुतस्तदनुमितिः ? इति चेत्त्राह—] 30

अयं जानमात्रेऽपि लक्ष्यते ॥२५०॥

विरोधानुपलम्भेन किल स्कन्धो विरुध्यते ॥२७८॥

[§ ३२६. अर्वाग्भागदृष्ट्या परभागादेरपि दर्शने तदनुमानाभावप्रसङ्गात् । अदर्शने तदभेदात् अर्वाग्भागस्याप्यदर्शनमित्यनुपलम्भादभावस्यैव प्राप्तेरिति चेदत्राह–]

सम्भवत्यपि मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिः ।

5 [§ ३२७. निदर्शनमत्र–]

इदं विज्ञानमन्यद्वा चित्रमेकं यदीक्ष्यते ॥२७९॥

[§ ३२८. भवतु चित्रमेकं वस्तु तथापि कुतः क(त)स्मिन् सति मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिरिति चेदत्राह–]

अवान्तरात्मभेदानामानन्त्यात् सकलाग्रहे ।
10 **नानाकारणसामर्थ्याज्ज्ञानं भेदेन भासते ॥२८०॥**
भेदसामर्थ्यमारोप्य प्रत्यासत्तिनिबन्धनम् ।
चोद्यं महति नीलादौ तुल्यं तद्विषयाकृति ॥२८१॥

[§ ३२९. सति चैवमनुपप्लवदर्शनविषयत्वे स्कन्धस्य यज्ञा (यज्जा) तं तदाह–]

सर्वथा श्लेषविश्लेषे नाणूनां स्कन्धसम्भवः ।
15 **अन्यथा नोऽप्रदेशादीत्यपरैर्वक्तमुत्तरम् ॥२८२॥**

[§ ३३०. अतो निर्दोषत्वात् स एव तदनुगुणः श्लेषः इति कथं तदभावः ? इदमेवाह–]

नैरन्तर्यं निरंशानां स्वभावानतिरेचनम् ।
स्कन्धो मात्रानुरोधेन व्यवहारेऽवधार्यते ॥२८३॥

[§ ३३१. कुतः पुनरन्योन्यात्मगमनेनैक तस्यावधारणं न रूपान्तरेणेति चेदत्राह–]

20 **सङ्ख्यादिसमभावेऽपि तत्स्वभावविवेकतः ।**

[§ ३३२. तथापि तदनभ्युपगच्छतो दूषणमाह–]

अतादात्म्यस्वभावे वाऽऽनर्थक्यादलं परैः ॥२८४॥

[§ ३३३. ततोऽवश्यं वक्तव्यः स्कन्धः तस्यैव तदुपयोगात्, स च रूपादीनामन्योन्याभेद एव नापरः इत्याह–]

25 **स्पर्शोऽयं चाक्षुषत्वान्न, न रूपं स्पर्शनग्रहात् ।**

[§ ३३४. भिन्न एव कस्मान्न भवतीति चेदत्राह–]

रूपादीनि निरस्याभिर्न (स्यान्यन्न) चाभ्युपलभेमहि ॥२८५॥

[§ ३३५. एतदेव कस्मादिति चेदत्राह–]

सामग्रीविहितज्ञानदर्शिताकारभेदिनः ।
30 **प्रायेणैकस्य तादूप्यम्, पृथक्सिद्धौ प्रसङ्गतः ॥२८६॥**

[§ २९६. समाधानमाह–]

परिणामित्वाद्विनाशानुपलक्षणात् ॥२५७॥

[§ २९७. अत्यन्तविनाशेऽपि सन्तानापेक्षया तत्संभवं मन्यमानस्य मतमाशङ्कते–]

परस्याप्यविरोधश्चेत् फलहेतुव्यपोहतः।
प्रवृत्तेर्व्यवहाराणाम्; 5

[§ २९८. परिहरन्नाह–]

अविनाशेऽपि संभवात् ॥२५८॥

[§ २९९. इदमेव श्लोकैर्व्याचिख्यासुः 'फलहेतुव्यपोहतः' इत्यस्य द्वितीयमर्थं दर्शयन्नाह–]

यथाऽजनकजन्येषु न सन्ति कलशादयः। 10
तथा जनकजन्येषु ततस्तत्त्वं निरन्वयम् ॥२५९॥

[§ ३००. सत्येव यत्सिद्धं तदाह–]

तत्र नाशादिशब्दाश्च समिताः समनन्तरे।

[§ ३०१. तदेवं परमतमुपदर्श्य अल्पवक्तव्यत्वात् तत्रेत्यादि निराकुर्वन् विनाशं पृच्छति–] 15

अन्यस्यान्यो विनाशः किम्?

[§ ३०२. इति प्रश्नयित्वा दूषणमाह–]

किन्न स्यादचलात्मकः ? ॥२६०॥

[§ ३०३. पर इदं परिहरन्नाह–]

तद्विवेकेन भावाचेत्; 20

[§ ३०४. उत्तरमाह–]

कथन्नातिप्रसज्यते ?।
सदापि सर्वभावानां परस्परविवेकतः ॥२६१॥

[§ ३०५. साम्प्रत विवेकमभ्युपगम्य जनकजन्येषु इत्येतन्निराकुर्वन्नाह–]

न चानन्तरमित्येव भावस्तद्व्यपदेशभाक्। 25
तत्प्रतीत्यसमुत्पादाद्भावश्चेत्; स कुतो मतः ? ॥२६२॥
सादृश्यात्; प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम्।

[§ ३०६. चित्रज्ञानवादिनः संभवत्येव तदिति चेदत्राह–]

विशेषकल्पनायां स्यात्परस्याव्यभिचारिता ॥२६३॥

[§ ३०७. माभूत्प्रत्यभिज्ञान युगपदपि चित्रैकस्यानभ्युपगमादिति चेदत्राह–] 30

सर्वत्र परिणामादौ हेतुः सत्त्वात्ततोऽन्यथा ।
शब्देऽपि साधयेत्केन ? तस्मान्नान्वयतो गतिः ॥२९५॥

[§ ३४६. साम्प्रतं विपक्षव्यवच्छेदेन परिणामहेतुत्वमेव सत्त्वादेर्विस्तरेण व्याचक्षाण आह–]

सिद्धमर्थक्रियाऽसत्त्वं सर्वथाऽविचलात्मनः ।
5 **निरन्वयविनाशेऽपि,**

[§ ३४७. संवृतिसिद्धं तु तत्सत्त्वं शुद्धमशुद्धं वा तत्र हेतुरिति चेदत्राह–]

साधनं नोपचारतः ॥२९६॥

[§ ३४८. ननु यथा क्षणिकाद्येकान्ते तथाऽनेकान्तेऽपि तस्यापि तत्कुर्वतः कुतश्चिद-प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह–]

10 **अवश्यं बहिरन्तर्वा प्रमाणमवगच्छताम् ।**
सिद्धमेकमनेकात्मपरिणामव्यवस्थितम् ॥२९७॥

[§ ३४९. भवतु अन्तस्तत्परिणामव्यवस्था 'चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः' इति वचनात्, न बहिः; तत्र परमाणूनामेव प्रतिक्षणक्षीणानां परस्परविलक्षणानाञ्च भावादिति कश्चित् । अव-यवावयव्यादीनामेव इत्यपरः । तत्राह–]

15 **परापरविवेकैकस्वभावपरिनिष्ठितः ।**
परमाणुरतोऽन्यो वा बहिरन्तर्न बुद्ध्यते ॥२९८॥

[§ ३५०. तस्यापि स्वतोऽर्थक्रियासामर्थ्ये किं सहकारिप्रतीक्षयेति चेदत्राह–]

अर्थस्यानेकरूपस्य कदाचित्कस्यचित्क्वचित् ।
शक्तावतिशयाधानमपेक्षातः प्रकल्प्यते ॥२९९॥

20 [§ ३५१. यद्यर्थस्य स्वभावोऽतिशयः तर्हि तद्धेतोरेव सिद्धेरपेक्षया न किञ्चित्, असिद्धौ तु न तत्स्वभावत्वं सिद्धासिद्धयोर्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्यैवापत्तेरिति चेदत्राह–]

स्वभावातिशयाधानं विरोधान्न परीक्ष्यते ।
तत्र सिद्धमसिद्धं वा तस्माज्जातिर्न हेतुतः ॥३००॥
सन्निधानं हि सर्वस्मिन्नव्यापारेऽपि तत्समम् ।

25 [§ ३५२ किं सर्वथा ततो न जातिः ? नेत्याह–]

न चेत्स परिवर्त्तेत भाव एव फलात्मना ॥३०१॥

[§ ३५३ सम्प्रति येदुक्तम्–विनाशनियतो भावस्तत्रानपेक्षणादिति; तस्य विरुद्धत्वं दर्श-यन्नाह–]

परिणामस्वभावः स्याद्भावस्तत्रानपेक्षणात् ।

30 [§ ३५४. कुतः पुनर्निरन्वयविनाशस्यैव ततो न सिद्धिः ? इत्यत्राह–]

एकं चलं चलैर्नान्यैः नष्टैर्नष्टं नचापरैः ।
आवृतैरावृतं भागै रक्तै रक्तं विलोक्यते ॥२७१॥

[§ ३१७. अथ मत चलादेस्तनोऽर्थान्तरत्वादचलादिकमेव तत्त्वतः, ततो न चलाचलादिरूपवत्तया जात्यन्तरस्यावलोकनमिति; तत्राह–]

अन्यथा तदनिर्देश्यं नियमस्याप्यसम्भवात् । 5

[§ ३१८. संभव एव समवायादिति चेन्न; तस्य निषेधात् । अभ्युपगम्याप्याह–]

वृत्तावपि न तस्येदं विश्वरूपं विभाव्यते ॥२७२॥

[§ ३१९. तदनभ्युपगमे दोषमाह–]

सम्यग्ज्ञानं व्यवस्थाया हेतुः सर्वत्र तत्पुनः ।
प्रत्यक्षं यदि बाध्येत लक्षणं प्रतिरुध्यते ॥२७३॥ 10
साङ्कर्यं व्यवहाराणां सन्निवेशविशेषतः ।
नानैकपरिणामोऽयं यदि न व्यवतिष्ठते ॥२७४॥

[§ ३२०. कुतश्चायं निरंशवादे वस्तुषु स्थूलप्रतिभासः ? न चायं नास्ति; प्रसिद्धत्वात् । एकार्थकारित्वादिति चेन्न; अर्थस्याप्यणुरूपस्याप्रतिवेदनात्····तन्न तत्कारित्वम्, सत्यपि तस्मिन् न ततस्तत्प्रतिभासो व्यभिचारात्, अस्ति हि तत्कारित्वमिन्द्रियालोकादीनां न च तत्र स्थूलैकप्र- 15 तिभासः, विषये चोदिता प्रवृत्तिरिन्द्रियादावपि स्यात्, एतदेव दर्शयन्नाह–]

सत्यप्येकार्थकारित्वे संश्लेषपरिणामतः ।
इन्द्रियादिषु नैकत्वं यदि किं वा विरुद्ध्यते ? ॥२७५॥

[§ ३२१. अस्यैव तात्पर्यं विस्तरतो व्याख्यातुकाम आह–]

तदनेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणामतः । 20
स्कन्धस्तु सप्रदेशोंऽशी बहिः साक्षात्कृतो जनैः ॥२७६॥

[§ ३२२. इदानीं तत्साक्षात्करणेनैव विपक्षाभ्युपगमं प्रतिक्षिपन्नाह–]

नाऽनाकारैकविज्ञानं स्वाधारे बदरादिवत् ।
तादात्म्येन,

[§ ३२३. भेदे दूषणान्तरमप्याह–] 25

पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते ॥२७७॥

[§ ३२४. भवेदेव यदि तयादर्शनं लभ्येत, न चैवं कश्चित्, तदभेदस्यैवोपलम्भात्, तदेवाह–]

दर्शनादर्शने स्यातां सप्रदेशाप्रदेशयोः ।

[§ ३२५. भवतु तर्हि भवत्परिकल्पितस्यापि स्कन्धस्याभावो भेदाभेदयोरेकत्र विरोधा- 30 दिति चेत्त्राह–]

आकृतिभ्रमवद् यद्वद्विषमज्ञैर्विलोकितम् ।
न च तेऽर्थविदोऽर्थोऽर्थात् केवलं व्यवसीयते ॥३०८॥

[§ ३६४. तन्न व्यवसायार्थमपि दर्शनकल्पनमुपपन्नम् । भवतु व्यवहारार्थमेव तत्; अभ्यासदशाया दर्शनादेव व्यवसायनिरपेक्षाद् व्यवहारप्रवृत्तेरिति चेदत्राह—]

5 **भावान्तरसमारोपे भाविताकारगोचराः ।**
समक्षसंविदोऽर्थानां सन्निधिं नातिशेरते ॥३०९॥

[§ ३६५. ····कोऽपरः स्यादन्यत्र व्यवसायादिति तदात्मिकैव दृष्टिः, अन्यथा तस्याः तद्विषयस्य चानवकल्पनादित्यावेदयन्नाह—]

अणवः क्षणिकात्मानः किल स्पष्टावभासिनः ।

10 [§ ३६६. परमपि अरुचिविषयं दर्शयति—]

अतत्फलपरावृत्तार्थाकारस्मृतिहेतवः ॥३१०॥

[§ ३६७. ततो यथा तन्निर्णयात्तदाकारः तथा साधारणरूपमपि इति तस्यैव प्रत्यक्षवेद्यत्वमेतदेवाह—]

स्थूलस्पष्टविकल्पार्थाः स्वयमिन्द्रियगोचराः ।

15 [§ ३६८. तथा च यत्सिद्धं तदाह—]

समानपरिणामात्मशब्दसङ्केतहेतवः ॥३११॥

[§ ३६९. साम्प्रत तस्यास्ततोऽन्यत्वेऽपि तत्संवेदनवत् इन्द्रियप्रत्यक्षस्यापि व्यवसायात्मकत्वं दर्शयन्नाह—]

स्वभावव्यवसायेषु निश्चयानां स्वतो गतेः ।
20 **नाशस्यैकार्थरूपस्य प्रतीतिर्न विरुद्ध्यते ॥३१२॥**

[§ ३७०. भवतोऽपि स्वपरनिर्णयात्मनो ज्ञानस्य स्वत एव सच्चेतनादिवत् प्रतिक्षणपरिणामादेरपि निर्णयात् किं तत्र प्रमाणान्तरेणेति चेदत्राह—]

व्यामोहशबलाकारवेदनानां विचित्रता ।
साकल्येन प्रकाशस्य विरोधः सम्प्रतीयते ॥३१३॥

25 [§ ३७१. नन्वेवमगृहीताकारसंभवे कुतस्तदस्तित्वमित्यत्राह—]

संभावितान्यरूपाणां समानपरिणामिनाम् ।
प्रत्यक्षाणां परोक्षात्मा प्रमाणान्तरगोचरः ॥३१४॥

[§ ३७२. कुतः पुनरिदमवगन्तव्यं प्रमाणान्तरगोचर आत्मा प्रत्यक्षाणामिति, प्रत्यक्षस्य तत्र तद्विषये च प्रमाणान्तरस्यावृत्तेः, उभयविषयस्य च कस्यचिदभावादिति चेदत्राह—]

30 **प्रत्ययः परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ।**
सत्यं परिस्फुटं येन तत्र प्रामाण्यमश्नुते ॥३१५॥

[§ ३३६. नन्वेवमेकस्मिन्नेवेन्द्रिये तस्य तथैव प्रतिभासादिन्द्रियान्तरमनर्थकमिति चेदत्राह–]

अल्पभूयःप्रदेशैकस्कन्धभेदोपलम्भवत् ।
अन्यथा स्वात्मनि ज्ञानमन्यथा चानुमीयते ॥२८७॥

[§ ३३७. तत्सर्वमनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वादिति । सतः प्रमेयत्वे तस्य च सति नियमे 5 स्यादिदमनुमानं नान्यथा हेतुदोषसंभवादिति मन्यमानस्य मतमादर्शयति–]

सत्प्रमेयत्वयोर्नास्ति सर्वथा नियमो यदि ।

[§ ३३८. तत्रोत्तरमाह–]

अप्रवृत्तेः फलाभावात् तत्र वृत्तेर्निषेधतः ॥२८८॥

[§ ३३९. किं वा प्रमाणं यतः प्रमेयत्वमभावस्य ? प्रत्यक्षमिति चेदत्राह–] 10

प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रमेयमसदित्यपि ।
प्रवृत्तेर्ध्यान्ध्यमेवैतत् किन्न सन्तं समीक्षते ? ॥२८९॥

[§ ३४०. तन्न प्रत्यक्षतः प्रमेयत्वमभावस्य । नाप्यनुमानात्; तस्यापि प्रतिबन्धसव्यपेक्षत्वैव प्रमाण्यादभावे च प्रतिबन्धस्यासम्भवात् । तदेवाह–]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षेऽर्थे साधनं त्रिविधं द्वयम् । 15
हेत्वात्मनोः परं हेतुस्तज्ज्ञानव्यवहारयोः ॥२९०॥
परसत्त्वमसत्ताऽस्याऽदर्शनं परदर्शनम् ।

[§ ३४१. यदि भावान्तरमेवाभावः तत्र कथम् असज्ज्ञानादिप्रवृत्तिरिति चेदत्राह–]

सदसज्ज्ञानशब्दाश्च केवलं तन्निबन्धनाः ॥२९१॥

[§ ३४२. भावस्यैवाभावात्मकत्वे प्रसिद्धमुदाहरणमाह–] 20

अग्निः स्वपररूपाभ्यां भावाभावात्मको यथा ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दबुद्ध्याऽवधार्यते ॥२९२॥

[§ ३४३. निरूपितमिदम्, यदि न तावता परितोषः पुनरपि वदामः । इत्याह–]

अप्रमेयं प्रमेयश्चेत् असत् किन्न सदात्मकम् ? ।
अथ न व्यवहारोऽयमन्यत्रापि निरङ्कुशः ॥२९३॥ 25

[§ ३४४. सम्प्रति सर्वत्र प्रमेयत्वस्य सद्भावमुपसङ्गृह्य गमकत्वे निमित्तं दर्शयन्नाह–]

सत्प्रत्यक्षं परोक्षार्थगतिस्त्रैकलक्षणम् ।
साध्ये सति विरोधोऽयमतस्तर्केण साध्यते ॥२९४॥

[§ ३४५. तन्न बहिरन्वयादिना किञ्चित् विनापि तेन तन्निर्णयात् । न च सर्वत्र तत्संभवो यतः तस्मादेव स भवेदित्याह–] 30

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥३२३॥

[§ ३८१. ततः सामस्त्येनैव तत्करणमभ्युपगन्तव्यं तच्च ततो न संभवति, तदेवाह-]

प्रत्येति न प्रमाहेतुं प्रत्येति पुनरप्रमाम् ।
5 प्रमाहेतुतदाभासभेदोऽयं सुव्यवस्थितः ? ॥३२४॥

[§ ३८२. भवतु तर्हि प्रमाणादेव अनुमानाद् हेतुप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह-]

नियमेन न गृह्णाति निःशङ्कं चतुरस्रधीः ।
अन्यथाऽसंभवेऽज्ञाने ह्यर्थश्चात्मव्यवस्थितः ॥३२५॥

[§ ३८३. तत्र कल्पितस्तद्भाव उपपन्नः, तदाह-]

10 प्रतिव्यूढस्तु तेनैव प्रभवोऽनलधूमयोः ।
प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन विकल्पेन प्रकल्पितः ॥३२६॥

[§ ३८४. एवमेतत् प्रमाणतः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तेः एतदेव दर्शयति-]

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ।
अन्यथानुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते ? ॥३२७॥

15 [§ ३८५. प्रतिबन्धो यदि असाधरणः न तस्मादनुमानम्, यत्र तत्सिद्धिः प्रत्यक्षात् साध्यस्यापि तत्र तत एव सिद्धेः अन्यत्र चाविद्यमानत्वात् । साधारणश्चेत्, न तर्हि स विषयः प्रत्यक्षस्य स्यात्, तस्य स्वलक्षण एव नियमादतः प्रमाणान्तरस्यैव विषयो वक्तव्यः, तदेवाह-]

प्रमाणसाधनोपायः प्रमाणान्तरगोचरः ।
व्याप्यव्यापकभावोऽयमेकत्रापि विभाव्यते ॥३२८॥

20 [§ ३८६. प्रतिबन्धसमारोपनिवारणार्थं तन्निरूपणमिति कथं तद्व्यापारवान् विकल्पो न प्रमाणम् । अप्रमाणात्तन्निवारणायोगादनुमानवत्, एतदेवाह-]

सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ।
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥३२९॥

[§ ३८७. पुनरपि तर्कस्यैव प्रामाण्य दृढयन्नाह-]

25 सहदृष्टैश्च धर्मैस्तत्र विना तस्य संभवः ।
इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥३३०॥
तस्माद् वस्तुबलादेव प्रमाणम्,

[§ ३८८. यद्येवं भवतोऽपि तृतीय प्रमाणं प्राप्तम्, प्रत्यक्षवत् परोक्षेऽप्यनन्तर्भावादिति चेदाह-]

30 मतिपूर्वकम् ।
बहुभेदं श्रुतं साक्षात्पारम्पर्येण चेष्यते ॥३३१॥

अयमर्थक्रियाहेतुरन्तरेण निरन्वयम् ॥३०२॥

[§ ३५५. परिणामे भावसाङ्कर्यम्, कस्यचित्स्वपर्यायैरिव परपर्यायैरप्यविशेषात् तदापत्तेरिति चेदत्राह–]

भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य भेदाभेदव्यवस्थितिः ।
लोकतो वानुगन्तव्या सभागविसभागवत् ॥३०३॥ 5

[§ ३५६. साम्प्रतं तद्विशेषाणामपि तद्धेतुत्वं तज्ज्ञापकस्य तद्वचनादवगतमपि विनेयानुग्रहणार्थं दर्शयन्नाह–]

सामान्यभेदरूपार्थसाधनस्तद्गुणोऽखिलः ।

[§ ३५७. कुतस्तत्साधन एवायं न क्षणिकत्वादिसाधनोऽपीति चेदत्राह–]

अन्यथाऽनुपपन्नत्वनियमस्यात्र संभवात् ॥३०४॥ 10

[§ ३५८. कीदृशो वा शब्दादिर्यत्र क्षणभङ्गसाधनम् ? निष्कलपरमाणुरूप इति चेन्न,··· सञ्चये तर्हि सौक्ष्म्येणैव तेषा प्रतिपत्तिः स्यात् तत्स्वभावत्वात्, तथा च कथमेकघटादिव्यवहारः ? विकल्पारोपितादेव स्थौल्यात् क्षणभेदव्यवहारवदिति चेदेतदेव दर्शयति–]

प्रत्यक्षेऽपि समानान्यनिर्णयः प्रतिरुद्ध्यते ।
यथा क्षणक्षयेऽणूनाम् ; 15

[§ ३५९. अत्रोत्तरमाह–]

इत्यात्मानं विडम्बयेत् ॥३०५॥

[§ ३६०. तन्नायमारोपितः स्थूलाकारः तत्प्रत्ययव्यतिरेकेण प्रत्यक्षस्याप्रतिवेदनात् । एकत्वाध्यवसायाञ्च तत्कल्पनस्य प्रतिक्षेपादेतदेवाह–]

अपृथग्वेद्यनियमादभिन्नाः परमाणवः । 20

[§ ३६१. ततो यथा विभ्रमेतरविकल्पेतरादीनामेकत्र समुच्चयः तथा वस्तुस्वाभाव्यादेव सूक्ष्मेतराभेदेतराणामपि । एतदेवाह–]

देशकालान्तरव्याप्तिस्वभावः क्षणभङ्गिनाम् ॥३०६॥
सम्प्रत्यस्तमिताशेषनियमा हि प्रतीतयः ।

[§ ३६२. तस्मादक्रमवत् क्रमेणापि अनेकान्तात्मक एव भावः तथा प्रत्यभिज्ञानात् । 25 ननु च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षविषय एव प्रवृत्तिमन्नान्यत्र अतिप्रसङ्गात् । न च प्रत्यक्षस्य परापरपर्यायेषु प्रवृत्तिर्यतः तेषां कथञ्चिदभेदप्रतिपत्त्या तस्मादनेकान्तविषयत्वात्प्रत्यभिज्ञानं तत्र स्यादिति चेदत्राह–]

अग्रहः क्षणज्ञोऽपि ग्रहणे किमनिश्चयः ? ॥३०७॥

[§ ३६३. ····समारोपनिरासार्थत्वस्य तत्त्वादिति चेदत्राह–] 30

उपलब्धेश्च हेतुत्वादन्तर्भावात् स्वभावतः ।
तयोरनुपलम्भेषु नियमो न व्यवस्थितः ॥३४०॥

[§ ३९८. पुनरपि नियमेन (नियम) विधुरयितुं लिङ्गान्तरमुपदर्शयन्नाह–]

अभविष्यत्यसंभाव्यो धर्मो धर्मान्तरे क्वचित् ।
5 शेषवद्धेतुरन्योऽपि गमकः सुपरीक्षितः ॥३४१॥

[§ ३९९. साम्प्रतं नैयायिकादिकल्पितमपि तन्नियममतिदेशेन विधुरयन्नाह–]

एतेन पूर्ववद्वीतसंयोग्यादौ कथा गता ।
तल्लक्षणप्रपञ्चश्च निषेद्धव्योऽनया दिशा ॥३४२॥

[§ ४००. सम्प्रति हेत्वाभासं दर्शयन्नाह–]

10 अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥३४३॥

[§ ४०१. यद्यन्यथानुपपत्तिवैकल्यमेकान्ततः सत्त्वादीनाम्, क्षणभङ्गादिवत् परिणामेऽपि न तेषां हेतुत्वं स्यादिति चेन्न, एकान्ततस्तदभावादेतदेवाह–]

विरोधादन्वयाभावाद् व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ।
15 कृतकः क्षणिको न स्यान्नैकलक्षणहानितः ॥३४४॥

[§ ४०२. विरोधमेव दर्शयन्नाह–]

सत्ता सम्प्रतिबद्धैव परिणामे क्रियास्थितेः ।
निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ॥३४५॥

[§ ४०३. कः पुनरन्वय (नरय) मन्वयो नाम यतो निरन्वयो निर्व्यापारत्वमुच्यते इति
20 चेदत्राह–]

अवस्थादेशकालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः ।
या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्प्यते ॥३४६॥

[§ ४०४. उक्तमर्थं श्लोकाभ्यां सङ्गृह्णन्नाह–]

सर्वसन्तानविच्छेदः सति हेतौ फलोदयः ।
25 अन्यथा नियमाभावादानन्तर्यं विरुद्ध्यते ॥३४७॥

[§ ४०५. ततः क्षणिकादेरर्थक्रियाव्याप्तिनिर्णयात्तदात्मकं सत्त्वं कृतकत्वादयश्च तद्विशेषाः तत्साधनाय प्रयुक्ता विरुद्धा एव, परिणामस्यैव साधनादित्यावेदयति–]

सत्त्वमर्थक्रियाऽन्ये वा वस्तुधर्माः क्षणक्षये ।
हेत्वाभासा विरुद्धाख्याः परिणामप्रसाधनाः ॥३४८॥

30 [§ ४०६. सम्प्रति अनैकान्तिकास्तदाभासानाह–]

सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः ।

[§ ३७३. एकस्य स्वपरप्रतिभासिनः स्वभावद्वयस्यासंभवात्, अत आत्मानमेव प्रत्ययः प्रतिभासयतीति चेदत्राह—]

आसादितविशेषाणामणूनामतिवृत्तितः ।
एकाकारविवेकेन नैकैकप्रतिपत्तयः ॥३१६॥

[§ ३७४. भवत्वेव युगपच्चित्रमेव न तत्क्रमेण क्षणिकत्वादिति चेन्न; चित्रस्यापि क्षणक्षीण- 5 शरीरस्याऽप्रतिवेदनादेतदेवाह—]

कालापकषपर्यन्तविवर्त्तातिशया गतिः ।
अशक्तेरणुवत् सेयमनेकान्तानुरोधिनी ॥३१७॥
अंशग्रहविवेकत्वान्मन्दाः किमतिशेरते ? ।

[§ ३७५. सत्यपि तदभ्यासात् बहिस्तेश स्वाकारनिर्णये नातः (नान्तः) तत्संभवः इत्याह—] 10

निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो बहिरन्तश्च तादृशः ॥३१८॥

[§ ३७६. [महामतिस्त्व] प्रतिक्षणपरिणामादिसकलसूक्ष्मविशेषेष्वपि किन्नेति चेत् ? स्यादेव यद्यसावनावृतः स्यादेतदेव दर्शयति—]

जीवः प्रतिक्षणं भिन्नश्चेतनो यदि नावृतः ।
सकलग्रहसामर्थ्यात्तथाऽऽत्मानं प्रकाशयेत् ॥३१९॥ 15

[§ ३७७. प्रतिक्षणपरिणामे जीवस्य क्षणिकत्वमेव न नित्यत्वमिति चेन्न; तस्यापि प्रत्यभिज्ञाबलेन तत्र व्यवस्थापितत्वात् । तदपि सदृशापरापरोत्पत्तिविभ्रमादेव न तात्त्विकादेकत्वादिति चेदत्राह—]

तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञा न सदृशापरहेतुतः ।
अवस्थान्तर्विशेषोऽपि बहिरन्तश्च लक्ष्यते ॥३२०॥ 20

[§ ३७८. पुनरपि तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञानमित्यत्रोपपत्तिमाह—]

सूक्ष्मस्थूलतरा भावाः स्पष्टास्पष्टावभासिनः ।
वितथेतरविज्ञाने प्रमाणेतरतां गते ॥३२१॥

[§ ३७९. माभूत्स्वय परामर्शरूप दर्शन परामर्शस्य कारण तु भवति संस्कारप्रबोधसहायमिति चेदत्राह—] 25

यस्मिन्नसति यज्जातं कार्यकारणता तयोः ।
भेदिनां प्रत्यभिज्ञेति रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥३२२॥

[§ ३८०. तदेवं पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्व तत्र तत्र स्थाने प्रतिवाद्यभेदं (पाद्य नेद) स्वबुद्धिपरिकल्पितमपि तु परमागमसिद्धमित्युपदर्शयितुकामो भगवत्सीमन्धरस्वामितीर्थङ्करदेवसमवशरणात् गणधरदेवप्रसादादापादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय 30 पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्त्तिक तदाह—]

प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्तभावः सर्वार्थगोचरः।

[§ ४१७. भवतु वक्ता सर्वज्ञः तद्वचनस्य तु कथं यथार्थत्वं यतस्तज्ज्ञानार्थिनामन्वेषणीयः स्यात् ? स्वरसत एव शब्दानामयथार्थबुद्धिहेतुत्वेन तदुक्तानामपि वस्तुगोचरत्वानुपपत्तेरिति चेदत्राह-]

5 तत्कार्योत्कर्षपर्यन्तभावः सर्वहिताभिधा ॥३५७॥

[§ ४१८. तदेवं वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वेनाविरोधमुपपाद्य पुरुषत्वादेरप्युपपादयन्नाह-]

यथा वचनसर्वज्ञकार्यकारणभूतयोः।
अविरोधेन वाग्वृत्तेराद्रेकस्तन्निषेधने ॥३५८॥
तथैव पुरुषत्वादेरक्षयाद् बुद्धिविस्तरे।
10 सर्वप्रकाशसामर्थ्ये ज्ञानावरणसङ्क्षयात् ॥३५९॥

[§ ४१९. एतदेव स्पष्टयन्नाह-]

अक्षयात्पुरुषत्वादेः प्रतिपक्षस्य सङ्क्षयात्।
सर्वतोऽक्षमयं ज्योतिः सर्वार्थैः सम्प्रयुज्यते ॥३६०॥

[§ ४२०. यदि प्रतिपक्षपरिक्षयात् ज्योतिः, छद्मस्थानां तदभावात् कथं रूपादिवेदन15 मिति चेदत्राह-]

कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥३६१॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणात्यये ?।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥३६२॥

20 [§ ४२१. परदुःखादिकं यदि सर्वज्ञो न जानाति कथं तज्ज्ञत्वम् ? जानाति चेत् कथन्न दुःखादिमान्" इति चेदत्राह-]

परदुःखपरिज्ञानाद् दुःखितः स कथं भवेत् ?।
स्वतो हि परिणामोऽयं दुःखितस्य न योगिनः ॥३६३॥

[§ ४२२. किं पुनर्भावनापाटवात् कुतश्चिद् बुद्धिप्रकर्षो दृष्ट. यत· सकलवेदनमपि 25 ततो भवेदिति चेत् ? बाढमस्ति, इत्याह-]

भावनापाटवाद् बुद्धेः प्रकर्षोऽयं मलक्षयः।
कारणासम्भवाक्षेपविपक्षः सम्प्रतीयते ॥३६४॥

[§ ४२३. तदेवमनैकान्तिकत्वं वक्तृत्वादीनामभिधाय साम्प्रतमसिद्धमपि हेत्वाभासं दर्शयन्नाह-]

30 असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने।

[§ ४२४. बहुविधत्वं चेष्यते, तत्कथमिति चेदत्राह-]

[§ ३८९. बहुभेदत्वमेव तस्य दर्शयितुं तद्व्यापारानाह–]

अर्थमात्रावबोधेऽपि यतो नर्ते प्रवर्त्तनम् ।
स युक्तो निश्चयो मुख्यं प्रमाणं तदनक्षवत् ॥३३२॥

[§ ३९०. तद् व्यापारान्तरोपन्यासेन दर्शयति–]

लिङ्गसांवृतयोस्तुल्या गृहीतग्रहणादपि । 5
व्यवच्छेदाविसंवादव्यवहर्तृप्रवृत्तयः ॥३३३॥

[§ ३९१. अविसंवादव्यवहारयोः निश्चयेऽपि परस्य प्रसिद्धत्वात् तत्र व्यवच्छेदं दर्शयन्नाह–]

शब्दाद्ययोगविच्छेदे तत्प्रामाण्यं न किं पुनः ? ।
अनुमानं तु हेतोः स्यादविनाभावनिश्चयात् ॥३३४॥ 10

[§ ३९२. तदेवं कार्यादावन्यथानुपपन्नत्वादेव हेतुत्वमवस्थाप्य अनुपलम्भेऽपि तत एव तदवस्थापयन्नाह–]

यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाऽऽशङ्क्यसंभवः ।
हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥३३५॥

[§ ३९३. तदेवमदृश्यानुपलम्भस्य गमकत्वमन्यथानुपपत्तिबलेनोपपाद्य दृश्यानुपलम्भ- 15 स्यापि तत एव तत्, न तदन्तरेणेति दर्शयन्नाह–]

प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।
अन्तरेणेह सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते ॥३३६॥

[§ ३९४. इदानीं तत्प्रपञ्चं दर्शयति–]

प्रपञ्चोऽनुपलब्धेर्नाऽपक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः । 20
प्रमाणं सम्भवाभावाद्विचारस्याप्यपेक्षणात् ॥३३७॥

[§ ३९५. साम्प्रतमुन्नामादेस्तदुत्पत्त्याद्यभावेऽपि गमकत्वोपदर्शनेन हेतुः (तोः) त्रैविध्यमपि विध्वसयन्नाह–]

तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।
नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥३३८॥ 25
तादात्म्यं तु कथञ्चित्स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।

[§ ३९६. न केवल तुल्यकालत्वात् कथञ्चिद्वादे चानिष्टापत्तेः तुलान्तयोरेव न तादात्म्यमपि तु अप्ये (अन्ये) षामपीत्याह–]

सास्नादीनां .... चन्द्रार्वाक्परभागयोः ॥३३९॥

[§ ३९७. तदेवमुन्नामादेरकार्यस्वभावस्यापि लिङ्गत्वोपपादनेन त्रैविध्यनियमं प्रतिषिध्य 30 पात्रकेसरिस्वामिनाऽपि तन्नियमः प्रतिषिद्ध इति दर्शयंस्तद्वचनमाह–]

[§ ४३४. स्याद्वादिमतमनवबुद्ध्य तत्रेदमुच्यमान धर्मकीर्त्तेर्विदूषकत्वमावेदयति–]

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥३७२॥

[§ ४३५. एतदेव प्रसिद्धेन निदर्शनेन दर्शयन्नाह–]

सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
5 तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥३७३॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ? ॥३७४॥

[§ ४३६. सम्प्रति जात्यन्तरं दर्शयन्नाह–]

अत्रैवोभयपक्षोक्तदोषारेकानवस्थितेः ।

10 [§ ४३७. पुनरपि तदन्तरमाह–]

अनन्वयादिदोषोक्तेः प्रपञ्चो वाऽनया दिशा ॥३७५॥

[§ ४३८. ननु यथा व्याप्यसाधर्म्यादिसमा जातिर्नैयायिकेन कथ्यते तथा त्वया किन्नेति चेदत्राह–]

मिथ्योत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः ।
15 साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते ॥३७६॥

[§ ४३९. यथा जयेतरव्यवस्था तथा दर्शयन्नाह–]

प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः ।
विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥३७७॥

[§ ४४० तस्मादेकस्य प्रकृतसिद्धेरेव परस्य निग्रहो न प्रकारान्तरेण, तदेवाह–]

20 असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः ॥३७८॥

[§ ४४१. एतदेव दर्शयति–]

वादी पराजितोऽयुक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः ।
तत्र दोषं ब्रुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत् ? ॥३७९॥

25 [§ ४४२. कः पुनरसौ दृष्टान्तो यद्दोषानुद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थान सङ्कल्पयन्ति सौगताः ? इति चेदत्राह–]

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः ।
स दृष्टान्तः, तदाभासाः साध्यादिविकलादयः ॥३८०॥

[§ ४४३. कुतः पुनरेषामनुद्भावनाच्च निग्रहस्थानमिति चेदत्राह–]

30 सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् ।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः ॥३८१॥

[§ ४०७. येषां तु त्रैरूप्यादगमकत्वं तन्मत्या हेतव एवेत्याह–]

रागादिसाधनाः स्पष्टा एकलक्षणविद्विषाम् ॥३४९॥

[§ ४०८. परकीयं तत्रोत्तरं दर्शयति–]

धर्मिधर्मस्य सन्देहे व्यतिरेके ततो भवेत् ।
असिद्धिः प्रतिबन्धस्येत्यपरे प्रतिपेदिरे ॥३५०॥ 5

[§ ४०९. अत्रोत्तरमाह–]

वाचो विरुद्धकार्यस्य सिद्धिः सर्वज्ञबाधिनी ।
शिरःपाण्यादिमत्त्वाद्या विरुद्धव्याप्तिसिद्धयः ॥३५१॥

[§ ४१०. तदेव विरुद्धकार्योपलब्धिं विरुद्धव्याप्तोपलब्धिञ्च प्रतिपाद्य व्यापकविरुद्धोपलब्ध्यादिनाऽपि तद्बाधनं दर्शयन्नाह–] 10

सत्सम्प्रयोगजत्वेन विरुद्धः सकलग्रहः ।
स्वभावकारणासिद्धेरेकलक्षणविद्विषाम् ॥३५२॥

[§ ४११. एवमेते वचनादयः कार्यस्वभावानुपलम्भरूपतया त्रैविध्यमपरित्यजन्तोऽपि अन्यथानुपपत्तिवैकल्यादेव अगमकाः, तदेव दर्शयति–]

कथन्न सम्भवी वक्ता सर्वज्ञस्तस्य तेन नो । 15
यावत्प्रकृष्यते रूपं तावत्कार्यं विरुध्यते ? ॥३५३॥

[§ ४१२. स्यादेव यदि विज्ञानाद्वचनम्, न चैवं विवक्षायास्तत्कारणत्वात् । सा च रागविशेषत्वेन दोषात्मा सती विधूताशेषदोषतो निःशेषतत्त्वज्ञानान्निवर्त्तमाना वचनमपि निवर्त्तयत्येव । तत्कथन्नान्यथानुपपत्तिर्यतः तत्सुगतादावनिवर्त्तितप्रसरतया प्रवर्त्तमान विवक्षा दोषोपस्थापनेन निःशेषवेदित्वं व्यापादयेदिति चेदत्राह–] 20

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥३५४॥

[§ ४१३. अतो विज्ञानहेतुकैव तत्प्रवृत्तिरेतदेव दर्शयन्नाह–]

प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः ।
विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥३५५॥ 25

[§ ४१४. भवतु वा विवक्षा, तथापि न दोष इत्याह–]

अप्रमत्ता विवक्षेयम्, अन्यथा नियमात्ययात् ।

[§ ४१५. ततः सा प्रमादरहितैव ततो न दोषवतीत्याह–]

इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ? ॥३५६॥

[§ ४१६. कुतः पुनः कस्यचित् सकलज्ञानं यतः 'कथम्' इत्याद्युच्यते इति चेदत्राह–] 30

[§ ४५०. भवतु नाम कश्चिद्विश्वदर्शी परमवीतरागश्च सः, तत्कुतः प्रतिपत्तव्यः.... न च प्रमाणान्तरमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्तिः। अतः कथं तस्य प्रवचनानुशासित्वेन पर्येषण प्रेक्षावद्भिरिति चेदत्राह—]

तथान्यगुणदोषेषु संशयैकान्तवादिभिः।
पुरुषातिशयो ज्ञातुं यद्यशक्यः किमिष्यते ? ॥३८८॥

[§ ४५१. ततो न रागादिमति तदन्यव्यापारादिर्यतः ततः पुरुषातिशयप्रतिपत्तिरव्यभिचारिणी न भवेदेतदेवाह—]

परोक्षोऽप्यविनाभावसम्बद्धैर्गुणदोषयोः।
शास्त्रैर्निर्वर्तितैः शास्त्रकारवत्सम्प्रतीयते ॥३८९॥

[§ ४५२. सम्प्रति सर्वथैकान्तवादिनः सुगतादेः दोषवत्त्वमेव तद्व्यापारसमधिगम्यमावेदयन्नाह—]

सिद्धं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मचर्यप्रवृत्तितः।
स प्रत्यस्तमिताऽशेषदोषो नेति प्रतीयते ॥३९०॥

[§ ४५३. भवतु नाम सुगतस्तथाविधः तथापि किमित्याह—]

हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य किलेदृशः।
प्रवक्तेति धिगनात्मज्ञं तदसाध्यमसाधनम् ! ॥३९१॥

[§ ४५४. पुनरप्यत्रैवोपचयमाह—]

सर्वथा सदुपादेयं हेयं सत्तदकारणम्।
तदर्थोऽयं प्रयासश्चेत्यहो सत्यव्यवस्थितिः ! ॥३९२॥

[§ ४५५. इदमेव श्लोकैः विवरीतुमाह—]

करुणा स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारणम्।
इति नः करुणेष्टमत्यन्तं परदुःखं न गोचरः ॥३९३॥

[§ ४५६. इति तद्धेतुना नैव कृपा, या युक्तिमृच्छति, तदेवाह—]

नत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतुरुन्मार्ग एव सः।

[§ ४५७. केवल चित्तसन्तानस्य अपरिशुद्धस्य सतः सामग्रीविशेषतः परो भागो विशुद्ध उत्पद्यत इति तत्राह—]

मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाकतः ॥३९४॥
तत्त्वज्ञानमुदेतीति कुतस्तत्त्वविनिश्चयः ? ।

[§ ४५८. तत्रानादिसंस्कारसंभवः तदपरिज्ञानादेस्त '(नादेतदे) वाह—]

अनादिवासना न स्यात् त्रैलोक्यमविकल्पकम् ॥३९५॥

अन्यथाऽसंभवाभावभेदात्स बहुधा स्मृतः ॥३६५॥

[§ ४२५. कैः कृत्वा स बहुधा इत्याह-]

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः ।

[§ ४२६. भवतु तर्हि सान्वयनिरन्वयविशेषविवक्षारहितं तदुभयसाधारणं विनाशमात्रं धर्मी सिद्धत्वादिति चेन्न, विशेषद्वयस्यासंभवात् । नहि निरन्वयोऽपि विनाशः क्वचिदवगतिपथ- 5 प्रस्थायी सान्वयस्यैव प्रतीतेः तत्कथं तयोः किञ्चित् सामान्यं नाम यस्य हेतुम्प्रति आश्रयत्वमुप- कल्प्येत ? तदेवाह-]

सर्वथा नास्ति सामान्यं परिणामविनाशयोः ॥३६६॥
यो हेतोराश्रयः, अनिष्टेः, इष्टः स्वात्मा विशेषतः ।

[§ ४२७. तत्र कल्पनासिद्धस्य सिद्धत्वमित्यसिद्ध एव सत्त्वादिः, एतदेवाह-] 10

साध्यसाधनभावो न शब्दनाशित्वसत्त्वयोः ॥३६७॥

[§ ४२८. अत्रैव प्रतिवस्तूपमया दृष्टान्तमाचष्टे-]

अनलः पावकोऽग्नित्वादित्यनेकान्तविद्विषाम् ।

[§ ४२९. भवतु कल्पितस्तत्रानेकान्तः इति चेन्न; अनवस्थादोषस्योद्घोषितत्वात् । भवतः कथं तयोस्तद्भाव इति चेदाह-] 15

सर्वान्यसदृशः शब्दः सत्त्वादिपरिणामतः ॥३६८॥
सर्वार्थान्यासमः शब्दः शब्दादिपरिणामतः ।

[§ ४३०. शब्दस्य परिणामि (णाम) त्वे परिणामिना भवितव्यम् तस्य तद्धर्मत्वात् । न चासौ कश्चिदप्यस्तीति चेन्न; पुद्गलपरमाणूनां भावात् । एतदेवाह-]

अणूनां श्रुतयोग्यत्वातिशयादानहानयः ॥३६९॥ 20
शब्दोत्पत्तिविनाशास्तत्साध्यसाधनसंस्थितिः ।

[§ ४३१. सम्प्रति चिरन्तनाचार्यानुस्मरणेन पुण्यातिशयावाप्तिमनुसन्दधानः श्रीमत्पात्रकेसरिवचनेन हेत्वाभासानामुपसंहारं दर्शयन्नाह-]

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः ॥३७०॥
अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं सङ्गिरामहे । 25

[§ ४३२. सम्प्रति दूषणाभासं दर्शयन्नाह-]

तत्र मिथ्योत्तरं जातिः,

[§ ४३३. कीदृशं तदित्याह-]

यथाऽनेकान्तविद्विषाम् ॥३७१॥
दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् । 30

तज्ज्ञानपूर्वकं तक्र्यमनुमानसमीक्षितम् ।
मानं वस्तुबलादेव सर्ववस्तुनिबन्धनम् ॥४०४॥

[§ ४६८. यद्यपौरुषेयस्यापि पुरुषगुणबलादेव अर्थतत्त्वनिश्चयः, प्रवचनस्य पौरुषेयत्वमेव किन्न भवतीति मन्वान आह–]

5 **आगमः पौरुषेयः स्यात्प्रमाणमतिलौकिकम् ।**
संवादासंभवाभावात् समयाविप्रलम्भनः ॥४०५॥

[§ ४६९. किञ्चायमनुपलम्भो वादिनः स्वस्य वा भवेत् सर्वस्य वा गत्यन्तराभावात् । तत्रोभयत्रापि दोषमावेदयन्नाह–]

सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्व-सर्वानुपलम्भयोः ।
10 **आरेकासिद्धते तस्याप्यर्वाग्दर्शनतोऽगतेः ॥४०६॥**

[§ ४७०. ततो युक्तमक्षानपेक्षं केवलिनः प्रत्यक्षम् तत्र वैशद्यस्य तल्लक्षणस्य पुष्कलत्वात्, तस्य चावरणविवेकनिबन्धनत्वेन अक्षव्यापारपराधीनत्वाभावादेतदेवाह–]

विज्ञानमञ्जसा स्पष्टं विप्रकृष्टे विरुद्ध्यते ।
न, स्वप्नेक्षणिकादेर्वा ज्ञानावृत्तिविवेकतः ॥४०७॥

15 [§ ४७१. साम्प्रतं प्रतिपादितार्थसङ्ग्रहार्थं श्लोकानाचक्षाणः प्रथमम् आत्मनो ज्ञानात्मकत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्वपर्यनुयोगम् आवरणविवेकवैचित्र्येण परिहरन्नाह–]

ततः संसारिणः सर्वे कथञ्चिच्चेतनात्मकाः ।
तत्तत्स्वभावतो ज्ञानं सर्वत्र शबलायते ॥४०८॥

[§ ४७२. अनादिमूर्त्तकर्मसम्बन्धात्तत्प्रदेशानुप्रवेशरूपात् कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्यापि भावा-
20 त्तदेवाह–]

अभिन्नो भिन्नजातीयैर्जीवः स्याच्चेतनः स्वयम् ।

[§ ४७३. स तर्हि कस्मात् सर्वतो न प्रकाशते सर्वविषयतयेति चेदत्राह–]

मलैरिव मणिर्विद्धः कर्मभिर्न प्रकाशते ॥४०९॥

[§ ४७४. यदा तु तदावरणमलाना "निःशेषवृत्त्या जीवतो विश्लेषः तदा प्रकाशत
25 एवासौ समन्ततः सर्वार्थसाक्षात्करणरूपतया च "‧तदेवाह–]

सर्वार्थग्रहसामर्थ्यात् चैतन्यप्रतिबन्धिनाम् ।
कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वानर्थान्न पश्यति ? ॥४१०॥

[§ ४७५. निरवशेषनिर्धूतबोधावरणमलस्यापि केवलिनः पुनः कुतश्चिदभिसम्बन्धसंभवादनर्थोपनिबन्धः किन्न भवतीति चेदत्राह–]

30 **प्रभुः साक्षात्कृताशेषप्रपञ्चभुवनत्रयः ।**
असमर्थः परमात्मानमत एव न योजयेत् ॥४११॥

[§ ४४४. कः पुनरयं वादो नाम यत्रेदं निग्रहस्थानमित्यत्राह–]

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये ।
वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥३८२॥

[§ ४४५. ततो लाभाद्यभाव एव निग्रहो वक्तव्यः इति चेदत्राह–]

आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः ।
न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्त्तनम् ॥३८३॥ 5

[§ ४४६. सम्प्रति वादाभासं दर्शयति–]

तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः ।
तदात्मोत्कर्षणायैव वाचो वृत्तिरनेकधा ॥३८४॥

[§ ४४७. साम्प्रत प्रत्यक्षादिज्ञानाना सङ्ख्यादिकथननिरूपणे प्रयोजनमुपदर्शयितुकाम. 10
परेण प्रश्नङ्कारयति–]

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादनात्,
सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेतसाम् ? ।
आ ज्ञानं सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः,
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छित्तये ॥३८५॥ 15

[§ ४४८. कुत. पुनर्न्यायदर्शनादि निःश्रेयसनिबन्धनतया प्रसिद्धमपि शास्त्रान्तरं परि-
त्यज्य पुरुषार्थसिद्धये भगवदा [ज्ञा] य एव भवतामभिरतिरिति चेदत्राह–]

शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्वं विसंवादकम्,
मिथ्यैकान्तकलङ्कितं बहुमुखैरुद्वीक्ष्य तर्कागमैः ।
दाहार्तैः परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः साम्प्रतम्, 20
विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते ॥३८६॥

इति न्यायविनिश्चये द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ॥

३. तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ।

[§ ४४९. तदेव प्रस्तुतप्रस्तावाभ्या प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्य निश्चित्य साम्प्रत वचनस्य
तन्निश्चय(यं)प्रतीतप्रस्तावान्त्यवृत्तेन सूचित दर्शयितुमाह–] 25

सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम् ।
सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥३८७॥

तदर्थदर्शिनोऽभावान्म्लेच्छादिव्यवहारवत् ।

[§ ४८५. सत्यपि तदर्थाभिमुखे अनादिसम्प्रदायत्वे वेदागमस्य भवितव्यं तदर्थदर्शिना पुरुषेणेति प्रतिपादयिषुः पूर्वपक्षयति–]

अनादिसम्प्रदायश्चेदायुर्वेदादिरागमः ॥४१८॥

5 [§ ४८६. अत्रोत्तरमाह–]

कालेनैतावताऽनाप्तः कथन्न प्रलयं गतः ? ।

[§ ४८७. ततो यत्सिद्धं तदाह–]

सिद्धं श्रुतेन्द्रियातीतं त्रिकालविषयं स्फुटम् ॥४१९॥

[§ ४८८. तर्हि तथाविधस्य तज्ज्ञानस्य संगता (सुगता) दिष्वेव भावात् त एव 10 तद्वेदादेः प्रवर्तकाः (काः स्युः) इति चेदत्राह–]

तथा न क्षणिकादीनां सर्वथासगुणात्ययात् ।

[§ ४८९. उपसंहरन्नाह–]

तद्विरम्य विरम्यैतद् युक्तं शास्त्रप्रवर्त्तनम् ॥४२०॥

[§ ४९०. तदेवं तस्य शास्त्रं प्रत्युपयोगमभिधाय तत्र प्रवृत्तेरर्थवत्त्व प्रत्यभिधित्सुराह–]

15 **तादृशोऽभावविज्ञाने शास्त्रे वृत्तिरनर्थिका ।**

[§ ४९१. तत्र बाधकवत् साधकस्याप्यसंभवेन संशयस्यैवोपपत्तेरिति चेदत्राह–]

सन्देहेऽपि च सन्देहः ततस्तत्त्वं निरूप्यते ॥४२१॥

[§ ४९२. तदेवं वेदान्वयवत्वेन आयुर्वेदादेः नित्यत्वे दोषमभिधाय साम्प्रतं शब्दमात्रस्य नित्यत्वे तं दर्शयन्नाह–]

20 **स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत् ।**
व्यक्त्यावरणविच्छेदसंस्कारादिविरोधतः ॥४२२॥
वंशादिस्वरधारायां सङ्कुलं प्रतिपत्तितः ।
क्रमेणाशुग्रहेऽयुक्तः सकृद्ग्रहणविभ्रमः ॥४२३॥
ताल्वादिसन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते ।
25 **को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते ? ॥४२४॥**

[§ ४९३. भवतोऽपि तदुपादानस्य प्राग्भाविनः कुतो नोपलब्धिरिति चेदत्राह–]

उपादानस्य सूक्ष्मत्वाद्युक्तश्चानुपलम्भनम् ।

[§ ४९४. प्रत्यभिज्ञानात्तत्र नित्यत्वमेवोपपन्नं न भेदः, तत्प्रतिपत्तेस्तेनैव प्रतिक्षेपादिति चेदत्राह–]

30 **सादृश्यात्, नैकरूपत्वात् स एवायमिति स्थितिः ॥४२५॥**

[§ ४५९. ततः प्रत्यक्षत्वादात्मदर्शनस्य न तद्विपरीतैरनुमानविकल्पैरुपपन्ना बोद्धा (बाधा) परिकल्पना । तदाह–]

निरुपद्रवभूतस्य बाधाऽयुक्ता विपर्ययैः ।

[§ ४६०. भवतु तर्हि सविदद्वैतमेव अविशेषवत्, यदद्वैते न तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथेत्यभिधानादिति चेदत्राह–]　　5

विच्छेदो वरमुच्छेदात् विदस्तत्पक्षपाततः ॥३९६॥

[§ ४६१. तदवस्थितिश्च करुणयेति चेत्तदाह–]

यत्तावत्करुणावत्त्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ।

सन्तानः,　　10

[§ ४६२. अत्र दूषणमाह–]

स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ॥३९७॥

[§ ४६३. ससारदुःखसम्बन्धः सन्तानस्याऽसतः कथम् ? मोक्षोऽपि तदसम्बन्धः सन्तानस्यासत. कथम् ? ततः कथञ्चिदसत एवासौ तथा चेदाह–]

तथा निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ।

सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु भिद्यते ॥३९८॥　　15

[§ ४६४. साम्प्रत साख्यादिमते वेदस्य तत्प्रचिख्यासुराह–]

नित्यस्यापि सतः साक्षादद्दश्यानुभवात्मनः ।

सुखादिर्विषयः शब्दादविशेषधियाऽन्यया ॥३९९॥

प्रदर्श्यः;

[§ ४६५. साहसान्तरं पुनरित्यादिना निवेदयति–]　　20

पुनरस्यैव गुणयोगनिवृत्तितः ।

निर्वाणमाह वेदोऽयं प्रमाणमिति साहसम् ! ॥४००॥

[§ ४६६. समानस्यापि कर्त्तुः क्वचिद्विप्रलम्भसभवे चक्षुरादावप्यनाश्वासापत्तेरेतदेवाह–]

विश्वलोकाधिकज्ञाने विप्रलम्भनशङ्किनः ।

प्रामाण्यं कथमक्षादौ चञ्चले प्रमिमीमहे ? ॥४०१॥　　25

[§ ४६७. तदेव त्रिभिरन्तरश्लोकैर्व्याचिख्यासुराह–]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ।

अदृष्टदोषशङ्कायाममानं सकलं भवेत् ॥४०२॥

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ।

दर्शनादर्शनाभ्यासात् क्वचिद् वृत्तसमत्वतः ॥४०३॥　　30

क्रमेणोच्चार्यमाणेषु ध्वनिभागेषु केषुचित् ।
न वर्णपदवाक्याख्या विकारेष्वेव संभवात् ॥४३३॥

[§ ५०४. स्वमते तु तत्संभव दर्शयन्नाह–]

शब्दभागाः स्वहेतुभ्यः समानोन्नयहेतवः ।
5 सकलाग्रहणात्तेषां युक्ता हि श्रोत्रगोचराः ॥४३४॥

[§ ५०५. तथाच पुद्गलपर्यायः शब्दः शरीरावयवसम्बन्धेनोपलभ्यमानत्वात् शीतातपादिवत् ···एतदेव दर्शयन्नाह–]

परिणामविशेषा हि भावानां भावशक्तयः ।
ध्वनयस्तत्समर्थानामभावादतिरेकिणाम् ॥४३५॥

10 [§ ५०६. साम्प्रत प्रकरणार्थमुपसंहृत्य दर्शयन्नादितः शब्दानामपौरुषेयत्वे दोषमावेदयति–]

वाचामपौरुषेयीणामाविर्भावो न युज्यते ।

[§ ५०७. पौरुषेयस्यापि वाचकत्वमभि (त्वमनभि) मतस्यापि किन्न स्यादिति चेदत्राह–]

सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थाभिधायकः ॥४३६॥
15 अत्रापौरुषेयत्वं जातु सिद्धमनर्थकम् ।

[§ ५०८. किं पुनस्तत्सत्यम् यदभिधायित्वेन शब्दः सत्य उच्यते इत्यत्राह–]

सर्वार्थानामनेकात्मपरिणामौ व्यवस्थितौ ॥४३७॥
मार्गस्तद्विषयश्चेति मतं सत्यं चतुर्विधम् ।

[§ ५०९. जीवादीनाञ्च मार्गविषयत्वप्रतिपादनमपरिज्ञाततद्रूपस्य प्रेक्षावतो मोक्षार्थायाः 20 प्रवृत्तेरनुपपत्तेः अत एवाह–]

अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥४३८॥
कर्मणामिति सत्कृत्य प्रेक्षाकारी समीक्षते ।
तत्त्वज्ञानप्रभावेण तपः संवरणं नृणाम् ॥४३९॥
तपसश्च प्रभावेण निर्जीर्णं कर्म जायते ।
25 रागद्वेषौ विहायैव गुणदोषवतोस्तयोः ॥४४०॥
मोक्षज्ञानात् प्रवर्त्तन्ते मुनयः समबुद्धयः ।
सज्ज्ञानपरिणामात्मतत्त्वसम्प्रतिपत्तितः ॥४४१॥
पीतदोषास्रवाकारो विपरीतग्रहक्षयः ।

[§ ५१०. कर्मपुद्गलश्लेषोऽपि जीवस्य अपरमोहादिपूर्वकः तत्त्वात् धत्तूरादिरसोपश्लेषवत् 30 इति सिद्ध आश्रवो बन्धश्च, तदुपश्लेषस्य बन्धत्वात्, तद्धेतोश्च मोहादेराश्रवत्वात् । एतदेवाह–]

[§ ४७६. कुतः पुनः प्रभोर्निरवशेषप्रपञ्चभुवनत्रयसाक्षात्करणमिति चेदत्राह—]

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत्,

[§ ४७७. नन्वेवम् आगमस्य तत्पूर्वकत्वं न भवेत् ततोऽपि पूर्वं तस्य भावादिति चेदत्राह—]　5

न च तेन विनाऽऽगमः ॥४१२॥

[§ ४७८. नचैवमन्योन्यसंश्रयः; हेतुहेतुमद्भावेन परमागमकेवलज्ञानसन्तानस्य बीजाङ्कुरवदनादित्वात् । एतदेव दर्शयन्नाह—]

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥४१३॥　10

[§ ४७९. ग्रहगत्यादयो हि देशकालजातीयविकल्पेन प्राणिनां श्रेयःप्रत्यवायोपनिपातपिशुनतया प्रतीयमाना निःशेषानपि देशकालविशेषान् तन्निवासिनः त्रसस्थावराद्यनेकविकल्पान् प्राणिनः तदधिकरणानदृष्टविशेषानपि तद्धेतुफलविकल्पेन प्रत्याययन्ति, अन्यथा तत्पिशुनतया तत्प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । तत्कथमशेषविषयमेव ततस्तज्ञ साधित भवेदेतदेवाह—]

ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः ।　15
येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत् ? ॥४१४॥

[§ ४८०. साम्प्रतं परस्य निर्बन्धाल्लिङ्गबलोपनिबन्धनत्वे सत्यपि तस्य सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्करणमवश्यम्भावीति दर्शयन्नाह—]

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥४१५॥　20

[§ ४८१. भवत्येव तत्प्रसङ्गसाधन यदि ग्रहगत्यादिक्रममनुमानत. प्रतिपद्य कश्चिदुपदिशेत्, न चैवम्, तच्छास्त्रस्य वेदाङ्गत्वेनापौरुषेयस्य उपदेष्टुरभावात्, एतदेवाह—]

वेदस्यापौरुषेयस्य स्वतस्तत्त्वं विवृण्वतः ।
आयुर्वेदादि यद्यङ्गम्;

[§ ४८२. अत्रोत्तरमाह—]　25

यत्नस्तत्र निरर्थकः ॥४१६॥

[§ ४८३. स च पुरुष तदर्थसाक्षात्कार्येव नापरः ···तदेव दर्शयन्नाह—]

शास्त्रज्ञानं तथैव स्यात् सामग्रीगुणदोषतः ।

[§ ४८४. प्रयत्नसापेक्षत्वेन तत्र नित्यत्वविरोधस्याभिधानात् । तदविरोधेऽपि दूषणमाह—]

अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा ॥४१७॥　30

[§ ५२०. तत्र [प्रवचनं] स्वविषये सप्तभङ्ग्या प्रवर्तते इति, तद्विनिश्चयं कुर्वन्नाह—]

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः ॥४५१॥
स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्त्तते ।

[§ ५२१. तत्र प्रथमद्वितीयौ तद्भावाभावयोः प्रत्येकं प्रतिपित्सायाम्, तृतीयस्तु तदुभय-
5 जिज्ञासायाम् । तत्रैवाह—]

तदतद्वस्तुभेदेन वाचोवृत्तेस्तथोभयम् ॥४५२॥

[§ ५२२. चतुर्थस्तु युगपत्तत्प्रतिपित्सायां वचनप्रवृत्तेरसंभवादाह—]

तदतद्वागवृत्तेश्च,

[§ ५२३. पञ्चमादिभङ्गत्रयं तु प्रथमादेः प्रत्येकं जिज्ञासया चतुर्थेन सम्मीलनात्तदेव
10 निवेदयति—]

सह तद्वागवृत्तिना ।

[§ ५२४. तर्हि किमर्थोऽयं स्यादेवकारप्रयोगः विनापि तेन भङ्गविकल्पानामुपपत्तेरिति
चेदुच्यते—]

प्रयोगविरहे जातु पदस्यार्थः प्रतीयते ॥४५३॥
15　**स हि शब्दार्थतत्त्वज्ञैस्तस्येति व्यपदिश्यते ।**

[§ ५२५. किं स्यात्कारादेः प्रतीतार्थस्य प्रयोगेण इति चेन्नायमुपालम्भो लोक (के)
प्रतीतार्थानामपि प्रयोगप्रतीतेरिदमेवाह—]

अहमस्मीति वाक्यादौ सिद्धावन्यतरस्थितेः ॥४५४॥
उभयोक्तिवदन्योक्तौ उपालम्भो विरुद्ध्यते ।

20　[§ ५२६. प्रकारान्तरेणापि स विरुद्ध्यते इति दर्शयति—]

यदि केचित् प्रवक्तारो वृत्तिवाक्यार्थयोरपि ॥४५५॥
सूत्रेष्वेव तयोरुक्तौ त्रैलोक्यं किन्न वर्त्तते ? ।

[§ ५२७. तर्हि स्यात्कारादिप्रयोगोऽपि सफल एव तद्विषये मन्दमतीनां भावादेतदेवाह—]

केवलं प्रतिपत्तारः स्याद्वादे जडवृत्तयः ॥४५६॥

25　[§ ५२८. परत्रापि जडवृत्तय इति दर्शयति—]

जातितद्वदपोहादिवादश्च न हि जानते ।

[§ ५२९. के तर्हि स्याद्वादमनुरुन्धन्ते यदि सौगतादयो जडवृत्तय इति चेदत्राह—]

सर्वथैकान्तविश्लेषतत्त्वमार्गव्यवस्थिताः ॥४५७॥
व्याख्यातारो विवक्षातः स्याद्वादमनुरुन्धते ।

[§ ४९५. यदि चाय निर्बन्धः तथाभूतयाऽपि प्रत्यभिज्ञया प्रतिक्षेपान्नित्यः शब्द एवेति। तत्राह–]

यदि चैवंविधो नित्यो नित्यास्ते विद्युदादयः।
प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद्भिन्नदेशयोः ॥४२६॥

[§ ४९६. भवतु ततस्तत्राप्यभेदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह–] 5

सर्वार्थानामनादित्वे स विशेषो निराश्रयः।
योऽन्यथासम्भवी शब्दघटाद्याख्योऽवभासते ॥४२७॥

[§ ४९७. तदुच्चारणस्य पारार्थ्यान्यथानुपपत्त्या नित्य एव शब्दः इति चेदुत्तरमाह–]

स वर्णपदवाक्यानां कालदेशादिभेदिनाम्।
सदृशानां प्रबन्धोऽयं सर्वेषां न विरुध्यते ॥४२८॥ 10

[§ ४९८. कथ पुनरसति नित्यत्वे शब्दस्य प्रामाण्यमिति चेत्; क एवमाह–तस्य प्रामाण्यमिति, सम्यग्ज्ञानस्यैव तत्त्वात्। शब्दस्य तु तस्य तत्कारणत्वेन उपचारात्। न च तद्धेतुत्वमपि नित्यत्वात्, अपि तु तदर्थवेदिपुरुषपूर्वकत्वात्, एतदेव दर्शयन्नाह–]

वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यं वस्तुसिद्धये।
स्वतः सामर्थ्यविश्लेषात् सङ्केतं हि प्रतीक्षते ॥४२९॥ 15

[§ ४९९. तदेवमनेकधा समयप्रतिपत्तिसम्भवेनोपपन्न तत्प्रतीक्ष्यैवार्थि(वार्थ)प्रत्यायकत्व वचनस्य। तदनेकत्वमेव दर्शयन्नाह–]

स पुनर्बहुधा लोकव्यवहारस्य दर्शनात्।
शब्दार्थयोर्विकल्पेन सन्निवेशोऽनुवर्त्तते ॥४३०॥

[§ ५००. यदि पुनः शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्व को दोषो येन सङ्केतस्तत्रा- 20 पेक्ष्यते ? इति चेदुच्यते–तत्सर्वविषय नियतविषय वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थप्रतीति- प्रसङ्गात्, तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोपः। तत आह–]

न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केतान्नियमो यदि।

[§ ५०१. द्वितीयविकल्पे दोषमाह–]

सम्बन्धनियमेऽन्यत्र समयेऽपि न वर्त्तताम् ॥४३१॥ 25

[§ ५०२. कस्तर्हि तयो. सम्बन्ध· ? इत्याह–]

न हि शब्दार्थसम्बन्धो यतोऽर्थः सम्प्रतीयते।
तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्त्तते ॥४३२॥

[§ ५०३. तत्र सौगतमते शब्दस्य संभवो वर्णस्यैव अनवस्थितो (तेः) तत्क्रमात्मनः पदादेरप्यव्यवस्थितेः। एतदेवाह–]

30

[§ ५३८. भगवतोऽज्ञानपेक्षदर्शनत्वात्तदाह-]

अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ।

[§ ५३९. सर्वार्थावलोकनमेव दर्शयन्नाह-]

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम् ॥४६६॥

5 **ज्योतिर्ज्ञानादिवत्सर्वं स्वत एव प्रणेतृभिः ।**

[§ ५४०. तद्वत् अन्यदपि सर्वं तत्तैर्दृष्टमेव अन्यथा तद्विषयानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिशास्त्रप्रणयनानुपपत्तेः । अनुपदेशादयः प्रणयनविशेषणत्वेन संहता एक (एव क) स्माद्धेतवो न प्रत्येकमपीति चेदत्राह-]

सङ्घातो हेतुरेतेषां पृथगन्यत्र सम्भवात् ॥४६७॥

10 [§ ५४१. ततो न सुगतादीना प्रणेतृत्वं तदभावात् । तत्र च दोषमाह-]

एवं हि सुगतादिभ्यो वरमीक्षणिकादयः ।

[§ ५४२. अर्हतामपि किं तत्त्वदर्शित्वकल्पनया शास्त्रादेव अनुष्ठेयार्थप्रतिपत्तेः, तस्य च संवादादेव प्रामाण्यावगमात् इति चेदत्राह-]

शास्त्रं तल्लक्षणव्याप्तं सर्वज्ञादेरबाधनात् ॥४६८॥

15 **अपौरुषेयवृत्तान्तोऽप्यत एव विरुद्ध्यते ।**

[§ ५४३. सम्प्रति शास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह-]

प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम् ॥४६९॥

प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ।

[§ ५४४. साम्प्रतं परोक्षविकल्पाना प्रागुपवर्णितमपि प्रामाण्यमनुस्मरणार्थं पुनरुपदर्शयिषुः प्रथमं तदाद्यत्वात् स्मरणज्ञानस्योपदर्शयति-]

20

इदमेवमिति ज्ञानं गृहीतग्रहणेऽपि नः ॥४७०॥

[§ ५४५. साम्प्रतं तर्कस्य प्रामाण्यं दर्शयितुमाह-]

प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये ।

अनुमानमतो हेतुव्यवच्छेदेऽनवस्थितिः ॥४७१॥

25 [§ ५४६. साम्प्रतमुपमानस्य प्रत्यभिज्ञाविशेषत्वेन प्रमाणान्तरत्वमुपाचिकीर्षुः तदेव तावत्परि (तावत्पर) कल्पनामादर्शयति-]

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

[§ ५४७. तान् प्रति अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह-]

रागादयः सजातीयपरिणामाभिवृद्धयः ॥४४२॥
सूचयन्ति हि कर्माणि स्वहेतुप्रकृतीनि च ।

[§ ५११. साम्प्रतं 'तत्त्वज्ञान' इत्यादिना उक्तमपि कर्मनिर्जरणं विनेयजिघृक्षया स्पष्टममिधित्सुराह-]

सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षये ॥४४३॥　　5
कर्माश्लेषः, प्रवृत्तानां निवृत्तिः फलदायिनाम् ।

[§ ५१२. कुतः पुनः विपक्षस्य सात्मीभावः ? इत्याह-]

प्रतिपक्षस्थिरीभावः प्रायः संस्कारपाटवात् ॥४४४॥

[§ ५१३. के पुनस्ते दोषाः येषां तद्भावनाविपक्षभावेनोपेक्षिष्यते इति चेदत्राह-]

निर्ह्रासातिशयौ येषां तत्प्रकर्षापकर्षयोः ।　　10

[§ ५१४. तन्न तस्य [नैरात्म्यस्य] भावना, तत्संभवेऽपि न किञ्चित्फलमित्यावेदयति-]

यद्यप्यनात्मविज्ञानभावनासंभवस्ततः ॥४४५॥
न निरोधो निरोधे वा न प्रयोजनमीक्ष्यते ।

[§ ५१५. तन्न सौगतकल्पितो मोक्षः, तदभावान्न तन्मार्गत्वम् । अनात्मविज्ञानाभियोगस्य नैरात्म्यज्ञानस्य मिथ्यात्वाच्च न तदभ्यासस्य मार्गत्वमित्यादर्शयति-]　　15

हेयोपादेयतत्त्वार्थविपरीतव्यवस्थितेः ॥४४६॥
मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञं मैत्र्यादिप्रतिरोधतः ।

[§ ५१६. साम्प्रतं स्वमते प्रमोदादेर्विषयभावादिना विधानमुपपन्नमिति दर्शयन्नाह-]

तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्रेषु महीयसाम् ॥४४७॥
आत्मीयेषु प्रमोदादिरत एव विधीयते ।　　20

[§ ५१७. न चैवमवस्थितस्यापि सुगतस्य कश्चिन्मैत्र्यादिकं संभवतीत्याह-]

यस्तावत्करुणावत्त्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ॥४४८॥
सन्तानः स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ।

[§ ५१८. तन्न उच्छेदात्मा मोक्षः संभवति । कस्तर्हि कर्त्तव्य इत्याह-]

तस्मान्निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ॥४४९॥　　25
सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु भिद्यते ।

[§ ५१९. एकान्तनित्यत्वेन (त्वे) विनश्वरैकान्तवन्निर्वाणस्यैवाभावप्रसङ्गादेतदेवाह-]

नित्यस्येच्छा प्रधानादियोगोऽनित्यः किमात्मनः ॥४५०॥
मिथ्याज्ञानादनिर्मोक्षः तथाऽनेकान्तविद्विषाम् ।

नैकान्तक्षायिकाणामतिशयमवदन्नैव नानार्थसाध्यम्,
नैष्किञ्चन्यं तपो वाऽविगलितसकलक्लेशराशेर्विनाशे ।
निष्पर्यायं प्रवृत्तं सकलविषयगं केवलं वेद नित्यम्,
योऽयं तस्मै नमामः त्रिभुवनगुरवे शम्भवे शान्तये ते ॥४७९॥

5 [§ ५५७. पुनरपि शासनस्याराध्यत्वं फलवत्त्वेन दर्शयन्नाह–]

युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधियामत्यादराराधिनाम्,
संसेव्यं परमार्थवेदसकलध्यानास्पदं शाश्वतम् ।
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञागुणोद्भूतये,
आभव्यादकलङ्कमङ्गलफलं जैनेश्वरं शासनम् ॥४८०॥

10 इति न्यायविनिश्चये तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ॥

[समाप्तश्चायं ग्रन्थः]

[§ ५३०. प्रमाणप्रसिद्धत्वादेव अनेकान्ते संशयादिदोषप्रसङ्गोऽपि प्रेक्षावतां नावतरतीत्याह–]

अनेकलक्षणार्थस्य प्रसिद्धस्याभिधानतः ॥४५८॥
संशयादिप्रसङ्गः किं स्याद्वादेऽमूढचेतसः ? ।
साकल्येनेह सामान्यविशेषपरिणामधीः ॥४५९॥ 5
मिथ्यैकान्तप्रवादेभ्यो विदुषो विनिवर्त्तयेत् ।

[§ ५३१. कथं पुनः शासनत्वाविशेषेऽपि शासनान्तरपरिहारेण भगवदर्हच्छासनस्यैव प्रामाण्यमित्यारेकाया तथा तद्दर्शयन्नाह–]

आप्तवादः स एवायं यत्रार्थाः समवायिनः ॥४६०॥
प्रमाणमविसंवादात्, 10

[§ ५३२. कथं पुनः दृष्टागमविरोधविकलतया प्रमाणमप्यनेकान्तवादः····सकलवेदिन एवेति निश्चयः ? कथ वा यथोक्तगुणोपपन्नोऽपि क्वचिन्मिथ्यावचनानामप्रणेता इत्येव निर्णयः ? वीतरागाणामपि सरागवच्चेष्टासंभवादेतदेव दर्शयति–]

प्रणेता यदि शङ्क्यते ।

[§ ५३३. प्रथमशङ्कायामुत्तरमाह–] 15

आत्मा योऽस्य प्रवक्ताऽयमपरालीढसत्पथः ॥४६१॥
नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्त्तते ।

[§ ५३४. द्वितीयशङ्कायामप्याह–]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥४६२॥
अदृष्टदोषाशङ्कायामन्यत्रापि प्रसज्यते । 20

[§ ५३५. ततः स्वसंवेदनं प्रमाणयता प्रवचनमपि प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम् अविशेषात् । एतदेवाह–]

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ॥४६३॥
उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां क्वचिद् वृत्तसमत्वतः ।

[§ ५३६. तदेवं प्रवचनस्य प्रामाण्ये यत्सिद्धं तद्दर्शयन्नाह–] 25

तथा साक्षात्कृताशेषशास्त्रार्थोऽक्षानपेक्षणात् ॥४६४॥
समुद्भूतकेवलज्ञानः सर्वज्ञः सम्प्रतीयते ।

[§ ५३७. सकलावरणपरिक्षयाविर्भूतमपि कथ तदशेषविषयमिति चेदत्राह–]

ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ? ॥४६५॥

यदि किञ्चिद्विशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ॥४७२॥
प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते ।

[§ ५४८. तर्हि स्मरणादिकं किन्नाम प्रमाणमिति चेदाह–]

सर्वमेतच्छ्रुतज्ञानमनुमानं तथाऽऽगमः ॥४७३॥

[§ ५४९. कथं पुनरागमः प्रमाणमिति चेदाह–] 5

सम्प्रदायाविघातेन यदि तत्त्वं प्रतीयते ।

[§ ५५०. किं पुनः प्रत्यक्षं किं वा परोक्षमित्यत्राह–]

आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराञ्जसम् ॥४७४॥

[§ ५५१. कथं तर्हि मतिज्ञानस्यैव (वं) अवग्रहादिभेदस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम् आत्ममात्रापेक्षत्वाभावादिति चेदत्राह–] 10

केवलं लोकबुद्ध्यैव मतेर्लक्षणसङ्ग्रहः ।

[§ ५५२. कथमागमस्य परोक्षत्वमुक्तम्–'अनुमानं तथागमः' इति; तस्य अज्ञानत्वात्, ज्ञानस्यैव चागमे परोक्षत्वकथनादिति चेदत्राह–]

स्याद्वादः श्रवणज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरादिवत् ॥४७५॥

[§ ५५३. तत्किमिदानीं प्रमाणफलमित्याह–] 15

प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधीः ।
निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥४७६॥
प्रत्यक्षं श्रुतविज्ञानहेतुरेव प्रसज्यते ।

[§ ५५४. प्रमाणवन्नयानामपि अधिगमहेतुत्वं····तेऽपि विप्रतिपत्तिनिरासेन निर्णेतव्यम् (व्याः) इति चेदत्राह–] 20

इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ॥४७७॥

[§ ५५५. तदेवं व्यवस्थापितप्रामाण्यस्य प्रवचनस्य शास्त्रान्ते प्रयोजनमाह–]

मिथ्यात्वं सौगतानां कणचरसमयं कापिलीयं प्रमेयम्,
प्रागल्भ्यं शाबराणां जिनपतिविहिताशेषतत्त्वप्रकाशे ।
पर्याप्तत्वं व्यपोहन्नुपहसनमयं प्रस्तुवन्न्यायमार्गे, 25
स्याद्वादः सर्ववादप्रवणगुणगणः श्रेयसे नोऽस्तु नित्यम् ॥४७८॥

[§ ५५६. किं पुनस्तच्छ्रेयो यदर्थत्वं स्याद्वादस्याशास्यते इति चेत् ? सकलावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानमेव । तदेवाह–]

स्थूलस्य कस्यचिद्दर्शनात्, अन्यथार्थी नियम वैस्यद्येच्छा वृत्तयः (?) सङ्कलनान्तरवत्। न तादृशं सञ्चितालम्बनं युक्तम्; विविधान् विधानस्य (विवादानुविवादनस्य) विकल्पनान्तरीयकत्वात्। तदेकान्ते परत्र को [ऽ] परितोषः ? सकृत्प (त्र) तिभासभेदः संविदात्मनः सन्तानान्तरवत्। तत्र भेदाभेदसाधनो न भेदसाधनो न भेद-
5 प्रतिषेधो विषयवत्, विज्ञानसञ्चये पुनरसङ्क्रमादपरामर्शस्पर्शादिज्ञानयौगपद्ये तदर्थानन्तरमानसप्रत्यक्षेऽपि समानः प्रसङ्गः। तन्न अतीतविषयं परिस्फुटं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। तदेवं विप्लुतवद् भावनातो निवर्त्तते। अचिन्तायां विकल्पसंहारे तथादृष्टौ पुनर्भावयतोऽनिवृत्तेः ॥छ॥

[§ ३. सदर्थनियतं ज्ञानं फलं तत्त्वार्थनिर्णयः।
10 तदभावे प्रमाणाभं मानसं सविकल्पकम् ॥ ५ ॥]

§ ४. सदर्थनियतं ज्ञानम्, नहि सतोर्विषयविषयित्वेऽपि अनियमो भ्रातृवदुपचारस्यापि तत्रानुपयोगः। सम्भवत्यपि भावानां स्वभावभेदः। फलं तत्त्वार्थनिर्णयः, स्वार्थमात्राध्यवसायाभावे दर्शनस्य सन्निधानाभेदेन दृष्टसजातीयाभिलापस्मृतेः उभयव्यवसायोऽपि न स्यात्। तदभावे प्रमाणाभम्, तिमिराद्यवग्रहः
15 प्रमाणं चन्द्रादिष्वविसंवादं न पुनः शुक्त्यादौ, तथाऽनभिनि (ऽभिनि) बोधे यथार्थदर्शनेऽपि विप्लवसम्भवात्। मानसं सविकल्पकम्, सुखादिरविकल्पप्रत्यक्षाप्रत्यक्षैकान्ते न मानसं क्षणपरिमाणादेरप्रतिभासः केशादिविवेकवत्। परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परोक्षवत्। सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मना (नां) तथाभावसङ्करव्यतिक [र] व्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वं परस्परपरिग्रहपरि-
20 णामाविनाभावी मतिश्रुतयो [:] स्वार्थविवेको नियतोद्भवेतरविवर्त्तेन गुणवत्, उभयोपयोगलक्षणत्वादात्मनः।

स्वनिश्चयफलापेतं मानाभासं सुषुप्तवत्।

§ ५. स्वतो निर्णयात्मकं फलम्, प्रमाणान्तरानुभवनिर्णयं पुनर्मानाभम्।

शास्त्रार्थज्ञानसंवादः तत्प्रत्यक्षप्रसाधनः ॥ ६ ॥

25 § ६. सर्वमिथ्यैकान्तातीजा (ता) तिशयज्ञानं प्रवचनम्, अतिकरणप्रत्ययात्यये सर्वथा सम्बन्धग्रहणायोगादन्धपरम्परयाऽनुपपन्नम् ॥छ॥

कालेने (नै) तावता [ऽ] नाप्तः कथं न प्रलयं गतः ?।

§ ७. नहि शब्दः स्वतः प्रमाणं विप्रतिपत्तिदर्शनेन तदर्थोपलम्भसम्प्रदायापेक्षः संवादसत्यप्रतिपत्तेः। दोषावरणक्षयोपशमप्रयोगातिशयवशाद् विज्ञानविशेषा-
30 नुपपत्तौ तज्ज्ञानमपि न प्रमाणम्। तदर्थदर्शनसमयसंवादे समभिहारेण प्रमाणान्तरप्रवर्त्तने सम्प्रदायाऽविच्छेदः।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचितः

॥ प्रमाणसङ्ग्रहः ॥

तदाभासौ विपर्याससंशयो (यौ) मतिविभ्रमात् ॥११॥

§ १४. न संशयो व्यवसायसादृश्याभिनिबोधनियमादनुद्भूतविकल्पो [ऽ] नध्यवसायः, तदतद्विशेषाव्यवसायानियमप्रत्ययो विमर्शो [ऽ] नध्यवसायः। विपर्यासः प्रत्यक्षप्रतिभासवैकल्येन हिताहितविवेकविरहः ॥छ॥

5 सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः।
अन्यथासम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः ॥१२॥

§ १५. समक्षविकल्पानुसरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम्। संवादसामर्थ्यभेदेन सहक्रमसंयोगभाविषु तथाभावाऽभावनियमनिश्चये न पुनरवग्रहव्यापारो विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरलक्षणत्वात्। नहि प्रतिबन्धनिर्णयात् प्राक् 10 सिद्धमनुमानम्, अनवस्था च ॥छ॥

विवर्त्तः सर्वथैकान्ते विरुद्धः पुरुषादिवत्।

§ १६. प्रधानपुरुषकालपरमाणुस्वभावप्रवादेषु सहक्रमसंयोगवैस्य(वैस)-रूप्यविरोधिचेतनेतरप्रभेदैकपरिणामे नाम्नि विवादः सन्मात्राविशेषात्। अन्यथा सर्वत् (सर्वं) सर्वत्र सर्वथा स्यात् ॥छ॥

15 नित्यमेकमनेकत्र निमित्तं समवायिनम् ॥१३॥
निरंशं कर्मसंयोगात् कारणं परिणामिनम्।

§ १७. निमित्तम् उत्पत्तिमतां यदि नित्यं स्थित्युत्पत्तिविपत्तीनामक्रमः ज्ञानेच्छाकरणशक्तीनामव्यतिरेकात्, अन्यथा तदकर्तृत्वम्। तत्करणनियमे तुल्यः प्रसङ्गः, व्यपदेशनियमाभावः, स्वतः सिद्धेः। तदुत्पत्तिमत्त्वेऽपि देशकालस्वभावानियमो 20 निर्हेतुकत्वात्। तद्धेतुत्वे पुनरक्रमः, तत्करणशक्तेस्तदात्मकत्वात्, व्यतिरेके समानः प्रसङ्गोऽनवस्था च। सहसिद्धेः तद्वृत्यायामात्मादेः तद्गुणत्वं सर्वत्र समवायाऽविशेषात्। नित्यानां स्वभावोत्पादवि(दावि)घातादनपेक्षा। तदन्यकरणे पुनरनिवृत्तः प्रसङ्गः। न कर्म संयोगकारणं सावयवविरोधात्, सर्वस्य परमाणुमात्रप्रचयो वा। परिणामेऽपि निमित्तान्तरकल्पनायामनवस्था।

25 तत्रैकमर्थकृद् बुद्धेरानन्तर्यमनर्थकम् ॥१४॥

§ १८. एकमनेकत्र निष्पर्यायं प्रत्यवयवं न सर्वात्मना प्रत्येकं तत्स्वभावनै-(वैनै) कत्वविरोधात्। नैकदेशेन निरवयवानाम्, अन्यथा अनवस्था। 'वर्त्तते' इति विज्ञप्तिमात्रेऽपि सर्वं समानम्। न चैतन्यमित्येव तदवयवविकल्पननिवृत्तिः। विभ्रमशून्यप्रतिपत्तिविप्रतिषेधः।

30 इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम्।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचितः

॥ प्र मा ण स ङ्ग्र हः ॥

१. प्रथमः प्रस्तावः

॥ नमः श्रीवर्द्धमानाय ॥

श्रीमत्पमर (त्परम) गम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ १ ॥

[§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम् ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥ २ ॥]

§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम् अनिन्द्रिय- 5
प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् त्रिधा । श्रुतम् अविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् ।
परोक्षं *प्रत्यभिज्ञादि स्मरणपूर्वकम् । हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थे द्वे एव प्रमाणे
इति शास्त्रार्थस्य सङ्ग्रहः, प्रतिभासभेदेन सामग्रीविशेषोपपत्तेः ॥छ॥

प्रामाण्यमप्रसिद्धार्थख्यातेरर्थानुकारिणः ।
व्यभिचारादनिर्णीतं व्यावृत्तं सर्वतो गतम् ॥ ३ ॥ 10

§ २. प्रमाणम् अव्युत्पन्न (अव्युत्पन्न) सन्दिग्धविपर्यस्तार्थप्रतीतौ विषया-
नुविधायिनोऽकिञ्चित्करारेकाविपर्यासाऽनिवृत्ते (त्तेः) सर्वथा सारूप्यासंभवात् ।
अर्थोपलम्भाद्यवसायसामर्थ्ये अन्यकल्पनावैयर्थ्ये (र्थ्यं) तु । तज्जन्मसारूप्याध्यव-
सायस्य अन्यत्र वृत्तिः भ्रान्तिकारणवत् । निष्कलानामेतन्न भवति, सकलव्यवच्छेद-
निर्णयाऽनिर्णयादिप्रसङ्गः ॥छ॥ 15

अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरत्प (रप) राकृतेः ।
स्पष्टं सन्निहितार्थत्वाद् भावनातो निवर्त्तते ॥ ४ ॥

§ ३. चक्षुरादिज्ञानं सविकल्पकं सामान्यविशेषात्मविषयं वर्णसंस्थानादिमतः

* प्रत्यभिज्ञा स्मृति ऊह

[§ ३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् ।
साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ॥२०॥]

§ २३. **साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् ।** अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्यः । तत्र साधनसामर्थ्यम् । यथा सर्वं सामान्ये (न्य) विशेषात्म-
5 कमिति । **ततोऽपरं साध्याभासम् । यथा सत्ता,** सदसदेकान्तयोः साधनासम्भवः, तदतदुभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वम् । **भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः** विप्रतिपत्तयः सदसत्प्रमाणप्रमेयैकान्तात्म (त्मा) नो बहुप्रभेदाः प्रतिपन्नभिप्रायाणां निरङ्कुशत्वात् ।

साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं यथा सति ।
10 **प्रमेयत्वं निरंशानां प्रतिभासविरोधतः ॥२१॥**

§ २४. साध्यार्थासम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः, सर्वमनेकात्मकं प्रमेयत्वात् । नहि चक्षुरादिज्ञानमन्यद्वा स्वभावान्तरविवेकेन ज्ञारुचिदे (जातुचिदे)-कमाकारं विषयीकरोति । परस्परविश्लेषिणामणूनां भवतामप्यनुपलम्भः । विप्रतिषिद्धं तादृशां वर्त्तनं सम्बन्धासिद्धेः, पृथक्सिद्धिप्रसङ्गः । शकला (सकला) वयवोपलम्भा-
15 सम्भवे तद्ग्रहः, तदवयवान्तरदर्शनादर्शनविरोधः ।

विश्वं सर्वगतं सत्त्वं व्यक्तं चेद् व्यक्तिभिः स्फुटम् ।

§ २५. एकमक्रमं सर्वव्यक्तिसामान्यमन्यतमाभिव्यक्तं स्वाश्रये यदि सत्त्र (सत्र) त्ययहेतुरविशेषेण सकलं सदै (दे) व प्रमेय (यम्) तद्विशेषे स्वभावहानिः ।

सर्वस्वाश्रयसम्बन्धे सामान्यं स्यात् प्रदेशवत् ॥२२॥

20 § २६. यदि सर्वगतं सामान्यं सर्वत्र विशेषप्रत्ययस्तन (म) ये प्रत्ययसङ्करः । स्वाश्रयव्यापित्वे तथाऽनेकत्वम् । का श्र विरिणो (आश्रयविरहिणोऽ) वस्तुत्वम् । आश्रयाश्रयिभावोऽभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती सत्प्रत्ययकर्तृत्वाकर्तृत्वे सहकारिकारणापेक्षा-विशेषतो निष्कलस्य युगपदनेकत्र वृत्तिः इति दुरन्वयम् । सतोऽपि तदाश्रयादर्शने दर्शने च सावयवत्वम् ।

25 **एकं चलं चलैर्नान्यैर्नेष्टं नष्टैर्न चापरैः ।**
आवृत्ते (तै) रावृत्तं (तं) रूपं रक्तं रक्तैर्विलोक्यते ॥२३॥

§ २७. विचित्रावयवात्मकमेकं बहिरन्तश्च कैश्चिदेव आत्मभूतैः अन्यैश्च मात्राभेदैश्चलमचलम्, विनष्टमविनष्टम्, आवृतमनावृतम्, रक्तमरक्तम्, उपलम्भानुपलम्भयोग्यं नापरैः, अनवस्थाप्रसङ्गः । तेनैव तदात्मकं युक्तं येनातिशयेन
30 वस्त्वन्तरं समवैति ।

अन्तरङ्गं स्वतः सिद्धमक्षादेर्व्यभिचारतः ॥ ७ ॥

§ ८. ज्ञानपरिणामव्यतिरेकिणो ज्ञत्वविरोधात्। स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हः स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत् ॥छ॥

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे।

§ ९. चैतन्यस्वभावस्य शतः (सतः) सहक्रमसंयोगधर्मान्तरेभ्यो व्यावृत्ति- 5 रिति समवग्रहे स्फुटम् आत्मसहभाविना पूर्वापरकोटयोः अनाद्यनन्तयोरनवयवेन परिज्ञानम् आवरणविगमे।

परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् ॥ ८ ॥

§ १०. नातीन्द्रियमत्येव सर्वं [वि] त् सर्वत्र परिस्फुटं यथा ईक्षणिकादे [ः] सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासम्, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात्। 10

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम्।
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥९॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे प्रथमः प्रस्तावः ॥छ॥

२. द्वितीयः प्रस्तावः

प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः। 15

§ ११. इन्द्रियज्ञानं हिताहितप्रतिपत्तौ न वै साधकतम (मं) स्मृतिव्यवधानात्, दृष्टसअ (सजा) तीयसम्बन्धान्य (ध्य) वसायनान्तरीयकत्वात्। अनधिगतार्थविग्रहेऽपि अर्थातिशयवैधुर्ये प्रवृत्तेरनङ्गमनध्यवसायादिनिमित्तम्। समधिगते पुनः व्यामोहविच्छेदेन प्रमाणान्तरवत्।

प्रत्यभिज्ञा फलं तस्याः प्रामाण्यं प्रतिपत्तितः ॥१०॥ 20

§ १२. प्रत्यवमर्शः फलमपि प्रमाणम् उपादानादेः तदना (तन्ना) न्तरीयकत्वात्।

द्रव्यसामान्यसंहारविषयः पुरुषादिवत्।

§ १३. जीआदयो द्रव्यपदार्था विनियततद [त] त्परिणामसतन्व (तत्त्व)-विवर्तग्रन्थिविकाराः कौमारादिवत्। सदृशपरिणामः सामान्यं यमलकवत्। सभाराः 25 (भाग) विसभागयोरसाङ्कर्येण प्रत्यवमर्शः एकानेकस्वभावनियमः।

४ चतुर्थः प्रस्तावः ।

अन्यथा [ऽ] सम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

§ ३१ अनित्य आत्मादिः शरीरादेरनित्यत्वात् । नहि तत्परिणाममन्तरेण तद्विकारित्वं युक्तमिति । एतावता यदि प्रतीतिः किं सांख्यधर्मकल्पनया धर्मा-
5 न्तरत्वात् ? उदेष्यति शकटम् उद्गाद्भरणिः कृत्तिकोदयादिति । कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः । शब्दानित्यत्वे चाक्षुषत्वादिरपि सिद्धः (?) । सात्मकं या (जी) वच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति । चैतन्योपयोगादन्यत्रावृत्तौ सुषुप्तादिषु दर्शनादयुक्ता वृत्तिः । न शरीरपरिणामः तदप्रत्यक्षे (क्ष) त्वे प्रत्यक्षः । तथाऽपरिणामिनः तद्गुणत्वे अनवस्था । सहभावनियमेऽपि अन्योन्यव्यपेक्षातोऽनादिसम्बन्धप्रसङ्गः, तदुभयत्रा-
10 विशेषात् । पूर्वाभ्यस्तस्मरणाविनाभाविनः क्वचिद् गुणान्तरस्य लिङ्गत्वे जातिस्मरसंवादेन निरंशस्य विग्रहव्याप्तिविरोधः । नानात्वे पुनरसम्भवः, प्रभवस्मृतिप्रत्यभिज्ञाद्यं (दि) विघातः । तथापरिणामे सकलदोषनिवृत्तिरित्यात्मभावसिद्धितः किमन्वयेन शब्दपरिणामे श्रावणत्वादिवत् ? पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणत्वाद् । उपाधिप्रतिषेधे कृतकत्वादि वैश्वरूप्यं सत्ताव्यतिरिक्तं मा भूत् । सर्वस्य सतः तथा विप्रतिपत्तौ
15 एकत्रानन्वये कथमुपसंहरेत् ? तद्विशेषानाक्षेपे किं साधनम् ? एकलक्षणानुपलक्षणे कार्यादिरगमत्व (मकत्वम्) । वचनपुरुषत्वानुपलब्धीनां क्वचिद् रागादि-सर्वज्ञताभावसाधनसामर्थ्यवैधुर्यं (र्ये) व्याप्तिविशेषः कोऽपरोऽन्यथा [ऽ] सम्भवात् ।

सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ॥२९॥

§ ३२. स्वभावोपलब्धिः—यथा अस्त्यात्मोपलब्धेरिति । ज्ञानस्वभावपरिणा-
20 मिनो विग्रहव्यापिन (नः) स्वसंवेदनेऽन्यवेदनम् । नहि सुखादयो भेदिनः संविद्रते तथा [ऽ] निर्णयात् । विभ्रमकल्पनातो नान्योन्यमतिशयाते । स्वभावकार्योपलब्धिः—अभूदात्मा स्मरणात् । सत्यपि प्रभवसास्रा (ग्रस्या) तिशये तदसम्भवः, जन्यजनकवद् विसदृशपरिणामेऽपि बालवृद्धवत् । स्वभावकारणोपलब्धिः—भविष्यति आत्मा सत्त्वात् । स्वभावान्तरपरिणामात्मकं भावलक्षणम् । सकलशक्तिविरहिणो निरुपा-
25 ख्यत्वम् । स्वपरिणामविकलस्य परत्रासामर्थ्यम् । सहचरोपलब्धिः अस्या (अस्त्या)-त्मा स्पर्शादिविशेषात् । तादृशं लोको विवेचयति । सहचरकार्योपलब्धिः—अत्र वचनात् कायव्यापारः । अन्वयव्यतिरेकानुविधानं सहचारिणो व्यापारे साधकतमत्वम् । सहचरकारणोपलब्धिः—सकल आत्मा शरीरावयवभेदात् । तद्वृत्तिनान्तरीयकः संयोगः कार्यकारणयोः तथापरिणामः । तादृशः क्रमवृत्तेरप्रतिघातः । नानात्वेऽप्रति-
30 सन्धानम् । एकस्य कालदेशान्तरव्यापित्वं प्रतिभासभेदेन रूपेतरयोर्दर्शनात् । दर्शनवत्तद्वृत्तौ तथा संश्लेषे सर्वथाऽसम्बद्धः प्रसङ्गः ।

§ १९. साधनस्य क्वचिदुपलम्भेऽपि विरोधाविरोधयोः तदर्थत्वात्। दोषावरणपरिक्षये वचनादेः सम्भवो नान्यतः।

अन्यथा सम्भवज्ञान (नं) कुतका भ्रान्तिकारणम् ॥१५॥

§ २०. विवक्षातो वाचोवृत्तेरन्यत्रानुपलम्भेन सर्वतः तदभावे व्यतिरेकचिन्ता मिथ्योहः, सुप्तप्रमत्तयोः तदभावेऽपि दर्शनाद्, हेतुसन्निधानासन्निधानाविशेषः करण- 5 शक्त्यनुविधानात्।

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥१६॥

§ २१. शरीरं यदि गुणदोषकारणं तन्निर्ह्रासातिशयानुविधानम्। तेषां शरीरस्थितिहेतुत्वे तत्रानुपरमः स्यात्। दोषावरणकारणत्वे तत्प्रकर्षापकर्षाविरोधः। तदा- 10 त्मकत्वे पुरुषस्यैकभावे निवृत्तिः चैतन्यवत्। तद्गुणदोषानुविधायिनी वर्णपदवाक्यानुपूर्वी दोषया(जा)तिं विशेषयेद्, विवक्षायामपि अविषये स्वयमप्रवृत्तेः।

प्रत्यक्षनिर्णयावृत्तौ सामान्यानुस्मृतिस्ततः।
प्रत्यभिज्ञा ततस्तर्कः ततः साध्यपरिग्रहः ॥१७॥
आत्मैव मतिमा (मान्) दृष्टसामान्याभिनिबोधतः। 15
परोक्षेऽप्यविनाभावमुपैति श्रुतपाटवात् ॥१८॥ ॥छ॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे द्वितीयः प्रस्तावः ॥

३. तृतीयः प्रस्तावः

अनुमानसमासार्थमनुमानमतः परम्।
प्रमाणं क्वचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ॥१९॥ 20

§ २२. साध्याविनाभावे सहक्रमसंयोगलक्षणे साधनस्य साक्षात्कृते साध्य- (ध्या) र्थसमाक्षिप्तः तत्र स्मृतिविकल्प (ल्पः) कुतश्चित् प्रमाणम्, कथञ्च ऊहादिः? स्वसंवेदनेऽपि समारोपव्यवच्छेदाभावात्, इव (इत) रथा विप्रतिपत्तेरनन (नु) मानम्, स्वतो [ऽ] सिद्धस्य साधनान्तरेऽप्यनवस्था। अयुक्तम्- § १.) "नाऽप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं मानम्" इति। सर्वत्र संवादाविशेषे तद्विधिप्रतिषेधयोर्विप्रतिषेधः 25 शास्त्रानुमानवत्।

स्वभावविरुद्धव्याप्यव्यापककार्यकारणोपलम्भानुपलम्भप्रयोगभेदाः प्रत्यक्षेऽपि विवादवृत्तयो निर्णये नियमेन परीक्षामपेक्षन्ते । तदर्थसाधनं सर्वत्र ज्ञानशब्दव्यवहारसाधनम् ।

अध्यक्षस्यापरीक्षत्वादनुमानं (न) परम्परा ।
5 अविनाभावसम्बन्धेऽप्यन्तर्व्याप्त्याऽवतिष्ठते ॥३२॥

§ ३६. बहिर्दर्शनादर्शने धर्मिधर्मस्य न लिङ्गिलक्षणं तन्दुलपाकादिवत् । तन्नैतावता व्याप्तिः अन्यत्र विचारात्, यतो व्यापकं निवर्त्तमानं व्याप्यं निवर्त्तयेत् । कस्यचिदवग्रहमात्रं नित्यानित्ययोः विरोधाऽविरोधात् नियमं न परीक्षते अतिप्रसङ्गात् । तदनुमानपरम्पराऽपि अनवस्था । परस्य दर्शनपाटवादिमतः स्वतो विवेच-
10 कत्वाद् विप्रतिपत्तिनिवृत्तिः । अविषयेऽन्यस्यावृत्तिः । तदाश्रयत्वाच्च सर्वत्र दृष्टान्तो नावश्यं बहिः ।

अपेक्षः सदनै(ने)कान्तं सम्पश्यद्भिः (द्भिः) समीक्षकैः ।
अन्यथायोगतः सर्वं [:] तथैवेत्यनुमीयते ॥३३॥

§ ३७. साध्यसाधनयोः स्वभावप्रतिबन्धे साक्षात्कृतेऽपि साकल्येन व्याप्तिः
15 परीक्षातः । तद्विभ्रमकल्पनायां अकृतमकृतं स्यात् । तदाभासाविशेषे कादाचित्कसंवादस्याप्रतिबन्धेऽपि सम्भवत्स्वलक्षणयोगे व्यभिचारः, समीक्षाकारिणः पुनरविप्रतिसारः । तत्र सर्वत्र विभ्रमोपलम्भो [ऽ] विशेषात् । सतामेकान्तानेकान्तविच्छेदपरिच्छेदयोरभेदप्रत्यनीकस्वभावविधिप्रतिषेधप्रतिबद्धे ।

प्रत्यक्षस्यापि सामग्रीप्रतिभासविशेषतः

20 § ३८. मतिश्रुतयोः प्रतिभासभेदेऽपि परमार्थैकतानत्वम् । सामग्रीभेदे प्रत्यक्षवस्त्वांस (वस्त्वांश) मात्राभिनिबोधे नान्यार्थोऽन्यव्यवच्छेदः । अविषये स्वयमप्रवृत्तेः । अयथार्थात्मावभासविच्छेदः परोक्षमात्मानं कथञ्चिद् विदधतो विच्छेदेन बहिरर्थावलम्बनम् असाधारणनिर्भासविरहिणोऽपि अविरुद्धम् ।

ज्ञस्य विभ्रमसंश्लेषे कथञ्चिद्भ्रान्तिरात्मनि ॥३४॥
25 सर्वथा विभ्रमे तस्य विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।
यथा विभ्रमविच्छेदाज्ज्ञानात्यन्तरितं स्वयम् ॥३५॥
तथाऽर्थजातिधर्माणां तत्र सम्प्रतिपत्तितः ।

§ ३९. चेतनस्य सतः कथञ्चित्स्वभावाप्रतिपत्तौ न वै निमित्तान्तरमन्यत्र विभ्रमात् । अन्यथा सुप्तप्रबुद्धाविशेषप्रसङ्गश्च (ङ्गः । उ) पलक्षितसुखादिविज्ञानस्वल-
30 क्षणक्षणक्षयादिविशेषानुपलक्षणे दूरासन्नादिदेशस्थपुरुषैकविषयोपलम्भवत् । क्वचिद्

स्वलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम्।
समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्त्तिभिः ॥२४॥

§ २८. उदयस्थितिसंहारलक्ष[ण]स्य सतः प्रतिभासादिभेदाभेदाभ्यां भेदाभेदप्रसिद्धिः, आत्मप्रतिबन्धेन तथा परिणामात् संशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोषप्रसङ्गाऽनवस्थासङ्कराभावकल्पनाम् अन्योन्याविवेकप्रतीतिः अतिशेते। जात्यन्तराधिगमे मेचकादिवत् सत्यपि वैश्वरूपे तथापरिणामेन समानशक्तीनामेकत्वम्। तेनैव तत्समं कर्त्तव्यमिति नियमाभावात्। नहि सहकारिणां शक्तिसङ्करः। व्यक्तिवदेकैकस्य सकलशक्तियोगे सहकारिकारणापेक्षा मा भूत्। समग्राणां तदेकाभिव्यक्तौ शुक्लः तदेककार्यः प्रादुर्भावः। प्रधानपुरुषयो[ः] शक्तिसङ्करप्रसङ्ग[ः]। गुणानाञ्च न कर्तृत्वम्, अन्यत्राभिव्यक्तेः। तदिमे सामान्यविशेषात्मानो न सङ्कीर्यन्ते। 10

विज्ञानस्यैकरूपत्वे विज्ञेयस्याऽविशेषतः।

§ २९. 'प्रतिभासभेदेऽपि बुद्धेरेकत्वम्' इति विरुद्धं पश्यामः। सर्वस्यैकांशमात्रानुषङ्गः संवित्स्वभावस्य ते तथोत्पत्तिरेव संवेदनम्, अन्यथा एकत्रापि 'क्षणिकत्वविज्ञप्तिमात्रता सन्तानान्तरविवेक' इति न स्वतो नान्यतः। वितथनिर्भासाऽविशेषे वृक्षादिदर्शिनः स्वांशमात्राविग्रहविकल्पैर्न तत्त्वप्रतिपत्तिव्यापारव्याहारप्रतीतिः। विप्लवेऽपि 15 सर्वथा विभ्रमे विभ्रमासिद्धिः। अनेकात्मकत्वे बाह्यार्थे कोऽपरितोषः? सर्वथा विरोधपरिहारस्य कर्त्तुमशक्तेः। स्वसंवेदनमात्रस्य कदाचिदनुपलम्भे यथोपलम्भं विप्रतिषेधेन शून्यताप्रतिपत्तेरशून्यतानुषङ्गः। तथाहि-

नाभावस्य प्रमेयत्वं न भावस्याऽप्रमेयता ॥२५॥

§ ३०. सर्वथा सतः प्रतीतौ अनिवृत्तिः। असदुपलम्भो विप्रतिषेधः। अर्थाभा- 20 वविकल्पस्य स्वविषयत्वम्। कस्यचित् कैवल्यमपरस्य वैकल्यम्। तदेतत् प्रमेयत्वमवितत्त्व (थ) प्रत्ययात्मकं प्रमातरि प्रत्यक्षं प्रमेयधर्मतया तदधिगमयोग्य स (स्व) भावः, परोक्षं च। विषयद्वैविध्येन सद्व्यवहारलक्षणं प्रमेयमेव। सर्वत्र सर्वथा भावे विरोधः।

परापरविभागैकपरिणामविशेषतः।
तान्येव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥२६॥ 25
प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत्।
वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥२७॥
तत्र चित्रं भवेदेकमिति चित्रतरं ततः।
चित्र (त्रं) शून्यमिदं सर्वं वेत्सि चित्रतमं ततः ॥२८॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे तृतीयः प्रस्तावः ॥छ॥ 30

नुपकारः । तथा नित्यानां परस्परतो हेतुफलाभावः । निर्व्यापारेषु व्यापारसमारोपः क्रमयौगपद्यासम्भवो न कारकज्ञापकव्यवस्था पारमार्थिकी । तदाकस्मिकत्वे देशकालस्वभावनियमायोगः । इष्टविघातकृतदे (कृदे) कस्य पूर्वापरस्वभावपरिहाराऽवाशिनान्तरीयकत्वादर्थसिद्धेः, इत्यनिश्चि (श्चि) तविपक्षव्यावृत्तिरनैकान्तिकः । कौटस्थो 5 (स्थ्ये) विक्रियाविरोधः । क्षणिकत्वे सर्वथानन्वयः । जात्यन्तरे वितर्कयतः सम्मोहः । कृतकत्वादिषु समानश्चर्चः ।

जात्यन्तरोपलम्भेन कथञ्चित्सकलग्रहः ॥४१॥
अतर्का (र्त्का) र्येऽव्यवच्छेदेऽप्यर्थमात्रोप्र (प) योगतः ।

§ ४१. स्वतो व्यतिरेके न उपायः स्युरि (र) तिप्रसङ्गात् । तथा दृष्टे प्रमा- 10 णान्तरवृत्तिर्न, एकोपावि(पाधि)प्रतिपत्तेः श(स)कलग्रहनान्तरीयकत्वात् । अन्यथा अनवस्थाप्रतीतिः । समारोपव्यवच्छेदे समानः प्रसङ्गः तत्परिच्छेदाऽविशेषः । इतरथा विपक्षानतिशायनात् । स्वतो निर्णयस्य अतद्धेतुफलापोहनिर्णयः, स्वविषयनिश्चययोरविनाभावः, परतोऽनवस्था च । नहि निर्णयस्य स्वरूपमन्यदपि निर्णयात् । स पुनः अवश्यमात्मानं व्यवसाययत् (यन्) सकलं न्यायविषयीकरोति । सर्वथा 15 तदतद्भ्रान्तिविच्छेद एकत्र निश्चयसमारोपविघातात्, तदेतदपि गण्डूपदभयाद् अजगरमुखकुहरपरिपतनमनुसरति । तस्मान्न भेदाऽभेदप्रतिपत्तिः उभयत्र व्याघाता [त्] । क्वचिदनयोरवाच्यतायां तद्वैकल्यम् । अतो न दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टम् ।

§ ४२. प्राणादीनाम् अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । स्वयमदृश्येऽपि न्यायस्य प्रविजृम्भणात् । प्रभवाभावविरोधप्रसिद्धिः व्याधिभूतग्रहादिवत् । 20 अतः साकल्येन चलनोऽन्यः (?) तादृशो विप्रतिषेध इत्यनमि (भिनि) निबोधनैकान्तिकत्वम् । अदृश्यानुपलम्भादभावाप्रसिद्धेः घटादीना(नाम्) नैरात्म्यासिद्धौ प्राणादेरनिवृत्तिः इति तमासा (तमसो) नैर्घृण्यात् ।

§ ४३. चलानां तनुकरणभुवनादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सर्वं (सत्त्वं) विरुद्धमचलात्मनि । विप्रकृष्टेऽपि न्यायस्य विजृम्भणम् । परिणामिनि संशयः । 25 सिद्धः संस्थानादिर्विवादास्पदे तथा प्रत्यवमर्शेनाभिधानमात्रम् । विशेषकल्पनायामतिप्रसङ्गः । तादृशज्ञानपूर्वकत्वाभावेऽप्यविरोधादनैकान्तिकः ।

§ ४४. चलानां चक्षुरादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सत्त्वम् इष्टविघातकृत् अचलात्मनि । परिणामिनि संशयः । संहतानां पाराथ्या (र्थ्ये) नियमाभावः । कार्यकारणयोः भेदैकान्ताऽसिद्धेः ।

30 § ४५. चलानां शब्दादीनां सन्निवेशादेः सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । प्रधानपुरुषादौ परिणामिनि संशयः । कार्यकारणानामन्वयादेरनेककारणपूर्वकत्वे सम्भवः ।

तथा [ऽ] सद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः ।

§ ३३. स्वभावानुपलब्धिः—यथा न क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः । नहि बहिरन्तर्वा भेदनिर्भासविवेकः । परमाणुवच्छल (वत्स्थूल) स्य कस्यचित् प्रतिभासे तदाभासविरोधः । कार्यानुपलब्धिः—अत्र कार्याभावात् । सति तादृशे कार्ये यदि अक्रमःप्र- (मप्र) सङ्गः । कारणानुपलब्धिः—अत्रैव कारणाभावात् । नाशसमकालकार्यकल्पनायां 5 पश्चादपि असतोऽविशेषात् । समनन्तरभावेऽपि अतिप्रसङ्गः । विशेषव्यवस्थायां तादात्मा (त्म्या) सिद्धिः । उपादानप्रक्लृप्तैः (प्तौ) प्रत्यभिज्ञादिहेतोः कोऽपरोऽतिशयोऽन्यत्र परिणामात् । स्वभावसहचरानुपलब्धिः—नात्रात्मा रूपादिविशेषाभावात् । तादृशो [ऽ] विवेके कथं दाहादिसाहसमाचरेत् प्रेक्षापूर्वकारी ? सहचरकार्यानुपलब्धिः—अत्र व्यापारव्याहारविशेषाभावात् । निवृत्तिप्रतिबन्धयोः विशेषानुपलक्षणे 10 पुनरविविक्तं स्यात् । सहचरकारणानुपलब्धिः—अत्रैव आहारमा (राऽभा) वात् । स विचित्रः शरीरस्थितिहेतुर्विज्ञेयः । परिणामि-सहकारिकारणयोः तदविशेषेऽपि तादात्मो- (त्म्ये) तद्भेदेऽपि युगपद्भाविनामजन्यजनक [क] त्वसहभावनियमः । स्वापदोन- (स्वोपादान) सहकारिनिवर्त्तविकल्पे प्रतिबन्धनियमे किं परस्प (रम्प) रया नियमहेतुना ? तदन्यत्रानिवारणे स्वभावान्तरवत् । 15

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ॥३०॥

§ ३४. नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी । यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धिः—नाविचलितात्मा भावः परिणामात् । स्थितिस्वभावैकान्तस्य स्वभावपरिहारविरोधः । स्वतो [ऽ] नश्वरत्वे कौटस्थ्यप्रसङ्गः । कार्यविरुद्धोपलब्धिः—न लक्षणविज्ञानं प्रमाणं विसंवादात् प्रमाणान्तरापेक्षणे । कारणविरुद्धोपलब्धिः—नास्य परीक्षाफलम् अभावैकान्तग्रह- 20 णात् । संवृतिवादेऽपि समीक्षाविरोधः ।

व्याप्यव्यापकयोरेवं सिद्ध्यसिद्धी विचारतः ।
सदसद्व्यवहाराय तत्त्वान्यत्वविवेकतः ॥३१॥

§ ३५. सर्वत्र व्याप्यसिद्धिरविशेषेण व्यापकसाधनी । यथा [ऽ] नित्यं कृतकत्वात् । परिणामाभावे तदनुपपत्तिः । तथा व्यापकस्यानुपलब्धिः व्याप्यवि- 25 निवर्त्तनी । न निरन्वयविनाशो भावस्य अत्यन्ताभावानुपलब्धेः । इति स्वभावसहचरकार्यकारणभेदपरिग्रहः । स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्ध्योः व्यापकानुपलब्धौ अन्तर्भावः । न नित्यः कृतकत्वात्, अकृतकत्वासिद्धिः (द्धेः) । अविशेषेण स्वभावविरुद्धकार्यो (र्या) नुपलब्ध्योः कार्यानुपलम्भे । तत्र प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् इति नापरो हेतुरनुपलम्भात् । उपलब्धेर्वा अन्योन्यविवेकोपलम्भलक्षणत्वात् । अनयो 30 [ः] स्वभावविरुद्धोपलब्ध्योरनुपलम्भलक्षणत्वात् । अन्योपलम्भोऽनुपलम्भः ।

विज्ञप्तिमात्रसिद्धेः स्यात् । अतद्रूपस्याप्यतत्परिच्छेदव्यतिरेकनियमेन विषयाकाराविशेषे विज्ञानसन्तानभेदवादो निरालम्बः । तद्विशेषो विभ्रमविवेकनान्तरीयकः । नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः इति स्वप्रमाणनिवृत्तिरन्यथाऽपि । सर्वोपलम्भनिवृत्तिरसिद्धा । सम्भवेऽपि निर्णेतुमशक्तौ तादृशो विप्रतिषेधे तत्प्रतिषेधयोः स्वयमुपलम्भात्मकत्वाच्च 5 स्वाश्रययोः सन्देहे सन्देहः ।

सिद्धे [ऽ] किञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया ।

§ ५१. शब्दविनाशादौ सत्त्वेन सिद्धे सिद्धोऽपि कृतकत्वादिः प्रत्यक्षाग्नौ धूमवत् । विशेषाधानमर्थान्तर (?) तत्र धूमदर्शिनः प्रत्यक्षवत् साक्षात्कृतेऽपि कृतसिद्धि (श्चिद्धि) पर्यासनिवृत्तिरज्ञातोऽहेतुः । साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः । 10 तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात् । अनयोरर्थेऽपि विरुद्धाव्यभिचारिणः सम्भवः, यथा नित्यो भावः तद्भावं प्रत्यनपेक्षणात् । तद्धेतूनामसामर्थ्ये तद [त] त्कारणासम्भवः । कादाचित्कत्वमपेक्षातः स्यात् । नहि भावादव्या (दन्या) र्थक्रिया । कादाचित्कत्वमयुक्तः (क्तम्) स्वप्नादिवत् । क्वचित् प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासो वा ग्राह्यग्राहकवत् । न चापरं 15 भेदलक्षणमित्यविविक्तं तत्त्वम् । स्वतो जन्मनि सदसतोः प्रभवविरोधः । परतः तुल्यः पर्यनुयोगः । एतेन उभयानुभयविकल्पाः प्रत्युक्ताः । तत्र निर्व्यापारेषु व्यापार-कल्पनायां परत्र को [ऽ] परितोषः ? नित्यसन्निधाने कल्पनागौरवपरिहारेण भाव-धर्मपरिसमाप्तेः । तथा सर्वमनित्यमर्थक्रियाकारित्वात् । तदभावे निरुपाख्य (ख्य) त्वम् । पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिरयुक्ता तदवस्थस्य । न तावत् क्रमेण; कस्यचिदे-20 कत्र करणाकरणविरोधात् । पूर्वमसमर्थं पश्चादपि । सहकारिकारणवैकल्यं समानम् । तदपेक्षाऽयोगः । तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः स्वभावभेदः । अन्यकरणे असम्ब-न्धाऽनवस्था । न सर्वथा नित्यमुपकर्तुं युक्तम् । अकिञ्चित्करोऽनपेक्ष [:] स्यात् । नापि यौगपद्येन; तत्करणस्वभावस्य पुनस्तदकरणेऽपि स्वभावहानिः । सहकारिवैक-ल्यादि समानं प्रत्यभिज्ञानेऽपि । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादेकत्वम् । तादृशं भेद-25 नान्तरीयकम् । न चापरं भेदलक्षणमिति । स्वभावप्रतिबन्धे नैतावन्योन्यमतिशयाते । समुदायोऽहेतु [:] मिथ्यैकान्तपरिग्रहात् ।

सर्वथान्योन्यसम्बन्धे विरुद्धं श (स) कलात्मनि ॥४४॥

§ ५२. प्रत्येकं सह वा सामान्यविशेषार्थसाधनः ।

एकान्ताश्रये विरुद्धः तद्धेदिति सन्देहकृत् ।

संशयाद्धेत्वभावेऽपि साध्येऽकिञ्चित्करोऽखिलः ॥४५॥

30

§ ५३. किं वै व्यभिचारिणः सन्देहः सत्यप्यविनाभावे पक्षविपक्षयोः तद-

विभ्रमेऽपि वस्तुमात्रोपग्रहे व्यक्तमनेकान्तसिद्धिः, इति साकारौ विषय-विषयिणौ स्याताम्। एवं हि कालादिव्यवहितात्मपर्यायसमुपग्रहे परत्र कः प्रतिघातः? व्यामोहविच्छेदाविशेषेण अन्तस्तमोविगमे बहिरकारणं संस्कृतेन्द्रियवत्। मूर्च्छितादौ बहिरङ्गसाकल्येन अन्तरङ्गं बलीयस्त्वम्। तदतत्कार्यविच्छेदमुपैति न तत्त्वपरिच्छेदमिति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। तत्समारोपविधिप्रतिषेधयोरतादात्म्ये प्रकृतमकृत (तं) 5 स्यात्। समानपरिणामरहितानां (ना) मतत्कार्यव्यावृत्तौ समानप्रत्ययः चक्षुरादिवत्। समे समविकल्पजनकत्वे क्वचित् परामर्शनियमः तादृशो दर्शने सामान्यस्य तैरप्याश्रयणीयत्वम्, अर्थक्रियाविरोधः, कल्पनागौरवतो जातिलक्षणसंवृतेः। स्वसामान्यलक्षणयोर्भेदाभावे प्रत्यक्षेतरयोरतादात्म्येऽप्यनवस्थादिदोषानुषङ्गः। सविकल्पः सिद्धः तदन्यविधिप्रतिषेधविषयमनुमानम्। 10

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ॥३६॥
प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नो जातिस्मरदर्शनात्।
सत्यं तमाहुर्विद्वांसो विद्यया विभ्रमेण यः ॥३७॥
यथार्थमयथार्थस्या (र्थं वा) प्रभुरेषोऽवलोकते।
तुलोन्नाम-रसादीनां तुल्यकालतया नहि ॥३८॥ 15
नाम-रूपादिहेतुत्वं तादात्म्यं सहचारतः।
अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ॥३९॥
ततः सर्वा व्यवस्थेति नि (नृ) त्येत् काको मयूरवत्।

इति प्रमाणसङ्ग्रहे चतुर्थः प्रस्तावः ॥छ॥

५. पञ्चमः प्रस्तावः। 20

अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि ॥४०॥
निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये।

§ ४०. साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः, यथा नित्यः शब्दः सत्त्वात् इति। सर्वथा [ऽ] विचलितात्मनः क्वचिदनुपयोग [ः]। कस्यचिद्भावे स्वयमनायासयतो भावान्तराऽविशेषिणोऽभावाविशेषसन्निधानेऽप्य- 25

§ ५५. प्रागुत्पत्तेः असतः पूर्वं प्रत्यनपेक्षा, निष्पन्नस्यापि सतः स्वयमनाधेयातिशयात्मनो भावान्तरवत्। एतेन उभयात्तु (नु) भयविकल्पः प्रतिव्यूढः। सत्तासम्बन्धेऽपि समानः प्रसङ्गः। कालाद्यनपेक्षिणः सर्वतो व्यावृत्तेः स्वतन्त्रो भावः स्यात्। अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतकः। तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः तन्नियतवृत्तेः सर्वथा तत्कार्यतया प्रतिक्षणं भेदिनः तद्भावाऽव्यवसायतया तदपेक्षणम्। इतरवा (था) कारणस्यापि सतः सामर्थ्ये सकृत् कार्यजनने विभ्रमक्रममकार्यकारणमनुपाख्यम्। सति समर्थे तत्राभवत् नियमेन पश्चात् स्वयं भवत् किमानन्तर्यमपेक्षते? तदसामर्थ्याविशेषेण प्रागपि स्यादभावानन्तर्याविशेषेण। तदयं प्रभवसमर्थां सतीं विहाय मृतां पुत्राय कामयते। सम्भवत्यपि परिणामिनां शक्तिविचित्रता अभावविलक्षणत्वात्। विरुद्धधर्माध्यासेऽपि नानैकव्यवस्था नानार्थैकज्ञानवत्।

तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत्।

§ ५६. तत्र स्पष्टनिर्भासो विकल्पः सन्निधानापेक्षी भावनातो निवृत्तिः सुखादिवत्। अन्यथा स्मरणप्रत्यभिज्ञाऽभावः। तदेवं परस्परपरिणामपरिग्रहविवर्त्ताहितविविधपर्यायैरवस्थान्तरमनुभवति ॥छ॥

उत्पादविगमध्रौव्यं सत् प्रत्येकमसम्भवात् ॥५२॥

§ ५७. नाशस्यापि कारणे सिद्धं कृतकत्वमुत्तरोदयाऽविशेषेण। पूर्वापरावधिपरिच्छिन्नसत्तासम्बन्धेऽपि तादात्म्याऽनतिक्रमः। तत्र उत्पत्तिसंहारौ स्थितिरहितौ स्याताम्। एवं प्रतिक्षणम् उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तं सत्। सकृदपि अतत्स्वभावस्य तन्नियमविरोधः। नाशश्चानपेक्षायां न कदाचिद्भवेत् पूर्वोत्तराविशेषेण। स्वतो हेतोर्नश्वरस्थास्नुरुदेति न पुनरनपेक्षः। परस्परपरिणामाहितविशेषपरिग्रहेऽपि स्वरसवृत्तेरप्रतिघातः विषयसन्निधानाहितविशेषविज्ञानवत्। स्वरसभङ्गुरस्यापि विरोधिप्रत्ययविहितविशेषलक्षणेन निवृत्तिं पश्यामः। सदसतोः पूर्वापरभावनियमः। कथञ्चित् कार्यकारणवत् अचलस्याप्यन्वयादुत्तरीभवति। तादात्म्यपरिणामेन सत्त्वप्रतिभासनात्। सर्वस्य अनेकान्तात्मकत्वे तदतद्व्यवस्था तथापरिणामात्। नहि तथा अपरिणतं तत् विप्रतिषेधात्। प्रसिद्धप्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरपि नानैकस्वभावनियमः पितापुत्रवत्। सन्तानस्य अन्यथाऽसम्भवात्। एकप्रत्यवमर्शविशेषव्यवस्थायाम् एकत्वविधानम्। विभ्रमकल्पनाऽनानैकव्यवस्था, नैकयोगक्षेमलक्षणमेकम् अतिप्रसङ्गात्। विरुद्धधर्माध्यासाद् बहिरन्तर्मुखप्रतिभासविज्ञानैकतानिवृत्तिः। अर्थज्ञानविवेकप्रतिभासयोः अदृश्येतरयोरविरोधे सूक्ष्मस्थूलकलाकलापस्य प्रतिक्षणमुदयस्थितिसंहारमनुभवतः क्रमवृत्तेरप्रतिघाते विवेककल्पनाविवेकः। आदौ दृष्टापरस्वभावाविघातेन पुनः क्षयदर्शनात् सिद्धेः (द्धः) अन्ताद्योः

§ ४६. चलानां सुखादीनां सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि। प्रधानादौ तेषामनु-प्रवेशो वा। चलात्मनि चैतन्यपरिणामिनि तदुभयत्र वृत्तेरनैकान्तिकम्।

सहोपलम्भनियमः स्याद् भेदस्यापि साधकः ॥४२॥

§ ४७. उक्तविघातकृद् द्रव्यपर्यायपरमाणूनां सहदर्शनम्, यथा भेदः, तद-न्यथा विघातो भेदप्रतिषेधको न स्यात्। भेदमात्रस्य साधनात्। नहि सर्वचित्तानां 5 सहोपलम्भो[ऽ]परः सहोत्पत्तेः। स्वभावान्तरविरोधकल्पनायां तथोपपत्तिः। सन्दिग्धा [:] कर्तुरस्मरणो(णा)दयः। ततः स्मृतेरभावो यद्विरुद्धः सर्वः सर्वज्ञः स्यात्। अन्य-तमस्यापि सम्भवे तत्प्रतिषेधे विप्रतिषेधः। शास्त्रलिङ्गतः प्रतिपत्तावनियमः। तदभिप्रे-षण (पेण) वृत्तौ प्रत्यक्षेऽपि कार्यव्यभिचारः। ततो दर्शनसाकल्यनियमे स्मृतिर्न भवेत्। तदभावे मानान्तराऽसिद्धिः। स्वतः प्रामाण्यविप्रतिषेधे पुनरन्धपरम्परायां 10 न गुणोत्कर्षः। तदर्थसंवादस्मरणव्यतिरेकेऽपि सर्वथा साधकप्रमाणप्रतिक्षेपे च सन्देहः। इत्यनैकान्तिकभेदाः निश्चितसन्दिग्धव्यभिचारिणोऽनेकप्रकाराः।

§ ४८. त्रिलक्षणयोगेऽपि 'सर्वज्ञो न वक्तृत्वात्' इति पक्षधर्मस्य सपक्ष एव दर्शनात् स्वभावप्रतिबन्धेन प्रमाणान्तरं व्याप्तिः अयुक्तप्रतिपत्तिः, अतो न व्यापका-नुपलब्धिर्व्य (ब्धिव्य) वस्था। तथा च न कश्चिद् विशेषः। तादृशवचनादिगुणो- 15 पपत्तौ अन्तर्व्याप्ति (प्ते) रसिद्धावगमकत्वम्, तत्सिद्धौ अनन्वयेऽपि। न त्वसाधा-रणा हेतवः, तद्यथा नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्। सर्वथाऽपरिणामिनः तदसम्भवै-कान्तः, तत्र सर्वहेतूनामसाधारणत्वम्। साकल्येन व्याप्तिदर्शनेऽविप्रतिपत्तिः। अन्यथा प्रकृतेऽपि कथमुपसंहरेत्?

सर्वथा भावात् सन्देहेऽप्यन्यथाव्यस्तसंविदः। 20

§ ४९. असिद्धः चाक्षुषत्वादिः। शब्दस्य परिणामेऽपि चक्षुरादिज्ञानमयु-क्तम्। रूपादिविवर्त्तस्य तत्त्वव्यतिक्रमेण द्रव्यमनादिनिबन्धनं (निधनम्) न शब्द-पर्यायो (यः) चाक्षुषत्वप्रसङ्गादिति हेतुलक्षणं पुष्णाति।

[§ ४. सहोपलम्भनियमोऽप्यन्योन्यार्थविदां विदाम् ॥४३॥]

§ ५०. सहोपलम्भनियमोऽपि अर्थज्ञानयोः अन्योन्यार्थविदां विदाम्। 25 यदेकार्थोपनिबद्धदृष्टयः परस्परज्ञानं परचित्तविदो वा तदर्थं नावि (नाव) श्यं संविदन्ति, बहिरसति तादृशो [ऽ] सम्भवः। विभ्रमे कुतो विशेषः? तथा सिद्धो हेतुः क्वचिद् ग्राह्यग्राहकविप्लवनिवृत्तेः विप्रतिषेधः। एवमसहानुपलम्भो व्यावृत्तिमात्रं शशवि-षाणयोरिव ग्राह्येतरपक्षयोरसिद्धः। सदसतोरसम्बद्धो (न्धो) भेदाभावे भावसिद्धौ किं वादः? तत्र एकोपलम्भनियमः, तदात्मकत्वे साध्याऽविशेषः। स्वोपलम्भनियमो 30

खपुष्पवत् प्रत्येकमनेकात्मनि संशयः क्वचिद् ऊर्ध्वतादिवत्। तादात्म्यनिर्णये परस्परपरिहारे (र) स्थितिः एकानेकस्वभावयोः निमित्तभेदात्। निष्प्रत्यनीकत्वे वैयधिकरण्यात्। उभयदोषे सदुभयोपयोगेन भेदसंहारे साङ्कर्येण व्यवस्था मा भूत्। तदनयोरेकस्यापि कस्यचिद्रूपस्य अभावात् स्वरूपस्यातद्भाविनः स्वनियतस्याऽभावात् सर्वव्यवहार-
5 सङ्करः। तदतिशये व्यतिरेकादुभयाभावः। एकमनेकात्मकं स्ववचनविरुद्धम्; शबलाकारज्ञानाभावात्। प्रत्यक्षविरुद्धम्; कस्यचिदेकस्यानुपलम्भेन। संहारस्त्र-नीलादेरपरं न मेचकादिकं प्रमेयम्। तद्बुद्धेरपि तद्रूपत्वे तथाभावः, तदनेकात्मकत्वविरुद्धं द्रव्यान्तरवत्। यदेकं तदेकात्मकमेव नानात्वविरुद्धं तदेकांशवत्, तदत्यये धर्मनैरात्म्यम्। तथोपलब्धिः इत्यसिद्धम्। वेद्यवेदकैकाकारज्ञानेऽपि अनैका-
10 न्तिकत्वम्, यथोपलम्भं भावस्वभावनियमाभावः स्वप्नवत्। तथोपलम्भस्य तद्भावनियम इष्टविघातकृत्। परिणामविघातः तदन्यथोपलम्भाभावः, साधनान्तरं तदपि प्रकरणसमम्, तथाऽन्यथा सम्भवसमारेकतः अक्रियाप्रवृत्तेः। नहि दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टं यतोऽयं तथादर्शी प्रमापणीयः। साध्यसाधनव्यवस्थायां पुनः सन्देहो यथा किंश्वि (श्चि) दयं स्थाणुः स्यात् इति। निपातस्य पूर्वप्रयोगनियमे विरुद्धश्च परनियमोपलब्धेः।
15 उच्चैर्दर्शने व्यभिचार इत्यनेकवा (धा) जल्पके परस्य तद्विप्रतिपत्तौ अप्रतिपत्तौ प्रकृतार्थविधानप्रतिषेधविधुरे गुणदोषविशेषामवस्थातो (?) जयपराजयाऽसम्भवे राजकुलवत् जल्पानारम्भेऽपि निग्रहस्थानम् आकस्मिकम्, अतिशयान (अतिशायने) कथमस्थानं स्यात्। भूतदोषोद्भावनेऽपि तत्त्वं प्रतिपित्सवो निगृह्यते (न्ते) सन्मार्गस्थायिनो वा प्रस्तुतानुपयोगप्रलापैरिति प्रकृतार्थप्रत्यायने वाग्दोषेऽपि जल्पाकं
20 विजयते, यथाऽनित्यः सत्त्वात् इति।

असिद्ध [:] सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः।
द्वेधा समन्तभद्रस्य सत्त्वादिरचलात्मनि ॥५६॥

§ ६१. यावान् कश्चित्स्वभावो मिथ्यैकान्ते स सर्व आश्रयासिद्धः। तदत्यये तेषां च तत्राभावः तदात्मकत्वात्। नहि अस्ति सम्भवः यन्निरंशो भावः परस्पर-
25 विश्लेषविघातात् तत्रासिद्धिः अनेकान्तसिद्धिः। तत्प्रतिविधानं हि तत्, क्वचित् कश्चित् असिद्धो धर्मः प्रतिपक्षापेक्षी। तदतत्परिणामलक्षणोऽर्थः स्वभावान्तरविरोधी परस्परविवेकस्थितेः अर्थान्तरवत्। तदयम् अन्तरङ्गबहिरङ्गप्रत्यनीकस्वभावप्रतिक्षेपविकलतया विरुद्धम्। व्यभिचारी प्रभवसामान्यसहचरप्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरपि तदर्थान्तरभावयोः तथापरिणामव्यवस्थायाम्। साध्यसाधनभेदेऽपि तादात्म्यम्।
30 निष्कलस्य तथाप्रतिभासविक्रियाविरोधः। गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। व्यतिरेके पृथगुपलम्भसहभावेऽपि समवायिनो नैकयोगक्षेमलक्षणो गुणभावः। तादात्म्ये कथञ्चि-

१ एतदनन्तरं ता० प्रतौ 'व्यतिरेके पृथगुपलम्भसहभावेऽपि समवायिनो' इति पाठः पुनर्लिखितः।

वेदिनि सम्भवी ? प्राग् विपर्यासवद्वृत्तस्यानिराकरणं सर्वत्र समानम् । साध्ये गुणदोषयोः कस्यचिदन्वेषणं सिद्धसाध्यार्थयोः सिद्धासिद्धाऽकिञ्चित्करविस्तरा विरुद्धादयः ।

अन्यथासम्भवासिद्धः साधनः प्रतिरूपकः ।
विरो (रु) द्धोऽकिञ्चित्करो ज्ञातः प्रत्येकमिति सङ्ग्रहः ॥४६॥
विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् विरुद्धो विदुषां पुनः । 5
प्रकृया (प्रक्रिया) व्यतिरेकेण सर्वे सम्मोहहेतवः ॥४७॥
तथाहि सर्वहेतूनां भावना सत्त्वमीक्षते ।
स विरुद्धोऽन्यथाभावाद् असिद्धः सर्वथात्ययात् ॥४८॥
व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः ।
अज्ञातः संशयासिद्धव्यतिरेकान्वयादितः ॥४९॥ 10
विरुद्धाव्यभिचारी स्यादर्थमात्रावधारणात् ।
अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम् ॥५०॥छ॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे पञ्चमः प्रस्तावः

६. षष्ठः प्रस्तावः

[§ ५. समर्थवचनं वादः शाश्वतं सत्क्रियाश्रयात् ।] 15

§ ५४. समर्थवचनं वादः । प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमक्षं जिगीषतोरेकत्र साधन-दूषणवचनं वादः । शाश्वतं सत् क्रियाश्रयात् । 'सर्वं नित्यं कृतकत्वात्, यत् कृतकं तन्नित्यं युक्तं यथा आत्मा, तथा च सर्वं कृतकम्, तस्मान्नित्यम्' इति साधनाङ्गवचनोपालम्भच्छलेन स्वामेव स्थितिं विधुरयं (यन्) सर्वथानर्थनिबन्धिनो विजयते । विचित्रा हि परप्रत्यायनोपायाः स्वनिश्चयवत् । प्रत्यक्षेऽपि कुतश्चित् 20 साधनसम्बन्धप्रतिपत्तेः । सम्मोहव्यवच्छेदेन तत्त्वावधारणे स्वयं साक्षात्कृतेऽपि साधनवचने कथञ्चिन्निश्चित्य विचारं विनिश्चयोपपत्तौ साध्यधर्मसम्बन्धदर्शनस्य प्रतिज्ञाविशेषेण तदन्यतरवचनप्रतीतौ वाचकम् उपनयादिसमम् । अन्यथा साध्यसमम् । तदेवमपि 'युक्तं न वा' इति तर्कय तावदक्षिणी विस्फाल्य । यदि युक्तम्; किंकृताक्[त] नियमेन ? तावत् प्रयोक्तव्यं यावता साध्यसाधनमधिकरणं प्रत्येति ।।छ।। 25

नहि नैः सर्वथाऽसिद्धं कर्तुं युक्तं निरन्वये ॥५१॥

न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम् ।
पदादिसत्त्वे साधुत्वनू(न्यू)नाधिक्यक्रमस्थितिः ॥६२॥
प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम् ॥छ॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे षष्ठः प्रस्तावः ॥

5

७. सप्तमः प्रस्तावः ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमार्थानुशासनम् ॥६३॥

§ ६३. सर्वमिथ्यैकान्तातीतं शासनम् अनवयवेन प्रमाणम्, साक्षात्कृतसमयसंवादेन तादृशोऽबाधनं प्रत्यक्षादिवत् । प्रसिद्धसंज्ञानसामग्रीप्रभवतया प्रमाणान्तरसम्प्लवासम्भवेऽपि कारणगुणदोषसाकल्यवैकल्याभ्यां प्रवृत्तेरङ्गम् । सर्वत्र शङ्कानिवृत्तेः
10 स्वतः प्रतिबन्धवैधुर्ये प्रणेतुरनुभवैरनादित्वेऽपि कायविज्ञप्तिवत् । स्वतः प्रामाण्यमतीन्द्रिये न वै बुद्धेर्विप्रतिषिद्धं वचनवत् । स्वविषये प्रकर्षनियमेन दोषावरणपरिक्षयाभावे तदर्थेष्वनाश्वासः । प्रकारान्तरासम्भवेन तदर्थज्ञानाभ्यासप्रकर्षप्रभवपरिस्फुटप्रत्यये प्रियमनुष्ठितम् । क्वचित्तत्त्वपरिच्छेदव्यामोहविच्छेदयोस्तादात्म्येन सर्वहेयोपादेयोपायपरिज्ञाने किमपरिज्ञानं (तं) स्यात्? तदविशेष (तद्विशेष) व्यामोहे तदर्थासिद्धे[ः]
15 सर्वस्य प्रकरणोपयोगः । साकल्येन वृत्तौ प्रवचनं विप्रकृष्टेऽपि स्पष्टमवितथं प्रतिविशिष्टस्वभावं स्वप्नादिवत् । प्रतिबन्धवैकल्ये स्वप्रभवकायवाग्व्यवहारानुमेया रागादिप्रतिपक्षाः ।

पुरुषातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिष्यते ? ।

§ ६४. यदि ज्ञानविशेषो दुरवगाहः प्रेक्षावतः कथमागमार्थेषु प्रवृत्तिः ?
20 सर्वविशेषाणां शक्यक्रियत्वात् । सिद्धेऽप्यकृतकस्य प्रामाण्ये तद्विशेषापरिज्ञानम् । श्रुतेः प्रायशो विपर्यासैः सर्वथा व्यवस्था न स्यात् । तदयं त्रिपुरदहनादिवत् आत्मघातोऽपि सितासनपुरःसरो मिथ्यैकान्तप्रलापी प्राकृतप्रज्ञाविगाह्यार्थदिग्मूढः स्वयमङ्गीकृतातीन्द्रियार्थप्रत्यक्षदेशनातः सत्यतपःप्रभावरहितो मनुष्यधर्मा करणादिच्छलेन सम्भावितोद्धतवृत्तिः । प्रसिद्धहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहस्वविपक्षगुणोत्कर्षमासं (सं)-
25 समानः यथार्थदर्शनादिगुणो नेति निःशङ्कं नश्येतः । ६२.) "क्षीणावरणः समधिगतलक्षणोऽपि सन् विचित्राभिसन्धिः अन्यथा देशयेत्" इति विप्रलम्भशङ्की तादृशं प्रकरणानुपयोगविशेषं किमर्थं प्रवृत्तिकामो मृगयतो (ते)? दृष्टेष्टयुक्त (क्ति) विरुद्धार्थप्रवचनसमयान्तराणां प्रणेतारो विप्रकर्षेऽपि विशेषतो निर्णीयन्ते शास्त्रकारा इव शास्त्रैः यथार्थदर्शनादिसाकल्यवैकल्यप्रतिबन्धेन ।

पूर्वापरस्वभावाप्तिपरिहारयोः साध्यसाधनभावः। श (स)कलशक्तिविरहिणोऽवस्तुत्वे तदुपादानविच्छेदः, प्रकृतिविकारनान्तरीयकत्वादर्थान्तरप्रसूतेः। त्रिलक्षणं प्रतिक्षणमविकल्पितं विकल्पलक्षणम्, अन्यतरव्यतिरेकेऽनुपपन्नम्। समुदायेऽसङ्करप्रसङ्गः। एकशः तल्लक्षणान्वये भेदकल्पनानर्थक्यम्। तदयम् उत्पाद एव तिष्ठति, नश्यति। नाशयेव तिष्ठति,उदेति। स्थितिरेव नश्यति उदेति ॥छ॥　5

प्रकृताऽशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः।
विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥५३॥

§ ५८. नित्य आत्मा कथमन्यथा कृतक इति? न्यूनतया किलायमपि अस्माद् प्रत्यवस्थातुसकृतज्ञः स्वयमवयवान् कलयति।

स्यादजयं परापेक्षमुदयं प्रलयं प्रति।　10
अभावस्यानपेक्षत्वं भावस्य परिनिष्ठिते ॥५४॥

§ ५९. न खलु अकृतकस्य नित्यत्वम्। उत्पादविगमक्रियाभावस्यैव क्षणिकस्यानपेक्षत्वम्। सिद्धासिद्धयोः तदयोगः। स्वयमात्मलाभं प्रति अपेक्षितपरपरिस्पन्दं नित्यं कथमकृतकम्? सर्वदेशकालादिसम्बन्धसातत्ये तत्कृतोपकारापेक्षम्। व्यतिरेकेऽनवस्था, सम्बन्धासिद्धिः। स्वयमात्मलाभस्य कथञ्चिद् व्यपदेशः। नित्यानित्ययोरचलयोः 15 अनुपकारेऽपि सत्स्वभावानतिक्रमाविशेषः। 'कृतकाकृतकयोः नित्यानित्यस्वभावप्रतिषेधः' इति दूषणोद्भावने भूयस्तथैकान्तप्रतिषेधे श(स)कलकलाकलापसमाश्लेषजात्यन्तरप्रतिपत्तिनान्तरीयके प्रकृतसाधने परं पराक्रमते। तथाऽनित्यं कृतकत्वादित्यत्रापि सर्वं समानम्। अविचालिनं (चलिनां) क्रियानिवृत्तिः, स्वभावान्तरलक्षणत्वात् सत्तायाः। तथाऽप्रतिपादने साधनदूषणसामर्थ्याऽपरिज्ञानम्। अज्ञाताऽकिञ्चित्क- 20 राभिधानेऽपि जयाभावः प्रकृतसाधनशक्तिवैगुण्येन।

साध्ये परतिरस्कारो जल्पः तच्छक्तिनो जयः।
तत्र मिथ्योत्तरं या (जा) तिः यथाऽनेकात्मविद्विषाम् ॥५५॥

§ ६०. सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात् इत्यत्र (त्रा) नेकाः प्रत्येकमाहोस्वित् समुदितम्? सिद्धसाधनम् सर्वस्य अनेकात्मकताविगानम्। एकात्मकत्वप्रतिषेध (धे) 25 विरोधः। क्वचिदेकताऽभावे अनेकत्वाऽसिद्धिः। अथ एकैकशः एकात्मकत्वम् अन्यथा नानात्वम्; अधिकरणं प्रतिज्ञान्तरं पुनरकिञ्चित्करम्। अथ एकत्वविधेः सामानाधिकरण्यम्; उभयदोषप्रसङ्गः साध्यसाधनसम्बन्धासिद्धिः। अथ तादात्म्यम्; सङ्करः, परस्परानुप्रवेशः। विशेषे नैकाधिकरणत्वम्। संश्लेषे पुनरनवस्था। अतो निरू (रु) पाख्यतया

---

१ अत्र "रोर्य" (सिद्धहेम० १-३-३६) इत्यनेन नाश-+एव=नाशयेव इति ज्ञेयम्।

§ ६७. सन्निकर्षाद् रूपज्ञानं यदि स्पष्टावग्रहः, तदर्थप्रतिघाते दीपरश्मिवद् अनियमप्रकाशप्रसङ्गः । स्फटिकाद्युपहितार्थप्रतिबिम्बोप (प) लम्भवन्छ (च्छु) तौ तदर्थाधिगमे प्रमाणान्तरेऽपि तदयमर्थमभिनिबुध्य श्रुतविकल्पे द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषविषयमधिगच्छति । व्यामोहविच्छेदे सति मतिश्रुतयोरेकत्वेऽपि कथञ्चित् 5 प्रतिभासभेदो अवग्रहादिवत् । तदेतदसद्रूपत्वेऽपि तत्समधिगमनिमित्तम् । तन्न तदविगम एव सत्यपि सारूप्ये स्थापनादिवत् ।

परंज्योतिरनाकारं पर्यायानुक्रमस्थिति ।

§ ६८. स्थापनाश्रुतिरेव व्यापिनी सर्वत्र समानाकारसम्भवः । सतोऽपि कश्चिदसदविशेषो व्यतिरेकासिद्धिः, समयस्मरणाभावे तदर्थाप्रतिपत्तिः । असत्यर्थज्ञा- 10 पने तदभ्यासमात्रेऽपि श्रेयोऽतिशयप्राप्तिः । विचित्राभि [स] न्धयः प्रतिपत्तारः । स्वाध्यायतपःप्रभावमूलं सकलमलं तदर्थज्ञानं तत्परिच्छेदसामर्थ्यं प्रतिनियतभेदमेतदाकारातिरेकेण व्यभिचारदृष्टौ तदावरणपरिक्षये निरुपाधिकप्रवृत्तिः, यथाप्रतिबन्धक्षयोपशमं वर्णपदवाक्यानुपूर्वीसंहारातिशयः परमाणुक्रमनिमेषलक्षणपर्यायसमासतः ताल्वादिव्यापाराहितसंस्काराः सदृशापरपरिणामेन शब्दवा (धा) राः शरीरावयव- 15 संस्पर्शिन्यः प्रत्यवमासेरन् ।

§ ६९. श्रोत्रं हि नाप्राप्यकारि चक्षुरिव प्रत्यासन्नाग्रहणप्रसङ्गः । तदभिघाते विशेषोपलम्भे दिग्विभागप्रतीतिः । अवगृहीतस्याप्रत्यक्षगुणत्वमयुक्तम्, अनाहितविशेषगुणोत्पत्तिविनाशाऽसम्भवात् । निरंशानां क्रमवृत्तौ अर्थान्तरव्यक्तिवद् अर्थोपयोगः स्यात् । कुतश्चिदक्रमस्य व्यक्तावनभिव्यक्तौ तदन्यवैयर्थ्यम् । ध्वनिविशे- 20 षाहितसंस्कारश्रुतिपरिणामी तदर्थमधिगच्छेत् । गुणपर्ययवद्द्रव्यम् । स्पर्शवतः क्रमवृत्तेः द्रव्यत्वं न कस्यचिदपरिणामिनः, पौर्वापर्योर्भागस्य परपरिणामे वर्णान्तरपरावृत्तौ असकलप्रतिपत्तिः। उभयपरिणामे अनुक्रमग्रहणनियमानुपपत्ति [ः] प्रतिवर्णप्रयत्नभेदेन कस्यार्चित्तिरोभावे परोऽपि तादृशपरिणामः समनन्तरमाविर्भवति कारणसामग्रीसन्निधौ । प्रत्यभिज्ञानेऽपि नानात्वम् । युगपद्भिन्नदेशोपलब्धेः (ब्धेः) सर्व- 25 गतत्वे सर्वत्र सर्वदोपलब्धिः । अपरिणामिनः ताल्वादेरभिव्यक्ता [वा] वरणविच्छेदात् क (क) संस्कारादिवियोगः ? सकृन्नानादेशोपलम्भो व्यापिनः प्रयासेऽपि न स्यात् । व्यञ्जकव्यापारे व्यङ्ग्यविशेषानियमः । करणसन्निपातौ (तो) पनीतश्रावणस्वभावः पूर्वापरकोट्योः दीपादिद्रव्यवद् अनुपादानानुत्पत्तिरपरिणामविघातः । तथाऽनुपालम्भेऽपि नित्यस्वभावान्तरप्रतिबन्धी । तथाहि—द्रव्यमेव भावाव्यभिचारि तदात्मक- 30 त्वाद्युराप (त्वाद् युगपत्) क्रमभावेऽपि तदेकक्षेत्रेमलचणवर्णमसदृशोपलम्भतः । तथा हि (तद्धि) शेषाप्रतिपत्तेरात्मा स्वामी तदर्थकृत् ॥६५॥

द्भेदः स्पर्शादेः संख्यादिवत् । प्रत्ययभेदिनोऽप्येकत्वं सामग्रीभेदेन कार्यकारणवत् । वर्णसंस्थानादेरकत्वे विप्रतिभासः, क्वचिद् दूरासन्नादिकरणगुणवैगुण्यतारतम्यभेदेन मुक्तादिविशेषस्य रूपज्ञानस्य प्रतीतिः, अन्यथा देशादिनियमेन चन्द्रादौ तथा संवादः कथञ्चिदविप्रतिसारः सामग्रीवैकल्येऽपि न स्यात् । वितण्डात्मतिरस्कारः सं (स) वैतण्डिको मिथ्यादृष्टिः नियमेन परतिरश्चिकीर्षया स्ववचनप्रतिघाती यथा सदस- 5 दात्मा क [श्चित्] ।

स्वभावपरभावाभ्यां वाचोवृत्तिरनेकधा ।

§ ६२. यदि स्वरूपेण अस्ति पररूपेणापि भावस्य क्वचिद्भावविरोधः । चेतनेतरविकल्पेऽपि न वस्तुविकल्पः । सत्ताविशेषेण प्रमाणस्य अप्रमेयत्वे स्वरूपं न स्यात् । प्रमेयस्याऽप्रामाण्येऽपि संवादाविशेषेण वेद्यवेदकयोः परस्परपरिहारेऽपि बहिर- 10 न्तश्च वेद्यता । विशेषेण व्यापारनिर्भासस्य केवलस्य दर्शनात् आत्मनः स्वयम् आत्मा- न्तरेण सत्त्वम् अनन्यवेद्यनियमात् । निर्व्यापारस्य व्यापारतो वृत्तिः उदयस्थिति- संहारविरहे एकाकारस्याऽदृष्टौ पुनः अनेकस्य तथा विरोधेन भावलक्षणवैधुर्यम् । सर्वे (र्वं) विकल्पातीतं तत्त्वमिति स्वामेव कृतिं स्ववाचा विडम्बयति । यदि पररूपेण असत्; तद्विविक्तस्वरूपस्य कथञ्चिदनुपलब्धौ पररूपाऽविशेषेण स्वरूपेणापि 15 इति; सोऽयमात्मानं विडम्बयतितराम् । संवृत्या स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां समारभयन् सुतरां विडम्बयति परमार्थविपर्ययेण । तथाऽपरपर (तथा पर) प्रसिद्धप्रमा- णेन § २.) "नाप्रत्यक्षं प्रमाणं न परलोकादिकं प्रमेयम् अननुमानमनागमं च" इति लोकविसंवादशास्त्रागमनिकायादयोऽधिकरणभेदेपि केवलम् आत्मोत्कर्षणार्थं लाभ- लोकपूजाख्यातिहेतवो वाग्वृत्तयोऽनेकधा, वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमः तत्त्वप्रति- 20 पत्तेरनङ्गम्, अन्यत्र आहोपुरुषिकातः । कल्पनातोऽनवस्था ।

शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्फ (ष्क) लदर्शनम् ॥५७॥
सञ्चयापोहसन्तानाः श (स) प्तैते जाच्य (ड्य) हेतवः ।
प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः ॥५८॥

यदद्वयमसंज्ञानं त्रिकमञ्ची (ह्री) कलक्षणम् ।　　　25
प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम् ॥५९॥

क्षणस्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम् ।
प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत् ॥६०॥

शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवतानि(ने)त्यलौकिकम् ।
शब्दः स्वयंभुः सर्वं [त्र] कार्याकार्येष्वतीन्द्रिये ॥६१॥　　　30

लक्षणम् अन्तर्ज्योतिर्मयम् अनादिनिधननिर्भासमात्मीयतत्त्वम् अर्थान्तरानपेक्षं चैतन्यवत्, मोहादिसम्बन्धान्वयस्व (व्य) तिरेकानुविधायिनः तादृशोऽज्ञानादयः तिमिरादिवत् स्वहेतुप्रतिपक्षपाटवे निवर्त्तेरन्। आलोकादयो दोषसंश्लेषविश्लेषहेतवः अण्ज [ञ्ज]नादिवत्, न्मा (मा) र्गाविगमाद् दूरेऽयोग्यानां परिनिवृत्तिः। साध्यसाधनमिथ्या-
5 सङ्कल्पाभिनिवेशो निसर्गतः पापीयान्, यथा आत्मज्ञस्वभावस्य व्यतिरेकिणी बुद्धिः अपरिणामिनोऽर्थोपलम्भेऽकर्तुः करणतया संविद्विषयं व्यवस्थापयन्ती स्वयमन्वयव्यतिरेकौ संसारमोक्षौ अनुया (मा) पयति। सर्वथा विशिष्टा गुणसम्बन्धविवेकतः पुरुषार्थसिद्धिरिति परस्परविरुद्धम्। तादृशो भावान्तराविशेषः। सत्त्वादिसामान्यगुणसम्बन्धेन चेतनानिवृत्तिरन्तःकरणसन्निधावदृष्टकल्पना अनवस्था, सामान्यविशेष-
10 समवायव्यपदेशे चेतनाव्यतिरेकेणात्मा मा भूदुपयोगलक्षणातिरेकतो अचेतनादिवत्। परस्परपरिहारस्थित (ति) लक्षणतया चेतनेतरात्मनोः चेतनेतरसमवायिविवेकतः समधिगमः परं निर्वाणम्।

§ ७४. स्वांशमात्रविषयेण (ण) निरंशपरमार्थेन सर्वथान्या(न्य)त्वेद्यविरोधे परदुःखमजानतः करुणैव तावन्न भवेत्। विभ्रमतो भावे विभ्रमो न स्यात्। दुःखविन-
15 श्वरस्य भावोपलम्भेऽपि सिद्धसाधनी [य] परतन्त्रो देवानांप्रियः। सन्तानाभावसाधने समानः प्रसङ्गः। प्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तेः अन्यथाभावः स्वपूर्वापरस्वभावमतद्धेतुफलव्यावृत्तं मानसं तत्त्वं तत्परं विच्छिनत्ति स्वयमुपेक्षमाणः कृपात्यु (कृपालु) रिति कष्टमनात्मज्ञतापरिगत तमः। तदीदृशे संज्ञान्तरविकल्पेऽपि स्वपरसन्तानभावनया क्वचिदुपकारापकारसङ्कल्पहेतवः स्नेहादयः प्रवर्त्तेरन्। भेददर्शने सङ्कल्पाभावकल्पनायां
20 संज्ञान्तरसमावेशे ममः समाधिः। आत्मवतां विशेषतः तत्स्वभावगुणदोषविवेकतो हिताहितप्राप्तिपरिवर्जनं यथा विपरीतचेतसां सकलदोषसन्ततयः कारणपरतन्त्रेऽपि कार्यजन्मनि तत्करणनियमवैधुर्ये (र्ये) सङ्कीर्येरन्। निरभिप्रायवृत्तौ अनिवारणे वंशवत् आदौ त्रिलक्षणस्यान्तेऽप्यनन्ता जीवराशयः प्रदीपादेः अन्ते क्षयं (य) दर्शनेनार्थाभावसिद्धिः। एकत्र दृश्यादृश्यस्वभावप्रसिद्धे निर्णयेऽनिर्णयवत्, भावस्वभावोऽयं यत् कथञ्चिद्
25 भवित्येव (भवत्येव) भव्यवत् सदैवान्यथा न भवेत्पर्यवसाने परिणामिनः कारणपरम्पराभावप्रसङ्गः। स्वतौ (तो) विवर्त्तशक्तिविरहिणो बहिरङ्गे सुतरामसामर्थ्यम्। उपकार्योप [का] रकसन्निधानात् सन्निधानसाम्ये परस्परविवर्त्तग्रन्थीनां देशकालाद्यपेक्षिणां प्रभवनियमः। तन्निरपेक्षाणां संयोगविरोधः। प्रत्यासद्वि (त्ति) विप्रकर्षविकल्पप्रत्यस्तमयेन व्यवधानेऽपि प्रसङ्गोऽनवस्था च। तदयम् अर्थप्रवृत्तिनिमित्तप्रदेशादिसहचारी
30 विनश्वरविकल्पविषयः निवर्त्तते (निवर्त्तते) न प्रवर्त्तते इति दुस्तरं दौःस्थ्यमापद्यते। तादृशः पुरुषपरिणामस्वभावेषु तदभावप्रसङ्गात्तदधिकारे जन्ममरणादिर्मा भूत्। विभ्रमे तद्विकल्पविभ्रमेण विभ्रमोऽपि न सिद्ध्येत्। परिणामे यथा कार्यकारणनानैकत्वं सुक्रम्

समानपरिणामार्थे सङ्केताच्छब्दवृत्तितः ॥ ६४ ॥

§ ६५. क्वचित् समयानपेक्षणे शास्त्रमपौरुषेयमनर्थकवद् । अनादित्वे व्यवहारवद् व्याख्याविप्रतिपत्तौ परमगहने कः साक्षी यतो निःशङ्कं चेतः पुरुषः ? स्वयंकृतसमये तदर्थदर्शी कथञ्चिद् व्यवहारिणः प्रवर्त्तयेत् । नित्येऽपि शब्दार्थसम्बन्धे अनवस्था-प्रसङ्गः । सङ्केतदर्शिनः तत्प्रतिपत्तौ तदन्यतमे चलत्यचलति वा अचलश्चलो वा विप्र- 5 तिपिद्धः । नित्यानामनित्यानां वा सब (सम्ब) न्धोऽनुपकारविशेषणे सिद्धस्य परतन्त्रतायोगो व्यतिरेकाव्यतिरेकयोरनवस्थासङ्करप्रसङ्गः । तत्सङ्केताद्यभिव्यक्तौ अन्यकल्पनासामर्थ्यम्, उभयोरव (च) लात्मतया देशकालावस्थाभेदेन उपलम्भास-म्भवः अन्यत्र प्रतिपत्तेः । अन्यत्र सङ्केते अतिप्रसङ्गः । सामान्यसन्निवेशिनि तथा समवा-याविशेषेण नियतवृत्तेर्विशेषाविशेषव्यपोहवत् । स्वभावभेदानुपलब्धेर्ज्ञानाभिधानानु- 10 प्रवृत्तेः, अन्यथा सम्भवो द्रव्यगुणसमवायेषु प्रसङ्गः । समानप्रत्ययजनकेषु तदव्यति-रेकेण समविषमतया सम्प्रज्ञायमानेषु जातिधर्मपरिसमाप्ता च त (स्तावत) त्कारणव्या-वृत्तावसाधारणत्वम् । अभावविशेषे जातिवत् समानप्रत्ययः, समानो नाम एकज्ञाननी-लादिवत् । चक्षुरादिज्ञानेऽपि सर्वत्र सर्वथा सारूप्यव्यभिचाराभावः, ताद्रूप्यनियम-सम्भवः । दर्शनेतरयोः सर्वथा भेदे पश्यतो [ऽ] स्मृतिरस्मृतेरपरामर्श इति विषयज्ञानवत् 15 समनन्तरयोर्मतिश्रुतयोः स्वभावभेदे वेद्यवेदकलक्षणम्, तदेकार्थविषये (य) योरभि-न्नात्मना बहिरपि शब्दार्थसङ्केते तदर्थप्रत्यभिज्ञाने वा सत्यार्थता, समानैकात्मप्रतिपत्तौ सत्यानृतार्थताभेदः । समवायसाकल्यवैकल्याभ्यां शाब्देऽपि आभिनिबोधिकवद् भिन्नप्रतिभास एकतानात्वम् । यथार्थदर्शनादिगुणवैगुण्याभ्यां प्रवचनेतरव (वं) शसंवृत्तौ सर्वविशेषकल्पनायामाप्तागमपदार्थप्रमाणप्रवृत्तिफललिङ्गचारित्रं मा भूत् । स्वांशमात्रा- 20 वलम्बिनो नार्थप्रतिपत्तिः ।

§ ६६. एकत्र बहुभेदासम्भवे मिथ्याविकल्पो न स्यात् । सर्वथा विभ्रमे नीलादिविशेषवद् देशकालादिभेदेऽपि दृष्टसमानार्थे विकल्पयतः तद्विषयताप्रत्यक्षवद् देशादिनियमः, अन्यथा स्वप्नवद् दूरासन्नकार्यकारणभावप्रतिविधानानैकं समनन्त-रसाधारणमात्मानं संविदत् (न्) स्वरूपतत्त्वविभ्रमं वा साधारणं प्रतिलक्ष(तिक्ष)णं त्रिका- 25 लगोचरानन्तपर्यायदर्शी दोषावरणक्षयोपशमवशाद् दर्शनविषयसामान्यविशेषात्मानं समासादयेत् स्थापनादिवत् । प्रतिमादौ यथासमारोपं व्यवस्थापिते तत्समानविक-ल्पमात्मानं धारयति, समानेऽपि सर्वत्र तथाऽर्थदर्शनादिगुणयोगवियोगः तत्त्वमि-थ्याप्रतिपत्तिः । सत्यां प्रतीतौ तदनुमानं श्रेयोऽवाप्तिपरिहरत्तद्गुणदोषविवेको वा सन्निधिवत् तत्स्थाया (तच्छाया) प्रतिपत्तौ तदनुमानं स्वरूपप्रतिभासातिशये तथा- 30 परिणतम्, न चैतद् युगपद्भिन्नदेशोपलम्भे स्वपरप्रत्यक्षे विभ्रमकल्पनाविरुद्धम् ।

तथा संसारस्थितेरेवानुमानात्मभूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणनियमवत् वरमागमात् प्रवृत्तौ प्रत्यक्षाद्यविरुद्धात् प्रवृत्तिरिति ।

सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थाभिधायकः ।
अहेतुरन्यहे(?) क्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥६८॥
5 अदृष्टदोषशङ्कायामन्यत्रापि प्रसज्यते ।
अहं ममाश्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥६९॥
कर्मणामिति संख्या (सत्कृत्य) प्रेक्षाकारी समीहते ।
कृपा स्वपरसन्तानस्थानसंहारकारणम् ॥ ७० ॥
अचेतः करुणात्यन्तमन्यदुःखमजानतः ।
10 कूटस्थस्य सतः साक्षाददृश्यानुभवात्मनः ॥७१॥
सुखादि विषयः शब्दाद्यविशेषोवि (षधि) योन्यतः ।
गुणयोगवियोगाभ्यां संसारपरिनिर्वृती ॥७२॥
सम्प्लवः सर्वभावानां शास्त्रं दृष्टेष्टबाधितम् ।

॥ [इति] प्रमाणसङ्ग्रहे सप्तमः प्रस्तावः ॥

15

८. अष्टमः प्रस्तावः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविधानप्रतिषेधतः ॥७३॥
सहक्रमविवक्षायां सप्तभङ्गी तदात्मनि ।

§ ७८. सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि स्वपरभावानुगमव्यावृत्तिवत् परापरस्वभावानुगमपरावृत्तिप्रसङ्गेन तत्त्वमवकिरन् कथमविचार्यः ? तदाऽनानैकत्वं कारकज्ञा-
20 पकव्यवस्था [प] कत्वम् । विभ्रमे विभ्रमः । स्वाभिलाप्यानभिलाप्यत्वम् अभिलाप्यानभिलाप्यबहुत्वात् । प्रतिभासभेदेऽपि मतिश्रुतयोः अन्वयव्यतिरेकार्थविषयत्वं शब्दार्थग्रहणं प्रत्यभिज्ञानादेरात्मनो विशेषे प्रत्यक्षवत्तदभावः, अन्यथा सन्तानान्तरवत्तस्य इतरथा भावः । तदेकार्थाविषयत्वं धर्मभेदेऽपि तदविशेषात् । स्वभावाभेदे जात्यन्तरं स्यात् । तत्र अर्थभेदाऽभेदौ सदसन्तौ व्यतिरेकेण निरामयत्वात् । वृत्ति-
25 विकल्पविरोधे सम्बन्धोपकाराद्यनवस्थादोषैः स एव सर्वथाऽखण्डिताकारस्य प्रत्यक्षवत् शब्दबुद्धावप्रतिभासने तदभेदाभावमवधारयन् वा तत्प्रत्यक्षप्रतिभासभेदानिदर्शनेन तद्विषयावि (धि) गमविकलविकल्पेन तत्प्रतिपत्तिविप्रतिषेधेन ध्रुवत्वापरिणामिनि

§ ७०. सर्वस्य निर्दिष्टस्य सर्वथा नोपकारकत्वम्। शरीरादिपरिणामोपयोगसाधनेन गतिस्थितिकरणविघाते तदनुपकार्ये भोक्तृत्वविरोधः। सम्बन्धासिद्धिः उपकारः परिणामाव्यतिरेकेणानवस्था। सर्वत्र तद्गुणोपलब्धावधिष्ण्यानातिरेकः तन्नियतवृत्तावतिरेकव्यतिकरसङ्करप्रसङ्गः। तद्गुणान्तरसमवायाविशेषस्वात्मान्तरस्यापि कालाद्यविशेषेणेच्छादिसमवायनियमः कुतः संसारः? चेतनस्यापि नित्यमदृश्यस्य स्वयं विज्ञाने 5 न बुद्धिरचेतना अतीतकार्यकारणतया विकारिणमात्मान नं) कथं दर्शयते? तदुपलम्भानिवृत्तेरविशेषेण तद्वृत्तिसङ्करः। तदात्मानतिशायनं (?) यदि विग्रहमात्रव्यापी न भवेत् सहव्याप्तिरुपभोगे न स्यात्। परस्यैव संसारे नात्मनः कर्मफलसम्बन्धः। सन्तानस्यापि निरू (रु) पाख्यतया न संसारः।

साधनं नत्व (तत्त्व) विज्ञानं चारित्रं समयस्थितिः। 10

§ ७१. आत्मेतरसम्बन्धवियोगकारणतत्त्वबुद्धेरस्ति कायाधिकरणस्य तदनुष्ठानविशेषतो मोक्षः, तन्निसर्गादवि (धि) गमः, तद्विपक्षवृत्तेः संसार आत्मसुखदुःखतर्पणादिप्रवृत्तिनिवृत्त्योरकारणविशेषौषधवत्। अन्यतरवैकल्येन परस्याप्यपरिसमाप्तिः। साध्यसाधनयोरनवयवेन विज्ञानस्वभावव्याप्तौ प्रकृतविषयव्यापारविशेषापेक्षया साधनस्य त्रैविध्यम्, सकलात्मपरिज्ञानेऽपि विरतविग्रहसम्बन्धस्य परत्वम्। 15

सम्बन्धयोगतः स्थानप्रस्थाने तद्विशेषतः ॥६६॥

§ ७२. चेतनस्यार्थान्तरसम्बन्धवैकल्ये न शरीरस्थितिः। संयोगपरिणामतः कार्यकारणवद् अनादिसम्बन्धविवर्त्ती सुवर्णपाषाणादिवद् विशेषोपपत्ते [ः] ज्ञानस्वभावस्य मोहादिमूर्त्तानुप्रवेशे मदिरादिवत्। मन्त्रादेस्तादृशोपयोगाविरोधः। धर्मादेरज्ञानस्वभावे तदविशेषः। चेतनस्य हीनस्वाप (स्थान) प्रापणं बन्ध [ः] संस्कारवशात् 20 देशान्तरप्राप्तिः देवदत्तादिवत्, परापरकर्मप्रबन्धात् परवंसो (शो) त्पत्तिः वितटपात (बीजपादप) वत्। सत्यपि परस्यरंदे (स्परं भेदे) योग्यतालक्षणः सम्बन्धः। मूर्त्तानां च स्निग्धरूक्षताभावे तादृशो वृत्तेः। नायं प्रज्ञागुणः तत्प्रकर्षापकर्षनिर्ह्रासातिशयजातीयाभ्यासविवर्त्ती क्रोधादिकर्मोपादानयोग्यताम् आत्मनः सूचयेत्। युगपद्भाविनोर्वासनानियमः। परिणामान्तरेऽपि तदन्वयेन अविकलतया युगपदुपलम्भ- 25 प्रसङ्गः। तदुद्भवाऽभिभवस्वभावप्रतिषेधे तिरोभावाऽसम्भवः। इतरस्यापि तदात्मकत्वात्। चेतनोपतापहेतवः कर्मणो न विशिष्यन्ते। तदयं दोषप्रभवः सति हेतौ च कदाचिदुपरमते।

आत्मनो दोषसम्बन्धम् आत्मज्ञः सन्निवर्त्तयेत्।

§ ७३. निसर्गतोऽनवरतव्यामोहसमुदयवशात् स्वरसतो वृक्षप्रसादवृक्षदोष- 30 प्रसरस्य प्रतीकारो न आत्मात्मीयप्रज्ञाप्रकर्षप्रतिपक्षः प्रथमवत्। ज्ञानदर्शनोपयोग

शब्दपर्यायः शाबलेयादिवत् प्रकृतिभेदेऽपि देशकालादिभेदानुविधायिनां गवादिविकल्पोपजननं समानवर्णभागानां परपरिहारस्थितिः। पदविभागवद् अनवस्थितानाम् एकवस्तुभावसम्बन्धविवेकेऽपि वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमवत् सतो न समुदायसमुदाय- (यि) नियोगः। तथाहि—गोशब्दार्थयोरश्वादिव्यावृत्तेः गोबुद्धिजनकत्वं तुल्यम् वाक्या- 5 न्तरवत्, वाच्यवाचकव्यावृत्तावपि शावलेयादिभेदान्वये तदर्थाभिधानप्रत्ययानाम् अतद्व्यावृत्तितुल्यरूपं गवादिवत्। क्वचिदेकत्र ऐक्यव्यवहारासम्भवः परत्र कल्पनावृत्तेः।

नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः तथा सङ्केतसम्भवः ॥७४॥

§ ८१. स्वतो योग्यताविधेरयोगः, प्रयत्नतोऽपि चन्द्रदेशकालगतिनियमवत् सम्मोहविच्छेदः, प्रकरणादिवशात् नानार्थवाक्यानामेकार्थनियमः, सिद्धे तदर्थसम्बन्धे 10 समयव्यपदेशः, तद्वचनोऽपि यथाभिप्रायगंत (गत) जल्पव्यवसायभृङ्गग्राहिकया तर्हि सम्मोहनिवृत्तिः सम्बन्धाभिज्ञा [न] स्याभ्यासातिशयविवर्ते साधारणासाधरणविष [य] योः सम्भवत्सङ्केतेतरये ऽमये फलाभावः। स्वयमकृतसङ्केतार्थप्रतीतिः तत्कालभाविनोरन्वयः, तदयं स्व (स्वा) भाविको ज्ञानज्ञेयसम्बन्धवत् सामग्रीविशेषोपपत्तेः।

सम्बन्धान्तरतो नास्ति साध्यसाधनसंस्थितिः।

15 § ८२. सत्यपि शब्दार्थयोः कार्यकारणभावे अयोग्यतायां न तत्प्रतिपत्तिरर्थान्तरवत्, विप्रकृष्टार्थविवक्षाविशेषसम्बन्धासिद्धेः, अर्थज्ञानविवक्षाप्रयत्नवायूदीरणाकरणव्यापाराविशेषे व्योमादिविशेषसम्बन्धवत्। तदेते प्रत्यर्थनियताः प्रतिनियतवृत्तयः स्वयं यत्र योग्याः तमर्थमवगमयेयुः, नर्ते सम्प्रदायात् ग्रहादिगतिनियमो रसवीर्यविपाकादिर्वा संवादयितुमशक्यो यतः तत्प्रतिबद्धजन्मनि विवक्षामेव प्रतिपादयेयुरिति।

20 **शब्दाः शब्दान्तरं सङ्ख्याकालकारकलिङ्गतः ॥७५॥**

§ ८३. पदवाक्यान्तरेषु वर्णपदसारूप्येऽपि भेदः तदर्थवत्। नहि सङ्ख्यासङ्ख्येययोरभेदो विप्रतिभासात्। क्वचिद् गुणगुणिनोरन्यतरदर्शनेऽपि तदद्दृष्टेः द्विचन्द्रादिवदेकत्वाऽनेकत्वयोः परस्परपरिहारेण गुणिनो विशेषणात्। कालस्य क्वचिदभेदकत्वे पूर्वापरस्वभावप्राप्तिपरिहारेणान्वयिनाऽपि निरुपाख्यत्वम्, कारकभेदभेदिनोऽभिधाना- 25 योगः। सकृदपि कार्यविशेषोपलक्षितार्थशक्तिभेदानां शक्तिमतोऽर्थान्तरत्वे अन्यतरविलोपः। कारकभेदानुविधायित्वे कार्याणां वैश्वरूप्यमकारणं स्यात्, अन्यथा स्त्रीपुरुषादिभेदिनोपयोगः (?)। क्वचिद् विशेषनिर्णयाभावे ब्राह्मणत्वादिवत् तदभिधा [ना] त् तदभिधानयोग्यतालक्षणं सम्प्रदायाविच्छेदे समक्रियाविशेषेण शब्दप्राधान्यतो नया वस्तुनो [ऽ] साधारणस्य विजातीयव्यवच्छेदनिबन्धनाः पर्याया न सङ्कीर्यन्ते। अभावा- 30 न्तराख्यातो भावान्तरासिद्धौ कृतकानित्यादिवत् व्यापारव्यतिरेकिणोऽभावाऽविशेषेण तावता सर्वार्थपरिसमाप्तौ कारककल्पनाऽभिलापिनी निष्कलेषु भावेषु वेद्यवेदकनिर्भा-

उपलम्भव्यवस्थायाः सामग्रीभेदेऽपि एकत्र प्रत्यवमर्शे बालादिवद्, भावान्तरस्मरणाच्च । निरंशस्याऽनेकत्र वृत्तिविरोधः । आत्मवृत्तेरर्थान्तरसम्बन्धाभावे साकल्यैकदेशतः यामः स्वयमंशे स्ववृत्तिरनवस्था च । वा (क) स्यचित् सकलपरिणामिनः कर्मावरणचित्रात्मनोऽधिष्ठानभेदे सकृत् सम्भवप्रसङ्गेन देवदत्तवत् । पुद्गलानाम् असङ्ख्येयं तत्त्वं शब्दादिभेदतः, परिणामादेरेककारणप्रत्यनीकनियमे भेदानामविरोधः 5 चैतन्येषु प्रसङ्गः, तदत्यये निरू (रु) पाख्यत्वं संविदाञ्च (दां त) दीक्षणव्याप्तेः ।

§ ७५. सुखादिसंविद्विषयस्य तत्परिणामविज्ञानात्मनः परत्रावृत्तावचेतनज्ञानसङ्गम आत्मकार्यपरिसमाप्तिः । अज्ञानस्य वा सुखादित्वे शब्दादिव्यतिरेकिणोऽभावः । क्वचिद् भावनाविशेषे विशेषदृष्टौ तदेतव (तद) निमित्तमिति नियोगासिद्धौ चैतन्यपरितापवत् परापरभाविनियमभेदाभेदयोः कुतः प्रकृतिविकारव्यवस्था ? स्वयमवि- 10 कारिणो विकारकल्पनायाम् आत्मनोऽपि गुणान्तरस्य तथापरिणामे निमित्तमात्राविशेषेण समवायनियमो मा भूत्; समाचार्या (समवाया) विशेषतो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषनियमो वा । न खल्वारम्भकावयवान्योन्यावाप्तिर्जन द (?. तिरेकेण प्रभवप्रध्वंसो यतः पदार्थभेदः । सम्बन्धविशेषस्पर्शादिमतामनियतस्निग्धरूपाणां भावात्, येन सूक्ष्मकठिनादिविशेषाः स्थूलद्रव्यादिकमारभन्ते, तत्समस्थाने न तथा भवेयुरलर (लम) 15 र्थान्तरकल्पनया । तूलोपलादिस्पर्शवैश्वरूप्ये क्वचिद् विशेषः, जातिभेदे कथमानन्त्यं न स्यात्, भूतानामत्यन्तसम्बन्धगन्धादिरसङ्करे चित्रः समाधिः ।

§ ७६. पार्थिवादिविशेषेषु पुद्गलः स्पर्शादिमान् खलस्नेहो घृ (धा) रणादिभिर्गुणपर्यायैः स्पर्शादिस्वभावान्वयैः अयं सुखदुःखादिविज्ञानोपयोगवद्व्यावृत्त्यनुगमात्मकः । तथाहि—नायं स्पर्शः संस्थानादिमान् नापि तत्स्वभावः स्पर्शादिमान् तद्व्यति- 20 रिक्तो निरुपाख्यः । परस्परविवेके स्वभावप्रतिबन्धो मा भूत् । तदुद्भूतवृत्तौ इतरेतरस्वभाव अनुभूतविरोधे स्वभावस्य स्वभावपरिहारे अत्यन्तनिवृत्तिप्रसङ्गः । परापरपर्यायावाप्तिपरिहारस्थितिलक्षणोऽर्थः स्पर्शादिविशेषक्रमवर्त्ति तविद्गमा (ताद्विगमा) सम्भवे अस्त्यन्तरम् उत्पादविगमध्रौव्यवत् प्रगलेतरयोः सम्भवस्थानपरिणामविरोधेऽपि । न वै दु (दृ) ष्टाद् गरिष्ठमिष्टम् । तद्विशेषोपपत्तौ— 25

अन्त [:] ज्योतिः स्वतः सिद्धमनुमानानुरोधतः ॥६७॥

§ ७७. स्वतः सिद्धं चै [त] न्यं भूतेभ्यः परम् । विरुद्धकर्मविशेषकल्पनायां सम्भवानुपपत्तितः तत्त्वव्यवस्थितेरन्यथाऽपरिसंख्यानम् । परस्परपरिणामस्थितौ समुदायं (ये) तत्स्वभावाभावो व्योमादिवत् । शरीरादेः पुंगल (पुद्गल) स्वभावानतिरेकः । तथा च स्कन्धवर्दननिवृत्तिः प्राणादीनां सामग्रीसाकल्येन वृत्तेरसक्ति (?) क्षयोपलक्षणादौ 30 प्रमाणान्तरं विरुद्धम्, तन्मात्रानुबन्धिनि तदयोगः । परिणामादेः तुल्यः पर्यनुयोगः ।

व्यवत् । जात्यन्तरकल्पनायां च तद्विधिप्रतिषेधात्मकत्वम्, तदतदुभयानुभयविकल्पेन प्रत्येकमपि चक्रकम्, सर्वनयाभासप्रतिपादख्यातिसंख्येयत्वेऽपि वर्णानुपूर्वीभेदानां तद्विशेषवस्तुविकल्पानन्त्यम् ।

अन्योन्यनिरपेक्षाणामप्रमाणप्रमेयता ।

5 §८८. सकलकलाकलापमया सत्ता परस्परविधिप्रतिषेधपरमार्था सूक्ष्मस्थूलसंस्थानादिभेदमूर्तिवत् प्रमाणप्रमेयैकान्तप्रभेदपरिहारेण परस्परपरिग्रहपरिणामसिद्धिरिति ।

द्रव्यपर्याययोर्भेदमेकान्तेन प्रपञ्चयन् ॥७८॥
नैगमः सप्तधा शास्ति हि भावानां व्यवस्थितिम् ।

सर्वमेकं सतो [ऽ] भेदादिभि।र्मिथ्यार्थसङ्ग्रहः ॥७९॥
10 स प्रत्यस्तमिताशेषद्रव्यपर्यायभेदतः ।

आत्मादिभेदमाश्रित्य व्यवहारं प्रतिक्षिपेत् ॥८०॥
पर्यायाद् व्यतिरेकाणामन्वयप्रतिपत्तितः ।

अक्रमं स च भेदानां ऋजुसूत्रो विधारयन् ॥८१॥
कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्पतः ।

15 शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं समुद्दिशन् ॥८२॥
अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रिता (या) श्रयः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविकल्पतः ॥८३॥
नयद्वयविभागेन नैगमादिरनेकधा ।

मतिश्रुतादौ भेदानां स्वपरप्रतिवेदिनाम् ॥८४॥
20 कल्पना चार्थसम्बन्धेनान्वेति नयलक्षणम् ।

प्रमाणनयनिक्षेपैरात्मादिप्रविभागतः ॥८५॥

सम्प्रेक्षे नितरा [रां] सिद्धं तत्त्वज्ञानमनन्तरम् ।

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहे अष्टमः प्रस्तावः ॥

विविधधर्माध्यासविकल्पविषयताऽविरोधेन प्रमाणानुसारेण लोकोऽयं स्वयमेव विलोपयन्तं व्यवस्थापयेत् ।

§ ७९. स्वतः सतां सामान्यविशेषाणाम् असताश्च द्रव्यगुणकर्मणां स्वभावभेदं प्रकल्पा (ल्प्य) प्रयोजनसामर्थ्यसम्बन्धिनियमव्यतिरेकेण परिणामिनः कथञ्चित् सदसदसन (दन) भिलापतद्योगविकल्पविधानतः प्रकृतिं क्रमयेत् । स्वभावान्तरग्रहत्यागतः 5 क्रमयौगपद्यविवक्षायामभिलापाऽनभिलापौ, तदुपाधिभेदेन जात्यन्तरस्य तथा प्रतिपादने सम्बन्धो ग्रहणनियमासम्भवः । सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थन [य] संश्रयात् सामान्येन तत्त्वग्रत्यवस्थितोऽभेदौकान्प (भेदैकान्तप) रिग्रहः सर्वविशेषाणां सत्ताविशेषात्, सदेव प्रत्यक्षं सर्वतो व्यावृत्तस्य बुद्धावप्रतिभासने कालादिविशेषस्य विकल्पविषयत्वम् । नहि कालादयः प्रत्यक्षाः, तेषामविशेषे परापरभावासिद्धेः, उपाध्यन्तरकल्पनायाम् अनवस्था- 10 ऽप्रतीतिरित्यतिरेके नीलादयो न स्युः । एकत्रानेकधर्मानुपपत्तेः । समुदायस्य परस्परपरिग्रहाव्यवधानानुपपत्तिर्नार्थान्तरवृत्तेः, निर्व्यापारे चेतनादिविकल्पे संहृताविकल्पावस्थायां सन्मात्रानिवृत्तेरिति कारकज्ञापकव्यवस्थाविलोपे क्षणिक वर्षि (?) वादः स्यात् । सदसत्प्राप्तित्यागेतरविकल्पविशेषेण तदतत्प्रवृत्तिसङ्करः । विभ्रमेतरविवेकस्य प्रमाणेतरभेदनिष्ठाता (ष्ठता) दृशः सकलतत्त्वप्रतिष्ठापने स्वपरभेदव्यवहारपरिग्रहः । स्वलक्षणम् 15 आत्मानं यदि परैर्मिश्रयति सर्वथा परत्वम् । अनेकधर्मसम्बन्धेऽप्येकत्वहानिरनानैकत्वं अतो [ऽ] न्वयो भावलक्षणं परिकल्पितपरार्थान्वयवत् । क्वचित् सामर्थ्यासिद्धिभेदेषु नैरन्तर्यादिव्यतिरेके [ऽ] निष्ठा कार्यस्य सूक्ष्मस्यादर्शने न कार्यदर्शनं स्थूलादिप्रतिपत्तिः ।

§ ८०. इमे नैरन्तर्येऽपि व्यावृत्तिस्वभावा भावाः शक्तिप्रतिभासादिभेदे, ते शुद्धाशुद्धद्रव्यपर्यायपरिग्रहविभागतोऽर्थनयाः । सर्वे सर्वेषामर्थरूपत्वे समयात् परतः स्मृतिः । 20 न वै शब्दमर्थं प्रतिपादयति । सत्यप्रतिपत्तेः स्वभावोपलम्भेऽपि समयस्मरणभावे भावात् तदनुस्मरणेऽपि लिङ्गवत् प्रतिबन्धासिद्धिः । स्मरणहेतुरर्थोऽपि लिप्यादिवत् वस्तुदर्शने नाम संस्काराभिव्यक्तेः समाने विज्ञातेतरस्वभावे निमित्तनैमित्तिकभावेऽप्यविचारे वा न कश्चिद्विशेषः । सङ्केतस्मरणकरणनियमाभावे अर्थोऽर्थम् अविनाभाविनं गमयेत् । सदसद्विषयविवेकिनो अर्थक्रियां प्रति स्मरणेऽप्यविशेषः । प्रयत्नतो 25 विशेषेषु समयावृत्तिरसमितविशेषाधिगमे अतिप्रसङ्ग इत्यवाच्यता शब्दपर्यायतः तत्त्वं सदृशापरदर्शने हि शब्दपर्यायोऽर्थः, स्वभावानन्वयात् श्रवणग्रहणयोग्यताव्यावृत्तिः, यदि नार्थपर्यायः तत्स्वभावनिवृत्तिः उपलम्भविषयस्य पूर्वापरकोट्योरसम्भवः, तत्तद्व्यान्तरकारकधर्मो यं यं नियमेन ताल्वादयः तादृशं सन्निधापयेयुः प्रदीपादिवत् । सर्वत्र सर्वस्य सर्वदा व्यक्तिः सन्निधानो (ना) विशेषेण प्रतिनियतवृत्तीनां प्रकाशनियमा- 30 भावः । सर्वत्रोपादानसम्भवेऽपि कारणानां प्रत्यर्थव्यापारभेदः । तदयमर्थः अनादिर्न

श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥

-शुभचन्द्रः

सेन व्यापारयति द्रव्यपर्यायनयद्वयप्रविभागे प्रमाणप्रमेयभेदेषु परस्परं प्रतिक्षेपैकान्तपरिग्रहः। स्वहेतोरेव निर्वृत्तस्य कार्यतोऽनुपकारे कारणस्य पारतन्त्र्यानुपपत्तिः, अर्थ एव ज्ञानं गमयेत् सन्निधाने तथानिर्भासनात्। संवादनिरपेक्षस्य प्रामाण्यासिद्धेः।

प्रत्यक्षं सर्वविज्ञानं स्वरूपस्य स्वतो गतेः।

§ ८४. अर्थाधिगमस्य तादात्मा (त्म्य) मनात्मविदोऽन्यत्र प्रामाण्याविशेषात्। परस्यार्थविदः तुल्यः प्रसङ्गोऽनवस्था च। स्वविषयनिर्भासाविवेकेन क्वचिद्स्पष्टं प्रमाणसामग्रीविशेषतः प्रमाणान्तरव्यवस्था मा भूत्। विषयव्यवधानेऽपि सन्निकर्षाऽविशेषः सुखादिवत्। तदतद्रूपज्ञानं तद्विषयतानुपपत्तेः सकलनिष्क [ल] स्वविकल्पितेतरस्वभावनियमः। साक्षात् सा (स्वा) कारमर्पयतः तत्प्रतिपक्षेऽतिप्रसङ्गः। 5

परोक्षपरतन्त्राणां स्पष्टाकारविवेकतः ॥७६॥ 10

§ ८५ यथास्वं विभ्रमविवेकविकलं तदपरिस्फुटं प्रतिसंवेदनेऽपि भेदानामवग्रहादेः परतो निश्चयं क्वचिदवगृहीते संशयादेरभावः समीहितेऽप्यनधिगमे निर्णयस्य विगते वाऽवधारणाभावे न स्मृतेः इत्यकिञ्चित्कारारेक (का) विपर्यासपराक्रमः। परिणामपाटवातिशये संवादशङ्केः सदा विभ्रमेण तथाभावस्यापि कुतश्चिदकस्माद्ग्राहिणामाकाङ्क्षाऽनिवृत्तिः। 15

प्रक्रमार्थाविशेषेण श्रुतौ भेद [ः] परिस्फुटः।

§ ८६. क्वचिद् यथाश्रुतमवगृह्णाति, पुनः समीहमानो निर्णीतिं स्मृतिबीजमाधत्ते वा स्वभावोपलम्भोपयोगसंस्कारविशेषः, संहृतविषयसाधा हि सम्रुपलक्षितविशेषसङ्ख्यानेऽपि शब्दः प्रत्ययः संशयादिवत्। अभिलापानपेक्षो मतिविकल्पः सन्निहितविषयावग्रहसमीहावायधारणासमानानुसरणसंकलनपरामर्शाभावे तन्नामविकल्पविकलतया 20 वर्णपदवाक्यानुपूर्वीवत् वर्णावयवानुसरणविकल्पे तदाख्याकल्पनायामनिष्टानुषङ्गः। समक्षसजातीयसम्बन्धानुसरणचिन्ताप्रकर्षेण तद्विशेषाभिनिबोधः तदभिधानमपि सन्निवेशयेत्। साक्षादनुभवात्मनः स्मृत्यादेरभ्यासविशेषे पाटवोपपत्तेः। दूरदूरतरादिभेदेन स्वतोऽर्थं प्रति संयोगसमवायतदनुदयमनुभवस्वभावनिर्णये परापेक्षः कथमर्थं निष्ठापयेत्। सकलनियमग्रहेऽविकलसामग्रीजन्मनां सर्वथा विषयत्वं प्रतिबिम्बोदयवत् 25 तथा परिणतेरन्यथा प्रतिभाससम्भवे बुद्धेरपरत्र न कश्चिद्विरोधः।

आत्मज्ञानादिभेदानामानन्त्यं नयचक्रतः ॥७७॥

§ ८७. द्रव्यपर्यायभेदे तद्भाव उत्पादविगमध्रौव्यविरहे वर्णव्यतिरेकवद्। उभयकल्पनायामुभयदोषः, अनुभयवद् अन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणानुगमे प्रमाणप्रमेयव्यवहारनिवृत्तिः अनवस्था। सर्वथाऽवक्तव्यकल्पनायां सर्वदोषप्रसङ्गः सर्वथा वक्त- 30

९. नवमः प्रस्तावः ।

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते ॥८६॥
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ।

§ ८६. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, तदेव प्रमाणं न शब्दादिः अन्यत्रोपचारात् । प्रमाणमेव हि ज्ञान (नं) मत्यज्ञानादेरनधिगतेः । चैतन्येऽपि तल्ल- 5
क्षणविशेषे बालादिवत् ज्ञानवान् न विसंवादयेत् । ज्ञानं प्रमाणं भवत्येव, व्यपेक्षातः तद्विधिकरणादिपरापेक्ष (क्षं) परोक्षम् । आत्मनियतं प्रत्यक्षम् । परिणामविशेषाविरोधे दोषावरणक्षयोपशमोदयवृत्तं [:] त्रसं (स) स्थावरादिगुणप्रकर्षाप्रकर्षेऽपि स्य (?) स्यादिव-शादात्मस्वभावाऽव्यतिरेकेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपयोगसामर्थ्यविरहेऽपि गर्भाण्ड-मूर्च्छितादिव [त्] स्वतो जीवतीति वृत्तेऽपि नार्द्रकाप्यादौ प्राणादिपरिणामविशेषेऽपि 10
चैतन्यविलक्षणतया मूर्त्तिमतः कायादिप्रवृत्तश्रोतसः कर्मणो वा सकलश्रुतभावनासं-वरणविगलितनिखिलक्लेशविजृम्भितकेवलज्ञानाधिगमफलस्य प्रागपि तत्त्वज्ञानात् प्रत्यक्षादिः उपायः । स्वयमनिक्षिप्तविषयः कथञ्चिद् वितर्कयन्तो निदर्शनाद्य-भावेऽपि क्षयोपशमविशेषापेक्षया मार्गप्रतिपत्तिनिक्षिप्तेतरवस्तुस्वभावेऽपि तद्विषयवि-ज्ञानवत् । तदुपायाऽविशेषेऽपि अनुपयोगादिवत् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षतारतम्यम् इष्यते । 15
साक्षादुपायानधिगमेऽपि तत्प्रतिपत्त्युपायतया तत्त्वं स्वविषये सर्वस्य गुणदोषविचारेण अतिप्रसङ्गनिवृत्तिः । नयः कपिलादेरभ्युपगमः, प्रमेयधर्मतया विरुद्धाव्यभिचारिणं स्वभावप्रतिबन्धपरिच्छेदेन तदतिरेकव्यवच्छेदः तत्त्वाधिगमः प्रतिपत्र (त्र) भिप्रायः तर्हि वस्तुमात्रानिरोधे किं वै सन्दिग्धादिपरिग्रहः साकल्येनेष्यते ? समानो हि तेषामर्था-श्रयः तत्प्रतिषेधेन युक्तितोऽर्थपरिग्रहः सर्वथैकान्तव्यतिक्रमः श्र (क्र) मभावनया 20
चिन्तामयबुद्धिः आत्मेतरत्वमनुसरति ।

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादनात्,
सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथनं किं चेतसां कारणम् ।
आ ज्ञातं सकला [गमा] र्थविषया (य) ज्ञानाविरोधं बुधाः,
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सम्मोहविच्छित्तये ॥८७½॥छ॥ 25

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहं नाम प्रकरणं समाप्तम् ॥छ॥

ज्ञानं प्रमाणं ज्ञानमित्यपि। अकलङ्कवचो''" [पत्रपरी० पृ० ५] "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः" [न्यायवि० वि० पृ० ४८A.]

प्रत्यक्षस्य विशदज्ञानात्मकत्वेन लक्षणस्यानुसरणं तु निम्नग्रन्थेषु दृश्यते-प्रमाणस० पृ० ९७। सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A ९६ B। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८१। प्रमाणप० पृ० ६७। 5 परीक्षामु० २।१। जैनतर्कवा० पृ० ९३। प्रमाणनि० पृ० १४। प्रमाणनय० २।२। प्रमाणमी० १।१३। जैनतर्कभा० पृ० २।

तुलना-"साक्षात्कारित्वमेव प्रत्यक्षार्थः।" [प्रमाणवार्त्तिकाल० लि० पृ० ४१०, ४३९। मु० पृ० १३०] "मुख्यसंव्यवहारेण संवादि विशदं मतम्। ज्ञानमध्यक्षमन्यद्धि परोक्षमिति सङ्ग्रहः॥" [सन्मति० टी० पृ० ५९५] षड्द० बृह० पृ० ८५ A

10 पृ० १. पं० १२. 'मुख्यसंव्यवहारतः'-आगमिकज्ञानचर्चायाम् इन्द्रियानिन्द्रियजस्य प्रत्यक्षस्य मतिज्ञानान्तर्गतत्वात् परोक्षत्वं सुस्पष्टम्। आर्यरक्षिताचार्यैः (अनु० १४४) नन्दीसूत्रकारैश्च (नन्दिसू० ३) इन्द्रियप्रत्यक्ष-नोइन्द्रियप्रत्यक्षरूपेणापि इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य निर्देशः कृतः। अतश्च आगमिकपरम्परायामेव इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य प्रत्यक्षपरोक्षेतिविरुद्धरूपतया निर्देशात् सम्प्राप्तो विरोधः। स च जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः विशेषा-15 वश्यकभाष्ये (गा० ९५) "इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।" इति इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानं संव्यवहारप्रत्यक्षतया स्वीकृत्य परिहृतः।

नागार्जुनप्रभृतिबौद्धाचार्यैः माध्यमिकमतानुसारिभिः "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥" [माध्यमिकका० पृ० ४०२] इत्यादिवचोभिः ज्ञानज्ञेयादिभेदोपदेशेन शून्यतायां समागतस्य विरोधस्य परिहारः तदुपदेशाना 20 लोकसंवृतिसत्यत्वमुररीकृत्य विधीयते। एवमेव धर्मकीर्त्तिना "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० २।५] प्रज्ञाकरगुप्तेन च "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य" [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ७६] इति व्यवहार-सांव्यवहारिकादिभिरेव शब्दैः संवेदनाद्वैते भेदविरोधः समाधीयते। संव्यवहारशब्दोऽयं माध्यमिककारिकायामपि (पृ० ४८९) प्रयुक्तः। वादन्यायटीकाया (पृ० १४) तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायाञ्च (पृ० ७८४) सुस्पष्टमुद्धृतम् यत् 25 "सांव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं यदुत प्रमाणमविसंवादिज्ञानमिति।" इति संव्यवहारशब्दस्य जैनबौद्धदर्शनसाधारणत्वं संसूच्यते। जैनागमे व्यवहारनयस्यापि एतदर्थकत्वमेव बोध्यम्।

मुख्यसंव्यवहारतया प्रत्यक्षस्य द्विधा विभागः निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यः-प्रमाणप० पृ० ६८। परीक्षामु० २।५। प्रमाणनय० २।४। प्रमाणमी० १।१।१५, २०। प्रमाणनि० पृ० २३। 30 न्यायदी० पृ० ९। जैनतर्कभा० पृ० २।

पृ० १. पं० १२. 'परोक्षं शेषं'-तुलना- प्रमाणप० पृ० ६९। परीक्षामु० ३।१। सन्मति० टी० पृ० ५९५। प्रमाणनय० ३।१। प्रमाणमी० १।२।१। जैनतर्कभा० पृ० ८।

पृ० १. पं० १३. 'प्रमाणे इति'-"तत्प्रमाणे" [तत्त्वार्थसू० १।१०] इति सूत्रार्थं समन्वेत्रा ग्रन्थकृता लघीयस्त्रयवत् न्यायविनिश्चये (का० ४६९) प्रमाणसङ्ग्रहे च (का० २) 35 इदमेवोक्तमिति।

पृ० १. पं० १४. 'सन्निकर्षादे'-तुलना-"ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्नि-

॥ टिप्पणानि ॥

[Notes.]

[प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० १२८] "सेयं साधकबाधकप्रमाणानुपपत्तौ सत्यां समानधर्मोपलब्धिः विनश्यदवस्था विशेषस्मृत्या सहाविनश्यदवस्थयैकस्मिन् क्षणे सती संशयज्ञानस्य हेतुरिति सिद्धम्।" [न्यायवा० ता० टी० पृ० २४७] "न हि साधकबाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवासौ।" [न्यायकुमु० स्त० २, पृ० ८] "यत्पुनरुक्तं धर्मकीर्तिना–साधक-
5 बाधकप्रमाणाभावात्तर्हि सन्देहोऽस्तु इति तत्राह–" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४३१A.] "साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका स्यात्।" [अष्टश० अष्टसह० पृ० ४९] प्रमाणनय० १।१२। प्रमाणमी० पृ० ५ पं० ९। "साधकबाधकप्रमाणाभावात् सर्वज्ञे संशयोऽस्तु इत्ययुक्तम् ''।" [अष्टसह० पृ० ४९] प्रमेयरत्नमा० ३।२९।

पृ० २. पं० १६. 'अक्षार्थयोगे'–तुलना–"अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्ष-
10 णात्। जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९] "अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।" [प्रमाणमी० १।१।२७] "अक्षार्थयोगे इत्यादि व्याचक्षाणैः भाष्यकारैरेव" [न्यायवि० वि० पृ० ३२ A]

अवग्रहादीनां चतुर्णां लक्षणानि निर्युक्ति–भाष्ययोः इत्थं द्रष्टव्यानि–"अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह वियालणं ईहं। ववसायं च अवायं धरणं पुण धारणं बेंति॥" [आव०
15 नि० गा० १७९] "सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो भेयमग्गणमहेहा। तस्सावगमोऽवाओ अविच्चुई धारणा तस्स॥" [विशेषा० गा० १८०]

पृ० २. पं० २१. 'विषयविषयि'–तुलना–"तत्र अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैः विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५] "विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य
20 ग्रहणमवग्रहः।" [सर्वार्थसि० १।१५] राजवा० १।१५। धवलाटी० सत्प्ररू०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५२। प्रमाणनय० २।७। न्यायदी० पृ० १०।

इदमेव अवग्रहलक्षणं समुद्धृतं न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० ३२ A.)

पृ० २. पं० २१. 'विषयस्तावत्'–तुलना–"विषयस्य तावत् द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य विषयिणश्च निर्वृत्त्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्य लब्ध्युपयोगस्वभावस्य च भावेन्द्रियस्य
25 विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्य अर्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमं सन्निपातः योग्यदेशावस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभावं दर्शनमुत्तरपरिणामं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्परूपं प्रतिपद्यमानमवग्रहः।" [सन्मति० टी० पृ० ५५३] षड्द० बृह० पृ० ८४ A प्रमाणमी० पृ० २१।

पृ० २. पं० २२. 'द्रव्येन्द्रियं'–तुलना–"निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।"
30 [तत्त्वार्थसू० २।१७] प्रमाणमी० १।१।२२।

पृ० २. पं० २२. 'लब्ध्युपयोगौ'–तुलना–"लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।" [तत्त्वार्थसू० २।१८] प्रमाणमी० १।१।२३।

पृ० २. पं० २३. 'अर्थग्रहणशक्ति'–तुलना–'लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः।" [सर्वार्थसि० २।१८] राजवा० २।१८। तत्त्वार्थसा० पृ० १११।
35 प्रमाणमी० पृ० १८। "स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिः।" [तत्त्वार्थश्लो० २।१८] "आवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपा अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः।" [स्या० रत्ना० पृ० ३४४] जैनतर्कभा० पृ० १।

लघीयस्त्रयस्य

टिप्पणानि

अकलङ्कं जिनं नत्वा तात्पर्यैतिखतोलनैः ।
न्यायोऽयमाकलङ्को वै विशदीक्रियते मया ॥

पृ० १. पं० ६. 'सन्तानेषु'—सन्तानशब्दोऽयं बौद्धैः अपरामृष्टभेदेषु कार्य-कारणभूतेषु पूर्वोत्तरक्षणेषु सम्प्रयुज्यते । स च सन्तानो न पारमार्थिकः कश्चित् मालाङ्गभूत-मौक्तिकेषु सूत्रवत्, अपि तु "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा । सन्तानो नाम न 5 कश्चिदेकः परमार्थसन् सम्भवति । किं तर्हि ? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायं ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सङ्केतः कृतो बुद्धैः व्यवहारार्थं 'सन्तानः' इति ।" [बोधिचर्याव० प० पृ० ३३४ । शिक्षासमु० पृ० ३५९ । तत्त्वस० पृ० ५२३] इत्यादिवचनात् व्यवहारार्थं क्रियमाणः सङ्केतरूप एवायम् । अयञ्च तत्त्वा-न्यत्वादिविकल्पैरवाच्य एव अवस्तुत्वात् "तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यामवाच्यमथ वर्ण्यते" इति 10 तत्त्वसङ्ग्रहकारवचनात् [पृ० ५१०] ।

पृ० १. पं० ८. 'सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया'—सम्प्राप्तबोधेरपि बुद्धस्य न सद्यः निर्वाणमपि तु बुद्धत्वसंवर्तककर्मवशात्ते सत्त्वार्थं करुणया तिष्ठन्ति । "तिष्ठन्त्येव परा-धीना येषां तु महती कृपा ।" [प्रमाणवा० २।१९८] "अकल्पकल्पासङ्ख्येयभावनापरिवर्द्धिताः । तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३४] इत्यादि वचनात् । 15

यथाहि—दर्शनविशुद्ध्यादिभिः भावनाविशेषैः जैनतीर्थकराः पुराकृतसंसारिजीवोद्ध-रणाध्यवसायसमुपार्जिततीर्थंकरनामकर्मोदयं यावत् तिष्ठन्ति, देशनया च सन्तर्पयन्ति भव्य-जीवान् तथैव—"अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः । जरारुजामृत्यु-महोर्मिसङ्कुलात् समुद्धरेय भावसागराज्जगत् ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३२] "अनेन चाहं कुशलेन कर्मणा भवेय बुद्धो न चिरेण लोके । देशेय धर्मं जगतो हिताय मोचेय सत्त्वान् 20 बहुदुःखपीडितान् ॥" [अद्वयवज्रसङ्ग्रह पृ० ९] "उत्पादयामि वरबोधिचित्तं निमन्त्रयामि बहु-सर्वसत्त्वान् । इष्टां चरिष्ये वरबोधिचारिकां बुद्धो भवेयं जगते हिताय ॥" [अद्वयवज्रसङ्ग्रह पृ० ५] "अतीर्णान् तारयिष्यामि अमुक्तान् मोचयाम्यहम् । अनाथान्नाथयिष्यामि स्थाप-यिष्यामि निर्वृतौ ॥" [बुद्धवेद पृ० ८२] इत्यादिभिः जगदुद्धरणभावनाविशेषैः बुद्धा अपि तादृशं संस्कारविशेषं समुपार्जयन्ति, येन सम्यक्सम्बोधिपरिणता अपि अनन्तकल्पं करु- 25 णया तिष्ठन्ति देशनया च सन्तारयन्ति भवनिदाघपरिपीडितान् प्राणिनः ।

पृ० १. पं० १२. 'प्रत्यक्षं विशदज्ञानं'—समग्रेयं कारिका 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' इति कृत्वा प्रमाणपरीक्षायाम् (पृ० ६९) अष्टसहस्र्याञ्च (पृ० १३४) समुद्धृता। "प्रत्यक्षं विशदं

८४ A. "अवग्रहादीनां क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ।" [प्रमाणमी० १।१।३९]

पृ० ३. पं० ७. 'परमार्थैकसंवित्ते'–अत्रायं पूर्वपक्षः–संवेदनाद्वैतवादिनः खलु निरंशं संविद्द्वयं मन्यमानाः कल्पिते संवेद्याकारे–सारूप्ये प्रमाणव्यवस्थां संवेदकाकारे–
5 अधिगतिस्वरूपे फलव्यवस्थाञ्चोररीकुर्वन्ति। तथा चोक्तम्–"स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥" [प्रमाणसमु० १।१०] "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ।" [न्यायबि० १।१९, २०] "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाणं सारूप्यं योग्यतापि वा ॥" [तत्त्वसं० पृ०३५८]

पृ० ३. पं० ७. 'क्षणभङ्गादेरपि'–तत्रोत्तरम्–यतः निरंशसंवेदनं वस्तु तत एव
10 तन्निष्ठक्षणिकत्वस्यापि स्वरूपवत् प्रत्यक्षविषयतैव स्यात् इति । ततश्च यथा प्रत्यक्षगृहीतक्षणिकत्वग्राहिणः अनुमानस्य प्रामाण्य स्वीकुर्वन्ति बौद्धाः तथैव प्रत्यक्षगृहीतनीलाद्यर्थग्राहिणः संवृत्यपरनाम्नो विकल्पस्यापि प्रामाण्यं स्वीकुर्युः । न च तेषां मते विकल्पस्य प्रमाणता 'गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतम्–दर्शनोत्तरकालं सावृतं विकल्पज्ञानं प्रमाणं नेष्टं दर्शनगृहीतस्यैव ग्रहणात् तेनैव च प्रापयितुं शक्यत्वात् सांवृतमकिञ्चित्करमेव ।" [प्रमाणवा० मनोरथ० २।५]
15 इत्यभिधानात् ।

पृ० ३. पं० ११. 'अर्थक्रियार्थी हि'–तुलना– 'अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते ।" [हेतुबि० लि० प्र० परि०] तत्त्वसं० प० पृ० ७७८ ।

पृ० ३ पं० ११. 'रूपादिक्षणक्षयादि'–अत्रायं भावः–सौगतानामिदमभिमतं यत् निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना वस्तुनः स्वलक्षणस्य ग्रहणं भवति। "तस्मात् दृष्टस्य
20 भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ।" [प्रमाणवा० १।४६] इति वचनात् । तत्र यद्यपि नीलं वस्तु सर्वात्मना प्रत्यक्षेण गृहीतं तथापि यस्मिन्नंशे विकल्पोत्पादकता निर्विकल्पकस्य तस्मिन्नेव अंशे प्रामाण्यम् अथ च प्रवृत्तिजनकत्वम् । तथा चोक्तम्–"प्रत्यक्षेण गृहीतेऽपि विशेषेंऽशविवर्जिते। यद्विशेषावसायोऽस्ति प्रत्ययः सः प्रतीयते ॥" [प्रमाणवा०१।५९] "अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्। निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥ १३०६ ॥
25 प्रत्यक्षमुत्पन्नमपि यत्रांशेऽवसायं जनयति स एवांशो व्यवहारयोग्यो गृहीत इत्याभिधीयते। यत्र तु भ्रान्तिनिमित्तवशात् समारोपप्रवृत्तेर्न व्यवसायं जनयितुमीशं स व्यवहारायोग्यत्वाद् गृहीतोऽप्यगृहीतप्रख्य इति तत्र अनुमानस्य प्रवृत्तसमारोपव्यवच्छेदाय प्रवर्त्तमानस्य प्रामाण्यं भवति, न पुनः प्रत्यक्षानन्तरभाविविकल्पस्य तस्य प्रवृत्तसमारोपव्यवच्छेदाभावात् ।" [तत्त्वसं० प० पृ० ३९०] अतः नीलनिर्विकल्पकं नीलांशे व्यवसायं जनयत् तस्मिन्नेवांशे
30 प्रमाणम्, न पुनः क्षणक्षयाद्यंशे तत्र व्यवसायजनकत्वाभावात् इति पूर्वपक्षतात्पर्यम् ।

उत्तरपक्षस्यायं भावः–यदा हि नीलनिर्विकल्पके नीलांशस्य क्षणक्षयाद्यंशस्य च स्फुटः प्रतिभासः संजातः तदा किं कारणं यत् निर्विकल्पके खण्डशः–नीलांशे प्रामाण्यं न क्षणक्षयांशे । यदि नीलविकल्पवशात् नीलांशे प्रामाण्यं तदा तदेव विकल्पज्ञानं मुख्यरूपतया फलं स्वीकर्त्तव्यम् । यदि च निर्विकल्पकात् विकल्पः संजायते तदा कुतो न अखंडशः–नीलां-
35 शवत् क्षणक्षयाद्यंशेऽपि विकल्पोत्पत्तिः इति ?

पृ० ३. पं० १७. 'तथैकत्वम्'–तुलना–"क्रमोपलब्धिनियमात् स्यादभेदः स्वसंविदाम् । सुखदुःखादिभेदेऽपि सहवीक्ष्यानियामवत् ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३५९]

कर्षादि" [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३] "न वै सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नं तस्यार्थान्तरस्येव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः ।" [प्रमाणनय० १।४]

पृ० २. पं० ३. 'तन्नाज्ञानस्य'–तुलना–"तन्नाज्ञानं प्रमाणमन्यत्रोपचारात् ।" [प्रमेयक० पृ० ७ B]

पृ० २. पं० ४. 'प्रत्यक्षत्वम्'–तुलना–'तस्मात् इदं स्पष्टं व्यवसायात्मकं स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम् ।" [सिद्धिवि० पृ० ९६ A]

पृ० २. पं० ६. 'अनुमानाद्यतिरेकेण'–तुलना–'अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम्" [प्रमाणनय० २।३] जैनतर्कभा० पृ० २। "प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनम् वैशद्यम् ।" [परीक्षामु० २।४] न्यायवि० वि० पृ० ४२ B. "वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम्" [जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९५] प्रमाणमी० १।१।१४। "एतदेव स्पष्टत्वं यत् सर्वाकारप्रतिभासः" [प्रमाणवार्त्तिकाल० पृ० ३०६]

समुद्धनेयम्–स्याद्वादरत्ना० पृ० ३१६। शास्त्रवा० टी० पृ० ३१०B

पृ० २. पं० ८. 'तत्र सांव्यवहारिकम्'–तुलना–परीक्षामु० २।६। प्रमाणनय० २।५। जैनतर्कभा० पृ० २।

पृ० २. पं० ९. 'तदस्ति सुनिश्चिता'–तुलना–"अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्, शास्त्रप्रामाण्यात् ।" [सिद्धिवि० पृ० ४२१ B.] अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४४। आप्तप० पृ० ५६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। प्रमाणनि० पृ० २९। षड्द० बृह० पृ० ५३। प्रमाणमी० पृ० १४।

पृ० २. पं० ९ 'यावज्ज्ञेयव्यापि'–तुलना–"ज्ञानं नो चेन्निरुपममं विशदं सर्वगतं स्वनः। लोकान वेद कुतः 'सर्वज्ञविकलानिति ॥' [सिद्धिवि० पृ० ४२३] "सर्वज्ञाभावसंवित्तेरन्यथानुपपत्तितः। पुरुषातिशयः सिद्धः ।" [सिद्धिवि० पृ० ४२८] प्रमाणमी० पृ० १४ प० १६–१७।

पृ० २. पं० ११. 'सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः'–कुमारिलेन सर्वज्ञनिराकरणाय उक्तम् यत्–"प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च। सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥" (मी० श्लो० पृ० ८५) तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिकायाम् (पृ० ८८१) "अयं च वक्तृत्वाख्यो हेतुः 'यस्य ज्ञेयप्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः' इत्यत्र आदिशब्देन आक्षिप्त एवेति 'तदत्रादिपदाक्षिप्ते वक्तृत्वे योऽभिमन्यते ।' इत्युक्तत्वात् अनुमीयते यत् मीमांसाश्लोकव्याख्यातारः 'प्रमेयत्वादि' इत्यत्र आदिपदेन वक्तृत्वादिकान् हेतून् समुच्चिन्वन्ति। तानेव वक्तृत्वादीन् हेतून् ग्रन्थकारः प्रतिबन्द्या सर्वज्ञाभावज्ञानस्य अशक्यत्वसाधने प्रयुनक्ति।

तुलना–नयचक्रवृ० पृ० १२३। " 'वक्त्रादेर्दोषसंचयो नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धो व्यभिचार्यतः ॥" [प्रमाणवा० १।१४४] सिद्धिवि० पृ० ४२९।

पृ० २. पं० १३. 'अत्रानुपलम्भ'–तुलना–प्रमाणमी० पृ० १४।

पृ० २. पं० १४. 'साधकबाधकप्रमाणा'–'साधकबाधकप्रमाणाभावात् सन्देहो जायते' इति विचारस्य तुलना–"साधकबाधकप्रमाणाभावमात्रं चात्र सन्देहेन लक्ष्यते ।"

भावः क्रमेण युगपद्वा न अर्थक्रियां कर्त्तुं क्षमः' इति मतं पूर्वपक्षीकृतम् । तथाहि-"क्षणिके-ष्वपि भावेषु ननु चार्थक्रिया कथम् ।'''क्रमेण युगपच्चापि यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताश्रयः ॥" [तत्त्वस० पृ० १५३]

जैनैः तेनैव हेतुना सर्वथा क्षणिके नित्ये च अर्थक्रियाकारित्वाभावं प्रसाध्य कथञ्चि-
5 न्नित्यानित्यात्मन्यर्थे अर्थक्रियाकारित्वं संसाध्यते । द्रष्टव्यम्-शास्त्रवा० श्लो० ४३७। अष्टसह० पृ०२०२ । प्रमेयक० पृ० १४७ A न्यायकुमु० पृ० ३७९ ।

समुद्धृतेयम्-न्यायवि० वि० पृ० ५२७ A. प्रमाणमी० पृ० १४।

पृ० ४. पं० ५. 'अर्थक्रियासमर्थं'-"अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः"[न्याय-बि० १।१५] प्रमाणवा० ३।३।

10 **पृ० ४. पं० ६. 'स्वभूतिमात्रम्'**-"तथा-क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्यैषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥" [बोधिचर्या० प० पृ० ३७६]

पृ० ४. पं० ७. 'विषयाकारस्यैव'-पूर्वपक्षः-"अत्रापि फले विषयाकारतैव प्रमा-णम् । यदाह आचार्यः-नन्वव्यतिरेकाद् ग्राहकाकारोपि कस्मान्न प्रमाणम् ? अत्रोच्यते-तदार्थाभासतैवास्य प्रमाणं न तु सन्नपि । ग्राहकात्माऽपरार्थत्वाद्बाह्येष्वर्थेष्वपेक्ष्यते ॥"
15 [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ७०]

इति प्रमाणप्रवेशे द्वितीयः परिच्छेदः ॥

पृ० ४. पं० २३. 'ज्ञानमाद्यं'-अस्यां कारिकायां ग्रन्थकारः मतिस्मृतिसंज्ञेत्यादि सूत्रे [तत्त्वार्थसू० १। १३] अनर्थान्तरत्वेनोक्तानां मत्यादीनाम् अवस्थाविशेषापेक्षया मतित्वं श्रुतत्वञ्च निरूपयति ।

20 अत्र व्याख्याभेदः-प्रभाचन्द्राः "किं यत् नामयोजनात् जायतेऽविशदं ज्ञानं तदेव श्रुतमुतान्यदपि ? इत्याह-प्राङ्नामयोजनात् । नाम्नः अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोजनाजनितार्थास्पष्टज्ञानसाधर्म्यात् इत्यभिप्रायः । 'चिन्ता च' इत्यत्र चशब्दो भिन्नप्रक्रमः 'शब्दानुयोजनात्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नाम-योजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु शब्दानुयोजनाच्च यदुपजायते तदपि
25 श्रुतमिति संगृहीतं भवति ।" [न्यायकुमु० लि० पृ० २२२ B.] इत्यादिसन्दर्भेण स्मृत्यादिज्ञा-नान्युभयथा शब्दयोजनात् प्राक् अनन्तरञ्च श्रुतेऽन्तर्भावयन्ति । कारिकायामायातस्य आद्यशब्दस्य कारणार्थकताञ्च सूचयन्ति ।

विद्यानन्दास्तु-शब्दयोजनात् प्राक् मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यन्तज्ञानानां मतित्वं शब्दानुयोजनाच्च तेषामेव श्रुतत्वं स्वीकुर्वन्ति । तथाहि-"अत्र अकलंकदेवाः प्राहुः-ज्ञानमाद्यं
30 स्मृतिः संज्ञा'' '' तत्रेदं विचार्यते-मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यन्तात्च्छेषं श्रुतं शब्दानु-योजनादेवेत्यवधारणम्, श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? (पृ० २३९) इत्युक्त्वा मतिः प्राङ्नामयोजनात् । शब्दानुयोजनादेव श्रुतमेवं न न बाध्यते" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४१]

सन्मतिटीकाकारास्तु विद्यानन्दाभिमतव्याख्यानमेव प्रतीयन्ति, तथाहि-"अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोज-
35 नात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः ।" [सन्मति० टी० पृ०५५३] षड्द० बृह० पृ०८४ B.

पृ० २. पं० २३. 'उपयोगः पुनः'–तुलना–"उपयोगः प्रणिधानम् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० ११९] "तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः ।" [सर्वार्थसि० २।१८] राजवा० २।१८ । तत्त्वार्थश्लो० २।१८ । तत्त्वार्थसा० पृ० १११ । प्रमाणमी० पृ० १८ । जैनतर्कभा० पृ० १ । "उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापारः ।" [स्या० रत्ना० पृ० ३४४]

पृ० २. पं० २५. 'पुनरवगृहीत'–"अवगृहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५] "अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा ।" [सर्वार्थसि० १।१५] राजवा० १।१५ । धवला टी० सत्प्ररू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२०। प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।८ । षड्द० बृह० पृ० ८४A. प्रमाणमी० १।१।२७ । न्यायदी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'तथेहितविशेष'–"अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोपायः ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५] "विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः ।" [सर्वार्थसि० १।१५] राजवा० १।१५ । धवलाटी० सत्प्ररू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति०टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।९ । षड्द० बृह० पृ० ८४A. प्रमाणमी० १।१।२८। न्यायदी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'कथञ्चिदभेदेऽपि'–तुलना–सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणमी० पृ० २२ । षड्द० बृह० पृ०८४ A. "कथञ्चिदभेदेपि परिणामविशेषादेषां व्यपदेशभेदः ।" [प्रमाणनय० २।१२]

पृ० २. पं० २८. 'धारणा'–"धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च धारणा प्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५] "अथैतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा" [सर्वार्थसि० १।१५] राजवा० १।१५। धवलाटी० सत्प्ररू० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।१० । प्रमाणमी० १।१।२९ । षड्द० बृह० पृ० ८४ A न्यायदी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ । "महोदये च कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानम् ' अनन्तवीर्योऽपि तथा निर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति ।" [स्या० रत्ना० पृ० ३४९]

पृ० ३. पं० १. 'ईहाधारणयोरपि'–तुलना–" अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह तस्य वा । ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ॥' [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२१] विशेषा० गा० १८२ । प्रमाणमी० पृ० २१ प० २५, पृ० २२ प० ५, पृ० ३० प० २३ ।

पृ० ३. पं० ५. 'बह्वाद्यवग्रहा'–तुलना–"बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्" [तत्त्वार्थसू० १।१६] "अवग्रहादयश्चत्वारो मतिज्ञानविभागा एषां बह्वादीनामर्थानां सेतराणां भवन्त्येकशः ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१६] धवलाटी० सत्प्ररू० ।

पृ० ३. पं० ६. 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं'–तुलना–"पूर्वपूर्वं प्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति क्रमः ।" [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ४] "तथा पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलमिति" [न्यायवि० टी० टि० पृ० ४०] "साम्प्रतं पूर्वं पूर्वं प्रमाणं स्यात् फलं स्यादुत्तरोत्तरम् इत्यभिसमीक्ष्य' '" [सिद्धिवि० टी० पृ० १८४ A] "केचिदाहुः– पूर्वं ज्ञानं प्रमाणमुत्तरं ज्ञानं प्रमाणफलमिति ।" [तर्कभा० मो० पृ० ११] सन्मति० टी० पृ० ५५३ प० ६ । षड्द० बृह० पृ०

तुलना-"साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।" [न्यायकुसु० ३।९] "सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ।" [जैनतर्कवा० पृ० ७६]

समुद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । रत्नाकराव० ३।४ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

5 पृ० ७, पं० २३. 'इदमल्पं'–तुलना-"एकविषाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छदः इत्याहितसंस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शिनामभिज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात् । तथा स्त्र्यादिलक्षणश्रवणात् तथादर्शिनः समभिज्ञानम्, संख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात्, पश्यतां च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्तरम् ।" [सिद्धिवि० पृ० १५० B.] परीक्षामु० ३।५-१० । प्रमाणनय० ३।५, ६ । प्रमाणमी० १।२।४ ।

10 उद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

पृ० ७, पं० २६. 'अर्थापत्तिः'–"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना । यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।" [शाबरभा० १।१।५] मी० श्लो० अर्था० श्लो० १ ।

पृ० ८, पं० १. 'परोक्षेऽन्तर्भावात्'–तुलना-"अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवा-15 भावान्यपि च प्रमाणानीति केचित् मन्यन्ते तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते–सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१२] "उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्..." [सर्वार्थसि० १।११] "अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेऽन्तर्भावात् ।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१]

इति प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परिच्छेदः ॥

20 पृ० ८, पं० ६. 'यद्यथैवाविसंवादि'–तुलना-"यथा यत्र विशदं तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता । (पृ० ६५ B.) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा ।" [सिद्धिवि० पृ० ८६ A.] "यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता ।" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] सिद्धिवि० टी० पृ० ६९ B. "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलंकदेवैरप्युक्तत्वात् ।" [अष्टसह० पृ० १६३] "यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा 25 मतम् । विसंवाद्यप्रमाणं च तदध्यक्षपरोक्षयोः ॥" [सन्मति० टी० पृ० ५९५]

पृ० ८, पं० १०. 'तिमिराद्युपप्लव'–तुलना-"येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्ध-30 द्रव्यादिवत् ।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७] "अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम् । तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] "तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात् प्रमाणं तत्संख्यादौ तदेव विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात् । यतो ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र न प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदापेक्षत्वात् । अन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिर्न स्यात् कृतस्य करणायोगात् तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणा-

पृ० ३. पं० १८. 'प्रमाणफलयोः'–"इत्युक्तं लघीयस्त्रये प्रमाणफलयोः क्रमभावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम् ।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ९९ B.]

इति प्रमाणप्रवेशे प्रथमः परिच्छेदः ॥

पृ० ३. पं० २३. 'तद्द्रव्यपर्याया'–तुलना–"तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्" [युक्त्यनुशा० श्लो० ४७] "अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्" [न्यायाव० श्लो० २९] 5 परीक्षामु० ४।१ । प्रमाणनय० ५।१ । प्रमाणमी० १।१।३० । "द्रव्यपर्यायात्मार्थः इत्यकलङ्कदेवैरभिधानात्" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२४]

पृ० ३. पं० २४. 'स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा'–"तत्र यदर्थक्रियासमर्थं तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति । सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम् ।" [प्रमाणसमु० टी० पृ० ६] "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत्स्वलक्षणम् । तदेव परमार्थसत्" 10 [न्यायवि० १।१३, १४] "स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम् ।" [न्यायवि० टी० पृ० २२] "अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत् । अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥" [प्रमाणवा० ३।३] "अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषयः ।" [न्यायवि० १।१६, १७] "···सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्, साधारणं रूपमित्यर्थः ।" [न्यायवि० टी० पृ० २४] "यदाह–न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति, स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षं 15 सामान्यविषयमनुमानमिति । यदा साक्षाज्ज्ञानजननं प्रति शक्तत्वेन प्रतीयते तदाऽसौ स्वेन रूपेण लक्ष्यमाणत्वात् स्वलक्षणम् । यदा तु पारम्पर्येण शक्तता तस्यैव प्रतीयते तदा सामान्यरूपेण लक्षणमिति सामान्यलक्षणम् ।" [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २७३]

तुलना–"न हि बहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते ।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५] 20

पृ० ४. पं० ३. 'अर्थक्रिया'–सौगतैः नित्यपक्षस्य असत्त्वसिद्ध्यर्थं 'क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्' इति हेतुः प्रयुज्यते । तथाहि–"यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगात् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ।" [वादन्याय पृ० ७] 'क्रमयौगपद्याभ्यामित्यादि–नैव प्रत्यक्षतः कार्यविरहाद्वा शक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते किन्तु तद्व्यापकविरहात्, तथाहि–क्रमयौग- 25 पद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोः तयोरक्षणिकत्वे विरोधान्निवृत्तेः तद्व्याप्तायाः क्रियाशक्तेरपि निवृत्तिः इति सर्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेव अवतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवति इति यत् सत् तत् क्षणिकमेव ।" [हेतुबि० टी० लि० पृ० १४२ B.] 'क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति स्थिरा भावाः निःस- 30 त्त्वास्ते ततो मताः ॥" [तत्त्वस० पृ० १४३] क्षणभङ्गसि० पृ० २० । इत्यादि ।

नित्यवस्तुवादिभिः अनेनैव हेतुना क्षणिकेऽर्थक्रियाऽभावः प्रतिबन्द्या प्रसाध्यते । तथाहि–"क्षणिकस्यापि भावस्य सत्त्वं नास्त्येव सोऽपि हि । क्रमेण युगपद्वापि न कार्यकरणक्षमः ॥" [न्यायम० पृ० ४५३] न्यायवा० ता० टी० पृ० ५५८ । विधिवि० न्यायकणि० पृ० १३० ।

तत्त्वसंग्रहे 'क्षणिकेष्वपि इत्यादिना भदन्तयोगसेनमतमाशङ्कते' इत्युक्त्वा 'क्षणिकेऽपि 35

शब्दादुच्चरिताद्विवक्षितार्थप्रतिभासी विकल्पोऽनुमीयत इत्यर्थः ।" [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ४] "यद्यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्विनियम्यते । अनपेक्षितबाह्यार्थं तत्तथा वाचकं मतम् ॥" [प्रमाणवा० १।६७] "परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना । न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥ अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता । वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता ॥"
5 [प्रमाणवा० १।२०९-१०] "विवक्षापरतन्त्रत्वान्न शब्दाः सन्ति कुत्र वा । तद्भावादर्थसिद्धौ तु सर्वं सर्वस्य सिद्धयति ॥" [प्रमाणवा० २।१६] "यथोक्तम्-वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दाः ।" [तर्कभा० मो० पृ० ४]

इति प्रमाणप्रवेशः प्रथमः ॥

पृ० १०, पं० २३. 'भेदाभेदात्मके'-"तथा चाहाकलङ्क.-भेदाभेदा ''यतोऽपेक्षा-
10 नपेक्षाभ्यां'''" [आव० नि० मलय० पृ० ३७० B.] गुरुतत्त्ववि० पृ० १६ B.

पृ० १०, पं० २४. 'अपेक्षाऽनपेक्षा'-"निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा ।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०]

पृ० १, पं० २४. 'नयदुर्नयाः'-"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।" [आप्तमी० श्लो०१०८] "तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा । अण्णोण्णणि-
15 स्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥" [सन्मति० १।२१] "नयाः सापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा लोकतोऽपि सिद्धाः" [सिद्धिवि० पृ० ५३७ B.] "तथा चोक्तम्-अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः । नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०] "धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तद्-तत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च ।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०] "सदेव
20 सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।" [अन्ययोगव्य० श्लो० २८]

पृ० १०, पं० २५. 'उत्पादव्यय'-"उप्पन्ने वा विगए वा धुवे वा" [स्थानांग० स्था० १०] "सद्दव्वं वा" [व्या० प्र० श० ८ उ० ९ सत्पदद्वार] "सद्द्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वार्थसू० ५।२९,३०] "दव्वं पज्जयविउअं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि । उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥" [सन्मति० गा० १।१२] "नोत्पादस्थितिभंगाना-
25 मभावे स्यान्मतित्रयम् ।" [मी० श्लो० पृ० ६१९] "उत्पादस्थितिभंगानां स्वभावादनुबन्धिता । तद्धेतूनामसामर्थ्यात् अतस्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥" [सिद्धिवि० पृ०१६७]

पृ० १०, पं० २५. 'द्रव्यपर्याया'-"द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । कथं ज्ञायेत ? एवं हि दृश्यते लोके मृत् कयाचिद् आकृत्या युक्तः पिण्डो भवति । पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते । घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते । यथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो
30 भवति । पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते । रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते । कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः । आकृतिरन्या चान्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।" [पात० महाभा० १।१।१] योगभा० ३।१३।

पृ० १०, पं० २६ 'नयो'-"नयाः कारकाः साधका निर्वर्तका निर्भासका उप-
35 लम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] "सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः । स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥"

पृ० ५. पं० १. 'अविसंवादस्मृतेः'–तुलना–"धारणारूपा च मतिः अविसंवाद-स्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम्।" [सन्मति० टी० पृ० ५५३] षड्द० बृह० पृ० ८४ A.

पृ० ५. पं० २. 'प्राक्शब्द'–तुलना–"मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्तीत्येकान्तो न, तदेकान्ते पुन. न कश्चित् स्युः तन्नामस्मृतेरयोगात् अनवस्थानादेः।" [सिद्धिवि० पृ० १०० A.] "प्राक्शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेतत् शेषमनेकप्रभेदं शब्दयोजनादु-पजायमानमविशद ज्ञानं श्रुतम् इति केचित्।" [सन्मति० टी० पृ० ५५३] षड्द० बृह० पृ० ८४ A. 5

पृ० ५. पं० १०. 'नहि प्रत्यक्षं'–तुलना–"नहि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं क्वचित् कदाचिद्भवितुमर्हति सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्।" [सिद्धिवि० पृ० १५६] अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११९। "यथाहुः–न ह्रीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितवि-षयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात्।" [शां० भा० भामती पृ० ७६६] न्यायवा० ता० टी० पृ० १३७। 10

पृ० ५. पं० ११. 'तन्नाप्रत्यक्षम्'–उद्धृतमिदम्–प्रमाणस० पृ० १०१।

पृ० ५. पं० १२. 'प्रमाणान्तरत्वात्'–तुलना–"सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः साकल्ये-नेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य तर्कः परं शरणम्।" [सिद्धिवि० पृ० २९३ A.]

पृ० ५. पं० १६. 'तादात्म्यतदुत्पत्ती'–बौद्धा हि तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव अविनाभावनियमं वर्णयन्ति; तथाहि–"स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिंगस्य वस्तुतस्तादात्म्या-त्साध्यादर्थादुत्पत्तेश्च।" [न्यायवि० पृ० ४१] "कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमः···।" [प्रमाणवा० १।३२] 15

पृ० ५. पं० २०. 'चन्द्रादेः'–तुलना–"चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथा-विधः। छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१]

पृ० ५. पं० २३. 'भविष्यत्प्रतिपद्येत'–तुलना–"कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्या-सत्तिक्लृप्तिवत्।" [मी० श्लो० पृ० ३५१] प्रश० व्यो० पृ० ५७१। "प्रतिबन्धपरिसंख्यायाम् उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम्?" [सिद्धिवि० पृ० ३१७ B] प्रमाणप० पृ० ७१। परीक्षामु० ३।६३। प्रमाणनय० ३।८०। प्रमाणमी० पृ० ४१। जैनतर्कभा० पृ० १६। 20

पृ० ६. पं० ५. 'अदृश्यानुपल'–"विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृ-त्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेः।" [न्यायवि० पृ० ५९] वादन्याय पृ० १८। "अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेः संशयहेतुतया अगमकत्वादिति भावः।" [वादन्यायटी० पृ० १९] 25

तुलना–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२।

पृ० ६. पं० २०. 'प्रत्यक्षानुपलम्भ'–"प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः।" [हेतुबि० टी० लि० पृ० ७३] 30

पृ० ६. पं० २८. 'सर्वविज्ञानानां'–अत्रायं पूर्वपक्षः–"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवे-दनम्। चित्तमर्थमात्रग्राहि। चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः।··· नास्ति सा काचि-च्चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं प्रत्यक्षं न स्यात्।" [न्यायवि० पृ० १९]

पृ० ७. पं० ६. 'उपमानं'–पूर्वपक्षः–"प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।" [न्यायसू० १।१।६] 35

पृ० ११. पं० १. 'द्रवति'–"तुलना–दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं। दवियं त भणंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।" [पञ्चास्ति० गा० ९] "यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि।" [सर्वार्थसि० ५।२] "द्रवति द्रोष्यति दुद्रवेति (अदुद्रवत्) द्रुः द्रोर्विकारोऽवयवो वा द्रव्यम्।" [नयचक्रवृ० पृ० ९ B.] "द्रोर्विकारो द्रव्यम्, द्रोरवयवो
5 वा द्रव्यम्, द्रव्यं च भव्ये भवतीति भव्यम् द्रव्यम्, द्रवतीति द्रव्यम् द्रूयते वा, द्रवणात् गुणानां गुणसन्द्रावो द्रव्यम्।" [नयचक्रवृ० पृ० ४४१ B] "दविए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो। दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोग्गं।" [विशेषा० गा० २८] "अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्? तद्भावस्तत्त्वम्। तद्यथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति आमलकं बदरमि-
10 त्येव भवति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।" [पात० महाभा०, ५।१।११९]

पृ० ११. पं० १. 'द्रव्यार्थिक'–"द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः।" [सर्वार्थसि० १।६] "पज्जवणिस्सामण्णं वयणं दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति। अवसेसो वयणविही पज्जवभयणा सपडिवक्खो॥" [सन्मति० गा० १।७] "द्रव्येणार्थः द्रव्यार्थः, द्रव्यमर्थो यस्येति वा, अथवा द्रव्यार्थिकः द्रव्यमेवार्थो यस्य सोऽयं द्रव्यार्थः।" [नयचक्र वृ० पृ० ४ B.]
15 धवलाटी० सत्प्ररू०।

पृ० ११. पं० १०. 'संग्रह'–"संगहिय पिंडिअत्थं संगहवयणं समासओ बिंति।" [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५६। विशेषा० गा० २६९९। "अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः।...आह च–यत्संगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे। तत्संग्रहनयनियतं ज्ञानं विद्यान्नयविधिज्ञः॥" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५।
20 "स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः।" [सर्वार्थसि० १।३३] राजवा० १।३३। "विधिव्यतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समनस्य (मस्तस्य) ग्रहणात् संग्रहः। द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः।" [धवलाटी० सत्प्ररू०] "शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति सन्मात्रं संग्रहः परः। स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७०]
25 नयविव० श्लो०६७। प्रमेयक० पृ० २०५B "शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः।" [सन्मति० टी० पृ० २७२।] नयचक्र गा० ३४। तत्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।१३। स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २२।

पृ० ११. पं० १२. 'सर्वमेकं'–तुलना–"यथा सर्वमेकं सदविशेषात्।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] "अहव महासामन्नं सगहियं पिंडियत्थमियरं ति। सव्वविसेसानन्नं सामन्नं
30 सव्वहा भणियं॥" [विशेषा०गा० २७०१] "विश्वमेकं सदविशेषात् इति यथा।" [प्रमाणनय० ७।१६]

पृ० १२. पं. ७. 'न च क्षणिकानाम्'–तुलना–"कार्यकारणता नास्ति बहिरन्तः सन्ततिः कुतः। निरन्वयात् कुतस्तेषां सारूप्यमितरार्थवत्॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं स्यात् क्षणिकमक्रमं जगत् निःसन्तानि स्यात्। तस्मिन्नसति भवतः कुतः पुनः कारणानन्त-
35 रोत्पत्तिनियमः? सदेव कारणं स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसह्य जनयेत्। स्वरसत एव कार्योत्पत्तिकालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम्। नैरन्तर्यमात्रात् प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविशेषे कुतः प्रभवनियमः। द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते स्वहेतोः परप्रत्ययतायाम्।" [सिद्धिवि० पृ० ३६३–६४]

निष्टेः, तदस्य विसंवादोप्यवस्तुनिर्भासात् चन्द्रादिवस्तुनिर्भासादविसंवादोऽपीत्येकस्यैव ज्ञानस्य यत्राविसंवादः तत्र प्रमाणता इतरत्र तदाभासतेति।" [सन्मति० टी० पृ० ५९५]

पृ० ८, पं० १८, 'सर्वतः संहृत्य'–धर्मकीर्तिना उक्तं यत्–शान्तचेतस्कतया चक्षुषा यत् रूपदर्शनं भवति तन्निर्विकल्पकम्। तस्मिंश्च रूपस्वलक्षणं क्षणिकपरमाण्वात्मकं प्रतिभाति। तथाहि–"संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना। स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥" [प्रमाणवा० ३।१२४] ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्–यत् तदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते।

तुलना–"संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना। स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६]

पृ० ८, पं० १६, 'न पुनरसाधारणैकान्तम्'–तुलना–"नहि जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात्। नानावयवरूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य।" [सिद्धिवि० पृ०३६ B]

पृ० ८, पं० २०, 'प्रतिसंहार'–"प्रतिसंहारः पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः" [न्यायकुमु० लि० पृ० २७० A.]

पृ० ६, पं० १, 'प्रतिसंविदितो'–तुलना–'नहि संवित्तेः बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः स्वयमसंविदिता एव उत्पद्यन्ते अस्तयन्ते वा यतः सत्योऽपि अनुपलक्षिताः स्युः कल्पनावत्।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ९८ B.]

पृ० ६, पं० ३, 'सदृशापरापरो'–"तां पुनरनित्यता पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः नाध्यवस्यति, सत्त्वोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशङ्काविप्रलब्धः सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा··।" [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३७]

पृ० ६, पं० २१, 'अभ्रान्त'–अभ्रान्तं विशेषणं बौद्धापेक्षया "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।" [न्यायबि० १।४] इत्यभिधानात्। अव्यभिचारीति विशेषणं नैयायिकापेक्षया ज्ञेयम् "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।" [न्यायसू० १।१।४] इत्युक्तत्वात्।

पृ० ६, पं० २३, 'नहि दृष्टेऽनुपप'–तुलना–"स्वभावेऽप्यक्षतः सिद्धे परैः पर्यनुयुज्यते। तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ६८]

पृ० ६, पं० २४, 'वक्त्रभिप्रायेऽपि'–तुलना–"विवक्षाप्रभवं वाक्यं स्वार्थे न प्रतिबध्यते, यतः कथं तत्सूचितेन लिंगेन तत्त्वव्यवस्थितिः। वक्त्रभिप्रायमात्रं वाक्यं सूचयन्तीति अविशेषेणाक्षिपन् न पारम्पर्येणापि तत्त्वं प्रतिपद्येत। नच वक्त्रभिप्रायमेकान्तेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टादेः अन्यत एव प्रसिद्धेः।" [सिद्धिवि० पृ० २६४]

पृ० ६, पं० २६, 'सत्येतरव्यवस्था का'–तुलना–'वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम्। सत्यानृतव्यवस्था न तत्त्वमिथ्यार्थदर्शनात् ॥ मिथ्यादर्शनज्ञानात् मिथ्यार्थत्वं गिरां मतम्।" [सिद्धिवि० पृ० ५०२]

पृ० १०, पं० ३, 'वक्तुरभिप्रेतं'–"वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥ वक्तुर्व्यापारो विवक्षा तस्य विषयो योऽर्थः समारोपितबहीरूपो ज्ञानाकारः प्रकाशते बुद्धौ विवक्षात्मिकायां तत्र शब्दस्य प्रामाण्यं लिङ्गत्वम्

उद्धृतेयं कारिका-सूत्रकृताङ्गचौ० पृ० २२७ A. ।

पृ० १४. पं० ६. 'गुणानां परमं'-कारिकेयं निम्नग्रन्थेषु समुद्धृताऽस्ति-"तथा च शास्त्रानुशासनम्-गुणानां···।" [योगभा० ४।१३] "षष्ठितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः-गुणानां···" [योगभा० तत्त्ववै० ४।१३] योग० भास्वती, पात० रह० ४।१३। "भगवान् वार्षगण्यः-गुणानां ।" 5 [शा० भा० भामती पृ० ३५२] नयचक्रवृ० पृ० ४३ A. तत्त्वोपप्लव० पृ० ८० । "गुणानां सुमहद्रूपम्···" [प्रमाणवार्तिकाल परि० ४ पृ० ३३] अष्टसह० पृ० १४४ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७४B.

पृ० १४. पं० ११. 'समवायेन'-"पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दाश्चेमे स्वयंकृताः । शृङ्गं गवीति लोके स्यात् शृङ्गे गौरित्यलौकिकम् ॥" [प्रमाणवा० १।३५०] "वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मतिः । शिलाख्यपरिशिष्टांगनैरन्तर्योपलम्भनात् ॥ तौ पुनस्त्वा-10 स्विति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते ।" [तत्त्वसं० पृ० २६७]

पृ० १४. पं० १७. 'नयः'-"वच्चइ विणिच्छिअत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु ।" [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५६ । विशेषा० गा० २७०८ । "लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः··· आह च-लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां 15 विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।" [सर्वार्थसि० १।३३] राजवा० १।३३ । धवलाटी० सत्प्ररू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयविव० श्लो० ७४ । प्रमेयक० पृ० २०५ B. सन्मति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र गा० ३५ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२३। स्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

पृ० १४. पं० १७. 'दुर्नयः'-"कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक् । प्रमाण-20 बाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७६। प्रमेयक० पृ० २०५ B. न्यायावता० टी० पृ० ८६ । प्रमाणनय० ७।२५, २६ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

पृ० १४. पं० २८ 'ऋजुसूत्र'-"पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो।" [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५७। विशेषा० गा० २७१८ । "सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः ··· । आह च-साम्प्रतविषयग्राहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात् ।" 25 [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः ।" [सर्वार्थसि० १।३३] "सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः ।" [राजवा० १।३३] "ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्रः । सूत्रपातवद् ऋजुसूत्र इति ।" नयचक्रवृ० पृ० ३५४B.] धवलाटी० सत्प्ररू० । "ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तुसत्सूत्रयेदृजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात् सतः ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७७ । प्रमेयक० पृ० २०५B 30 सन्मति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रगा० ३८ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२८। स्या० म० पृ० ३१२ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

पृ० १५. पं० ४. 'दुर्नयः'-"निराकरोति यद् द्रव्यं बहिरन्तश्च सर्वदा। स तदाभोऽभिमन्तव्यः प्रतीतेरपलापतः ॥" [तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो०७८। प्रमेयक० पृ० २०६A. न्यायावता० टी० पृ० ८८ । प्रमाणनय० ७।३०,३१ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

35 पृ० १५. पं० ७. 'शब्दः'-"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो ।" [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५७ । विशेषा० गा० २७१८ । "यथार्थाभिधानं शब्दः··· आह च-विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०,

[आप्तमी० श्लो० १०६] "वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।" [सर्वार्थसि० १।३३] "ज्ञातॄणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायतः···नयो ज्ञातुर्मत मतः।" [सिद्धिवि० पृ० ५१७ A. ५१८ A.] "प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।" [राजवा१०।३३] "नयन्ते अर्थान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नयाः, वस्तुनोऽनेकात्मकस्य अन्यतमैकात्मैकान्तपरिग्रहात्मका इति।" [नयचक्रवृ०पृ०५२६A] "यथाक्रम्-द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमैकात्मावधारणम् एकदेशनयनान्नयाः।" [नयचक्रवृ० पृ० ६ B.] 5
"एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेणेव। नयणं धम्मेण तओ होई नओ सत्तहा सो य॥" [विशेषा० गा० २६७६] "नयन्तीति नयाः, अनेकधर्मात्मकं वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवेदमनित्यमेवेति वा निरूपयन्ति।" [तत्त्वार्थहरि० १।६] तत्त्वार्थसिद्ध० १।६। "उक्तं हि-णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहिं गुणपज्जएहिं जं दव्वं। परिणामखेत्तकालंतरेसु अविणट्ठसब्भावं॥ 10
····· प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः।" [धवलाटी० सत्प्ररू०] "स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः।" (पृ० ११८) "नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २५८] नयविव० श्लो० ४। "अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।" [प्रमेयक० पृ० २०५ A.] "जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुयंससंगहणं। त इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहिं॥" [नयचक्र गा० २] "वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणं 15
(ण) व्यञ्जितात्मनः। एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा स्मृतः॥" [तत्त्वार्थसार पृ० १०६]
"तद्द्वारायातः पुनरनेकधर्मनिष्ठार्थसमर्थनप्रवणः परामर्शः शेषधर्मस्वीकारतिरस्कारपरिहारद्वारेण वर्त्तमानो नयः।" [न्यायावता० टी० पृ० ८२] "नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः।" [प्रमाणनय० ७।१]
स्या० म० पृ० ३१०। "प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकदेशग्राहिणः तदितरांशाप्रतिक्षेपिणः अध्यवसायविशेषा नयाः।" [जैनतर्कभा० पृ० २१] "प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः।" [नयरहस्य पृ० ७९] नयप्रदीप पृ० ९७ B 20

मलयगिर्याचार्यमतेन सर्वेऽपि नयाः मिथ्या एव, तथाहि-"अनेकधर्मात्मकं वस्त्ववधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः। ····· इह हि यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वात्,···स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव।" [आव० नि० मलय० पृ० ३६९ A] 25

पृ० १०. पं० २६. 'स द्रव्यार्थिकः'-"तत्र समासतो द्विविधम्, तद्यथा द्रव्यास्तिकं मातृकापदास्तिकम् उत्पन्नास्तिकम् पर्यायास्तिकमिति।" [तत्त्वार्थाधि० भा० ५।३१] "द्रव्यं द्रव्यास्तिकं मातृकापदास्तिकं च द्रव्यनयः। उत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकं च पर्यायनयः।" [तत्त्वार्थहरि० ५।३१] तत्त्वार्थसिद्ध० ५।३१। "दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं।" [सन्मति० १।३] "नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।" [सर्वार्थसि० १।६] "द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः, पर्यायास्तिक इति। अथवा द्रव्यार्थिकः ··· पर्यायार्थिकः।" [राजवा० १।३३] "तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थगोचरौ। मिथ्यात्वं निरपेक्षत्वे सम्यक्त्वं तद्विपर्यये।" [सिद्धिवि० पृ० ५२१ A.] "तेषां वा शेषशासनानां द्रव्यार्थपर्यायार्थनयौ द्वौ नमामनौ मूलभेदौ तत्प्रभेदा संग्रहादयः।" [नयचक्रवृ० पृ० ५२६ A] "दव्वट्ठियस्स दव्वं वत्थुं पज्जवनयस्स पज्जाओ।" [विशेषा० गा० ४३३१] धवलाटी० सत्प्ररू०। प्रमाणनय० ७।५। 30 35

पृ० १७. पं० ३. 'दुर्नय'–"एवं शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दाव्यतिरेकमर्थं समर्थयन्तो दुर्नयाः।" [न्यायावता० टी० पृ० ९०।] "तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः।" [प्रमाणनय० ७।३४] जैनतर्कभा० पृ० २४। "पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः तदाभासः।" [प्रमाणनय० ७।३८] जैनतर्कभा० पृ० २४। "क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया
5 प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः।" [प्रमाणनय० ७।४२] जैनतर्कभा० पृ० २४।

पृ० १८. पं० ८. 'ज्ञानं प्रमाण'–तुलना–प्रमाणस० पृ० १२७। "उक्तञ्च–ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो ··" [धवलाटी० सत्प्ररू०]

पृ० १८. पं० २७. 'तिमिराशुभ्रमण'–"तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तिमिरमक्ष्णोर्विप्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमण-
10 मलातादेः, मन्दं हि भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम्। एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते। एतच्चाध्यात्मगतं विभ्रमकारणम्।" [न्यायवि० टी० पृ० १६]

15 पृ० १९. पं० १. 'इन्द्रियमनसी'–"इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात्।" [न्यायवि० वि० पृ० ३२ A.] "तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलंकैरपि ··" [तत्त्वार्थ श्लो० पृ० ३३०]

पृ० १९. पं० ११. 'आलोकोऽपि'–तुलना–' नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च।" [परीक्षामु०
20 २।६, ७] प्रमाणमी० १।१।२५।

पृ० १९. पं० १६. 'तमो निरोधे'–"उद्धृतेयम्–सिद्धिवि० टी० पृ० १८७ B "तमोनिरोधे वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम्। घटादिकम् ·" [सन्मति० टी० पृ० ५४४]

पृ० १९. पं० २४. 'मलविद्धमणि'–उद्धृतेयम्–सिद्धिवि० टी० १९३ A आव० नि० मलय० पृ० १७। इष्टोपदेशटी० पृ० ३०। कर्मग्रन्थटी० पृ० ८।

25 तुलना–"मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकविधेक्ष्यते। कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा न किम्॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९१]

पृ० २०. पं० ६. 'न तज्जन्म'–पूर्वपक्षः–"तस्माच्चक्षुश्च रूपञ्च प्रतीत्योदेति नेत्रधीः। (३।१९०) भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥ कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेप्यनुकुर्वदुदेति यत्। तत्तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति
30 चोच्यते॥ (३।२४७–४८) अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।·· तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता।" [प्रमाणवा० ३।३०५]

तुलना–"तत्पुनः तज्जन्मसारूप्यादिलक्षणं समानार्थनानैकसन्तानेषु संभवात् व्यभिचरति, तदध्यवसायहेतुत्वं च। तथा चार्थग्रहणे न कश्चिद्व्याघातः। अनागतस्य सम्प्रत्यभावेऽपि विषयतोपपत्तेः प्रत्यक्षस्यापि अविसंवादः।" [सिद्धिवि० पृ० ५६६–६८]

35 पृ० २. पं० १६. 'स्वहेतुजनितो'–उद्धृतेयम्–"स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः स्वयं ग्राह्यो

पृ० १२. पं० ८. 'यस्मिन् सत्येव'–तुलना–"किं रूपः पुनरसौ कार्यकारणभावः अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धनः ? इत्याह–तद्भावे भावः तदभावेऽभावश्चेति।" [हेतुबि० टी० लि० पृ० ६१]

पृ० १२. पं० १४. 'कार्योत्पत्ति'–तुलना– 'कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न वै कारणसत्तया। यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यमितरत् कारणम् इति क्षणिकत्वे न संभवत्येव सहोत्पत्ति- 5 प्रसङ्गात् कुतः सन्तानवृत्तिः।" [सिद्धिवि० पृ० १६०, ३२६]

पृ० १३. पं० ५. 'ब्रह्मवादस्तदाभासः'–"निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः। तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात्॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७०] नयविव० श्लो० ६८। प्रमेयक० पृ० २०५ B न्यायावता०टी० पृ०८५। प्रमाणनय० ७।१५–२१। जैनतर्कभा० पृ० २४।

पृ० १३. पं० ११. 'नैगमः'–"णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरुत्ती। 10 सेसाणं पि नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं॥" [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५५। विशेषा० गा० २६८२। "निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्राही नैगमः।' आह च–नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः। देशसमग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः॥" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "अभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।" [सर्वार्थसि० १।३३] राजवा० १।३३। "यदस्ति न 15 तद्द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकं गमो नयः संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम इति यावत्।" [धवलाटी० सत्प्ररू०] "तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः। धर्मयोः धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः॥" पर्यायनैगमादि-भेदेन नवविधो नैगमः। [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९] नयविव० श्लो० ३३–३७। प्रमेयक० पृ० २०५ A. सन्मति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र गा० ३३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। "धर्मयोः धर्मिणोः 20 धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकं गमो नैगमः।" [प्रमाणनय ७।७] स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २१।

पृ० १३. पं० ११. 'नैगमाभास'–"जं सामन्नविसेसे परोप्परं वत्थुओ य सो भिन्ने। मन्नइ अच्चन्तमओ मिच्छद्दिट्ठी कणादोव्व॥" [विशेषा० गा० २६९०] "तयोरत्यन्त-भेदोक्तिरन्योऽन्यं स्वाश्रयादपि। ज्ञेयो व्यञ्जनपर्यायनैगमाभो विरोधतः॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० 25 २७०] नयविव० श्लो० ६३। प्रमेयक० पृ० २०५ A. न्यायावता० टी० पृ० ८२। प्रमाणनय० ७।११। जैनतर्कभा० पृ० २४।

पृ० १३. पं० १५. 'वृत्तिविरोधात्'–तुलना–"वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न ···।" [युक्त्यनुशा० श्लो० ५५] "एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा। भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते॥" [आप्तमी० श्लो० ६२] अष्टश०, अष्टसह० पृ० २१४। "तस्य तेषु 30 सर्वात्मनाऽन्यथा वा वृत्त्ययोगो बाधकं प्रमाणम्··· ···।" [वादन्यायटी० पृ० ३०] "यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते। एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः॥" [तत्त्वसं० पृ० २०३] "यदि सर्वेषु कायोऽयमेकदेशेन वर्तते। अंशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु। कायास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः॥" [बोधिचर्यावि० पृ० ४९५] 35

पृ० १३. पं० १६. 'सतोऽर्थाः'–"सत्ताजोगादसओ सओ व सत्तं हवेज्ज दव्वस्स। असओ न खपुप्फस्स व सओ य किं सत्तया कज्जं॥" [विशेषा० गा० २६९४]

"एवमेते त्रयः सकलादेशा भाष्येणैव विभाविताः संग्रहव्यवहारानुसारिण आत्मद्रव्ये। सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वारः पर्यायनयाश्रया वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः-देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति······विवक्षाधीनता च वचसः सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या। द्रव्यार्थजात्यभेदात् तु सर्वद्रव्यार्थभेदानेकं द्रव्यार्थं मन्यते, यदा पर्यायजात्यभेदांश्चैकं पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदान् प्रतिपद्यते, तदा त्वविवक्षितस्वजातिभेदत्वात् सकलं वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायार्थाभेदोपचरितं तद्विशेषैकाभेदोपचरितं वा तन्मात्रमेकमद्वितीयांशं ब्रुवन् सकलादेशः स्यान्नित्य इत्यादिस्त्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्यत्वयुगपद्भावैकत्वरूपैकार्थाभिधायी। यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्यां तद्विशेषाभ्यां वा वस्तुन एकत्वं तदतदात्मकं समुच्चयाश्रयं चतुर्थविकल्पे स्वांशयुगपद्वृत्तं क्रमवृत्तं च पञ्चमषष्ठसप्तमेषूच्यते तथाविवक्षावशात् तदा तु तथा प्रतिपादयन् विकलादेशः।" [तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४१६]

"तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्यापेक्षितापराशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति घटः स्यादवक्तव्यो घटः इत्येते त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः। ' विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसमूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेः चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः-स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेशः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः।" [सन्मति० टी० पृ० ४४६]

उ० यशोविजयैः यद्यपि शास्त्रवा० टी०-जैनतर्कभा०-गुरुतत्त्वविनिश्चयादौ सर्वेषु भंगेषु सकलादेशविकलादेशोभयरूपता सिद्धान्तीकृता। तथापि तैः अष्टसहस्रीविवरणे 'आद्याः त्रयो भंगाः सकलादेशाः शिष्टाश्च चत्वारो विकलादेशाः' इत्यपि कृतान्तीकृतम्। तथाहि-"··· किन्त्वाद्यभङ्गद्वयघटकनिजपररूपयोः शृंगग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वोपयुज्यते, तृतीयभंगस्त्ववक्तव्यत्वलक्षणः ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तद्भेदादनेकभेद इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपाः, सदसत्त्व-सदवक्तव्यादयश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, देशभेदं विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वात् नोदेतीति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेषामित्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम्।" [अष्टसह० विव० पृ० २०८ B.] शास्त्रवार्त्ताटीकायाम् अयमेव सिद्धान्तः 'केचित्तु' इति कृत्वा निर्दिष्टः। तथाहि-"केचित्तु-अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाविशेषेऽपि आद्यास्त्रय एव भंगा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः अग्रिमास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशाः इति प्रतिपन्नवन्तः।" [शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B.]

पृ० २१. पं० २५. 'स्याज्जीव एव'-मलयगिर्याचार्याः स्यात्पदप्रयोगं प्रमाणवाक्ये एव उररीकुर्वन्ति। एतन्मतानुसारेण सर्वेषां नयानां मिथ्यारूपत्वात्। अतस्तैः 'स्यात्पदलाञ्छितो नयः सम्यग्' इत्यकलङ्कमतस्य समालोचना कृता। समन्तभद्र-सिद्धसेनदिवाकरादिभिरुपज्ञातम् अकलंकमतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति। (द्रष्टव्यम्-टिप्पण पृ० १४२ पं० १३)

मलयगिरिकृता समालोचना इत्थम्-"नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति तथा चाकलङ्क एव प्राह- नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' इति। अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता-नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति। स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति। तदेतदयुक्तम्-

तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दः।" [सर्वार्थसि० १।३३] राजवा० १।३३। "शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः, लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात्।" [धवलाटी० सत्प्ररू०] "कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्। सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७२] नयविव० श्लो० ८४। प्रमेयक० पृ० २०६ A. सन्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। 5 प्रमाणनय० ७।३२,३३। स्या० मं० पृ० ३१३। जैनतर्कभा० पृ० २२।

पृ० १५, पं० ८, 'अभिरूढ'–"वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थू नए समभिरूढे।" [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५८। "सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढः।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा। सण्णंतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढोत्ति॥" [विशेषा० गा० २७२७] "नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः। "अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् 10 समभिरूढः।" [सर्वार्थसिद्ध० १।३३] राजवा० १।३३। धवलाटी० सत्प्ररू०। "समभिरूढः एवं मत्यैकीभावेन आभिमुख्येन एक एव रूपादिरर्थ एवेति या या संज्ञा नानां (?) समभिरूढः।" [नयचक्रवृ० पृ० ४८३ A.] "पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्। नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७३] नयविव० श्लो० ९२। प्रमेयक० पृ० २०६ A. 15 सन्मति० टी० पृ० ३१३। नयचक्र गा० ४१। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० मं० पृ० ३१४। जैनतर्कभा० पृ० २२।

पृ० १५, पं० ८, 'इत्थम्भूतः'–"वंजण अत्थ तदुभयं एवंभूओ विसेसेई।" [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५८। "व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थ हरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः। 20 अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतः तेनैवाध्यवसाययति।" [सर्वार्थसि० १।३३] राजवा० १।३३। "वंजणमत्थेणत्थं च वंजणेणोभयं विसेसेइ। जह घटसद्दं चेट्ठावया तहा तं पि तेणेव॥" [विशेषा० गा० २७४३] "एवं भेदे भवनादेवम्भूतः। न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थवर्तिनां चैकत्वविरोधात्। न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षाऽयोगात्। ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम्। ततः 25 पदमेकार्थस्यैव वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनयः।" [धवलाटी० सत्प्ररू०] "तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात्। एवम्भूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुखः॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४] नयविव० श्लो० ९४। प्रमेयक० पृ० २०६ B सन्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र गा० ४३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जैनतर्कभा० पृ० २३।

पृ० १५, पं० ६, 'कालभेदाद्यावत्'–तुलना–प्रमाणनय० ७।३३। जैनतर्कभा० पृ० २२। 30

पृ० १६, पं० ५, 'तदुत्पत्तिसारूप्य'–तुलना–'तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्यलक्षणम्। संवेद्यं स्यात्समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम्॥" [प्रमाणवा० ३।३२३] प्रमाणनय० ४।४७।

पृ० १६, पं० १८, 'स्त्यायत्यस्यां'–"संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः। ..."अधिकरणसाधना लोके स्त्री स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति। कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति। 35 ..."संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयविवक्षायां नपुंसकमिति।" [पात० महा० ४।१।३]

इति प्रमाणनयप्रवेशः॥

ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए।" [स्थाना० ७।१९] अनुयोग० १३६। "नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताः नयाः।" [तत्त्वार्थसू० १।३३] "नेगमसंग्रहववहारुज्जुसुए होई बोधव्वे। सद्दे य समभिरूढे एवंभूए य मूलनया॥" [आव० नि० गा० ७५४] "नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ।" [तत्त्वार्थाधि० १।३४,३५]

5 सिद्धसेनदिवाकरास्तु षड् नयान् स्वीकुर्वन्ति, तन्मतानुसारेण नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात्। (सन्मति० १।४,५)

पृ० २३. पं० ९. 'व्यतिरेकः'–तुलना–"अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।" [परीक्षामु० ४।९]

पृ० २३. पं० १६. 'ततस्तीर्थंकर'–तुलना–"तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं॥" [सन्मति० गा० १।३] 10

पृ० २३. पं० १८. 'न नैगमस्य प्रमाणता'–तुलना–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९।

पृ० २४. पं० ६. 'व्यवहारात्तु'–"व्यवहारानुकूल्येन..." [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] तुलना–"प्रामाण्यं व्यवहारेण..।" [प्रमाणवा० ३।५]

पृ० २४. पं० २३. 'चत्वारोऽर्थ'–तुलना–"चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः।"

15 [सिद्धिवि० पृ० ५१७ B] राजवा० पृ० १८६। "अत्थप्पवरं सद्दोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तंता। सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति॥" [विशेषा० गा० २७५३] प्रमाणनय० ७।४४,४५। जैनतर्कभा० पृ० २३। नयप्रदीप पृ० १०४ B. "तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः। त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः॥" [नयविव० पृ० २६२]

उद्धृतमिदम् "..जीवाद्यर्थविनिश्चयात्।" [आव० नि० मलय० पृ० ३८१ B.] सूत्रकृताङ्ग 20 टी० पृ० ३२६ A.

पृ० २५. पं० २६. 'न्यासः'–"विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेपः।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।५] "णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो। सो वि छव्विहो णामट्ठवणादव्वखेत्तभावमंगलमिदि।" [धवलाटी० सत्प्रह०]

पृ० २५. पं० २६. 'चतुर्धा'–"जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।

25 जत्थवि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ॥ आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्तं। तं जहा– नामावस्सयं ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं भावावस्सयं।" [अनु० सू० ८] "नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।" [तत्त्वार्थसू० १।५]

मूलाचारे षडावश्यकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः षड्विध उक्तः। आवश्यकनिर्युक्तौ (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालव-

30 चनभावविकल्पात् सप्तविधो निक्षेपः प्ररूपितः।

पृ० २६. पं० १. 'नाम'–"नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम्।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।५] "अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम।" [सर्वार्थसि० १।५] राजवा० पृ० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। "पज्जायाणभिधेयं ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं। जाइच्छिअं च नाम जावदव्वं च पाएणं॥" [विशेषा० गा० २५] जैनतर्कभा०

35 पृ० २५। "अत्ताभिप्पायकया सण्णा चेयणमचेयणे वा वि। ठवणादी निरविक्खा केवल सण्णा उ नामिंदो॥" [बृहत्कल्पभा० गा० ११] "तत्थ णामसंगलं णामणिमित्तंतरणिरवेक्खा मंगलसण्णा। तत्थ णिमित्तं चउव्विहं जाइ दव्व गुण किरिया चेदि।" [धवलाटी० सत्प्रह०]

यथा मतः । तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं स्वयं तद्ग्राहकं मतम् ॥" [सिद्धिवि० टी० पृ० १० B.] न्यायवि० वि० पृ० ३३ A.

पृ० २१. पं० १४. 'उपयोगौ'–"तदुक्तम्–उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदतः ।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४ A.]

पृ० २१. पं० १६ 'स्याद्वादः'–'स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः । तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशादनेकान्तार्थो गृह्यते ।" [राजवा० पृ० १८१] "निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताशेषधर्मान्तरसंसूचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्मवचनं स्याद्वादः ।" [न्यायावता० टी० पृ० ९३] 5

पृ० २१. पं० १७. 'ज्ञानदर्शन'–तुलना–"स्यात्पदप्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखादिरूपा असाधारणा ये चामूर्तत्वासंख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्मा धर्माधर्मगगनास्तिकायपुद्गलैः साधारणाः येऽपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादयः सर्वपदार्थैः साधारणास्तेऽपि च प्रतीयन्ते ।" [आव० नि० मलय० पृ०१७० A] 10

पृ० २१. पं० २०-२१.'साकल्य···वैकल्य'–सकलादेश–विकलादेशयोः स्वरूपे प्रायः ऐकमत्येऽपि केचिदकलंकाद्याचार्याः सर्वानपि भंगान् एकधर्ममुखेन अशेषधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादनकाले सकलादेशरूपान् एकधर्मप्रधानतया अन्यधर्मांश्च गौणतयाऽभिधानसमये विकलादेशात्मकान् स्वीकुर्वन्ति । केचिच्च सिद्धसेनगणिप्रभृतयः सदसदवक्तव्यरूपं भंगत्रयम् सकलादेशत्वेन शिष्टांश्च चतुरो भंगान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते । तथा च तेषां ग्रन्थाः– 15

"तथा चोक्तम्–सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति ।" [सर्वार्थसि० १।६] "तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः ।" एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ।" ' तत्रादेशवशात् सप्तभंगी प्रतिपदम् । ·· यदा तु क्रमं तदा विकलादेशः (पृ० १८०) निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः ।···तत्रापि तथा सप्तभंगी ।" [राजवा० पृ० १८१] नयचक्र० पृ० ३४८ B. "सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा ।" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३६] प्रमेयक० पृ० २०७ A सप्तभंगि० पृ० ३२ । प्रमाणनय० ४।४४, ४५। जैनतर्कभा० पृ० २० । 20 25

"इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ।" [प्रमाणनय० ४। ४३] जैनतर्कभा० पृ० २० । गुरुतत्त्ववि० पृ० १५ A. शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ A. "यदा मध्यस्थभावेनार्थित्ववशात् किंचिद्धर्मं प्रतिपादयिषवः शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविमुखया धिया वाचं प्रयुञ्जते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुग्धाकारतयाचक्षते–यदुत जीवोऽस्ति कर्ता प्रमाता भोक्तेत्यादि, अतः सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावात् विकलादेशोऽभिधीयते नयस्तेन संभवद्धर्माणां दर्शनमात्रमित्यर्थः ।·· यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं परामृश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दभूषितया साधारणया वाचा दर्शयन्ति 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादिकया, अतोऽत्र स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसंभवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते । प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावत् । तदुक्तम्–सा ज्ञेयविशेषगतिर्नयप्रमाणात्मिका भवेत्तत्र । सकलग्राहि तु मानं विकलग्राही नयो ज्ञेयः ॥" [न्यायावता० टी० पृ० ९२] 30 35

पृ० २६, पं० ५, 'सदादिभिः'–"से किं ते अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते तं जहा–संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च, खित्त, फुसणा य, कालो य, अंतरं, भाग, भाव, अप्पाबहुं चेव।" [अनु० सू० ८०] "सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।" [तत्त्वार्थसू० १।८]

पृ० २६, पं० ६, 'जीवस्थान'–"सुहुमा बादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता ।
5 एइंदिया दु जीवा जिणेहि कहिया चदुवियप्पा ॥ पज्जत्तापज्जत्ता वि होंति विगलिंदिया दु छब्भेया । पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णी य सेसा दु ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५२–१५३] जीवकाण्ड गा० ७२ । कर्मग्र० ४।२ ।

पृ० २६, पं० ६, 'गुणस्थान'–"मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव । देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥ एतो अपुव्वकरणो अणियट्टी सुहुमसंपराओ य ।
10 उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५४–१५५] जीवकाण्ड गा० ९–१० । कर्मग्र० २।२ ।

पृ० २६, पं० ६, 'मार्गणास्थान'–"गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसायणाणे य । संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५६] जीवकाण्ड गा० १४१ । कर्मग्र० ४।९ ।

15 पृ० २६, पं० १०, 'नहि गुणादिविनाशात्'–तुलना–"आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३८४]

पृ० २६, पं० १०, 'जडः'–नैयायिकाः जडरूपत्वमात्मनो मुक्तौ स्वीकुर्वन्ति । तथाहि–"नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टो यथा प्रदीपसन्तानः ।" [प्रश० व्यो० पृ० २० क] "तदेवं
20 नवानामात्मगुणानां निर्मूलच्छेदोऽपवर्ग इति यदुच्यते तदेवेदमुक्तं भवति तदत्यन्तवियोगोऽपवर्ग इति ।" [न्यायम० पृ० ५०८]

पृ० २६, पं० १० 'शून्यः'–"बौद्धाः शून्यात्मकत्वमपि मुक्तौ मन्यन्ते । तथाहि–"इह हि भगवता उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषम्, निरुपधिशेषं च । तत्र निरवशेषस्याविद्या-
25 रागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते । तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्नेह इत्युपधिः । उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते । शिष्यत इति शेषः । उपधिरेव शेष उपधिशेषः । सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम् । किं तन्निर्वाणम् । तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण, तत्सोपधिशेषं निर्वाणम् । यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति
30 तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम् । निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा । निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण ।" [माध्यमिकवृ० पृ० ५१९]

पृ० २६, पं० ११, 'तदभोक्ता'–सांख्या हि विरते प्रकृतिसंयोगे मुक्त्यवस्थायां पुरुषमभोक्तारं साक्षिणमामनन्ति । तथाहि–"प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
35 प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥" [सांख्यका० ६१,६५]

इति लघीयस्त्रयस्य टिप्पणानि ।

प्रमाणनयविभागाभावप्रसक्तेः; तथाहि–'स्याज्जीव एव' इति किल प्रमाणवाक्यम् 'स्यादस्त्येव जीवः' इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रय्यलङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम्, अत्र चोभयत्राप्यविशेष., तथाहि–स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्द-वाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूताकारशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्द-प्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माक्षेपः । 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्द- 5 वाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगतिः, एवकारप्रयोगात्तु यदाशंकितं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्व्यवच्छेदः, स्यात्पदप्रयोगात् साधारणासाधारणप्रति-पत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव ।" [आव० नि० मलय० पृ० ३७१ A.]

उ० यशोविजयैः सर्वमेतत् मलयगिरिमतं पूर्वपक्षीकृत्य इत्थं समाहितम्–"अत्रेदमव-धेयम्–यो नाम नयो नयान्तरापेक्षस्तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनय· प्रमाणं स्यात्, तस्य तपः- 10 संयमप्रवचनग्राहकत्वेन संयमग्राहिनिश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् । शब्दनयानाञ्च निक्षेपच-तुष्टयाभ्युपगन्तॄणां भावाभ्युपगन्तृशब्दनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणत्वापत्तिः । नयान्तरवाक्यसंयोगेन सापेक्षत्वे च ग्राह्ये स्यात्पदप्रयोगेण सप्रतिपक्षनयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव लाभात् तेनानन्तधर्मात्मकत्वापरामर्शः । न चेदेवं तदानेकान्ते सम्यगेकान्तप्रवेशानुपपत्तिः, अव-च्छेदकभेदं विना सप्रतिपक्षविषयसमावेशस्य दुर्वचत्वात् । इष्यते चायम्, यदाह महामतिः– 15 'भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा भसइ सव्वदव्वाइं । एवं भयणानियमो वि होइ समयाविरा-हणया ॥' (सम्मति० गा० ३।२७) इति । समन्तभद्रोऽप्याह–'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणन-यसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥' (बृहत्स्वय० श्लो० १०३) इति । पारमर्षेऽपि–'इमा णं भंते रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ । गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया पज्जवट्ठयाए 20 असासया ।' (भगवतीसू०) इति प्रदेशे स्यात्पदमवच्छेदकभेदप्रदर्शकतयैव विवृतम्, अत एव स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमेव तान्त्रिकैरुच्यते. सम्यगेकान्तसाधकस्यानेकान्ताक्षेपकत्वात्, न त्वनन्तधर्मपरामर्शकम्, अतो न स्यात्पदप्रयोगमात्राधीनमादेशसाकल्यं येन प्रमाणनयवाक्य-योर्भेदो न स्यात्, किन्तु स्वार्थोपस्थित्यनन्तरमशेषधर्माभेदोपस्थापकविधेयपदवृत्त्यधीनम्, सा च विवक्षाधीनेत्यादेशसाकल्यमपि तथेति नयप्रमाणवाक्ययोरित्थं भेद एव। मलयगिरिपादवचनं 25 तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्थलेऽवच्छेदकभेदाभिधानानुपयुक्तेन स्यात्पदेन साक्षादनन्तधर्मात्मक-त्वाभिधानात्तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तृदुर्विदग्धदिगम्बरनिराकरणाभिप्रायेण योजनीयम् ।" [गुरुतत्त्ववि० पृ० १७ B.]

पृ० २२. पं० १. 'अप्रयुक्तोऽपि'–"विधौ निषेधेऽन्यत्रापि ·"[आव०नि० मलय० पृ० ३६९ B.] गुरुतत्त्ववि० पृ० १६ A 30

तुलना–' सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छे-दप्रयोजनः ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३७] स्या० रत्ना० पृ० ७१८ । रत्नाकरावता० पृ० ६१ । सप्तभंगि० पृ० ३१ । स्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप पृ० ९६ A

पृ० २२. पं० ३. 'क्वचित् स्यात्कार'–तुलना–"अत्रान्यत्रापि इति · अनुवादा-तिदेशादिवाक्येषु ··।" [आव० नि० मलय० पृ० ३६९ B] 35

पृ० २२. पं० १९. 'लोको हि अर्थाप्त्यनाप्तिषु'–तुलना– "बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति । सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥' [आप्तमी० का० ८७]

पृ० २२. पं० २४. 'नयाः सप्त'–"सत्त मूलणया पण्णत्ता तं जहा–णेगमे, संगहे,

न्यस्य त्यागात्, नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात्। तद्वचने वा न कचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतदंशानामव्यवसाये नामार्थव्यवसायायोगात्। दर्शनेनाव्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानोत्थानाभावात्। तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः इत्यप्रमाणप्रमेयत्वम-
5 शेषस्यावश्यमनुषज्येत। तदुक्तं न्यायविनिश्चये–अभिलाप···इति। 'अभिलापविवेकतः' इति अभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात्। प्रथमपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था। नामतदंशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरतदंशानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात्। तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्येत। अत्रापि इयमेव कारिका योज्या 'अभिलापविवेकतः' इति अभिलापविनिश्चयात्
10 इति व्याख्यानात्।" [अष्टसह० पृ० १२०] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४०।

पृ० ३०, पं० १८. **'आत्मनाऽनेकरूपेण'**–"तदुक्तं न्यायविनिश्चये–आत्मनाऽनेकरूपेण इत्यादि।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ५६ B. ५१२ A.]

पृ० ३१, पं० ३. **'परोक्षज्ञानविषय'**–अत्र हि परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकस्य खण्डनम्। तन्मतञ्चेत्थम्–"न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति
15 तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः··।" न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम्। तस्मान्न बुद्धिविषयं प्रत्यक्षम्, अर्थविषयं हि तत्। अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः।" [शाबरभा० बृहती पृ० ८७]

तुलना–"परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परोक्षवत्।" [प्रमाणस० पृ० ९८ प० १७]

पृ० ३१, पं० ६. **'अन्यथानुपपन्नत्व'**–उद्धृतं पूर्वार्द्धं प्रमेयरत्नमालाया (३।१५)
20 प्रमाणनिर्णये च (पृ० १२)

तुलना–"तथा चान्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति।" [सिद्धिवि० पृ० १३४ A.]

पृ० ३१, पं० १३. **'अध्यक्षमात्मनि'**–तुलना–"प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम्। प्रत्यात्मवेद्यमाहन्ति तत्परोक्षत्वकल्पनाम्॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६६]

पृ० ३१, पं० २५. **'विषयेन्द्रिय'**–तुलना–"अपि चाध्यक्षताभावे धियः स्याल्लिङ्ग-
25 गतो गतिः। तच्चाक्षमर्थो धीः पूर्वो मनस्कारोऽपि वा भवेत्॥ कार्यकारणसामग्र्यामस्यां सम्बन्धिता परम्। सामर्थ्यादर्शनात्तत्र नेन्द्रियं व्यभिचारतः॥ तथार्थो धीमनस्कारौ ज्ञानं तौ च न सिद्ध्यतः। नाप्रसिद्धस्य लिङ्गत्वं व्यक्तिरर्थस्य चेन्मता॥···" [प्रमाणवा० ३।४६१-६३]

पृ० ३१, पं० २५. **'मनस्कारादि'**–"मनस्कारश्चेतस आभोग.। आभुजनमाभोगः, आलम्बने येन चित्तमभिमुखीक्रियते। स पुनरालम्बने चित्तधारणकर्म। चित्तधारणं
30 पुनः तत्रवा (तत्रैवा) लम्बने पुनः पुनश्चित्तस्यावर्जनम्। एतच्च कर्म चित्तसन्ततेरालम्बननियमेन विशिष्टं मनस्कारमधिकृत्योक्तम्।" [त्रिंशिकाभा० पृ० २०] "विषये चेतस आवर्जनं (अवधारणं) मनस्कारः मनः करोति आवर्जयतीति।" [अभिधर्मको० व्या० २।२४]

पृ० ३२, पं० ७. **'असञ्चारोऽनवस्थानम्'**–तुलना–"ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनवस्था तत्र च स्मृतिः। विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्यते॥" [प्रमाणसमु० १।१२]
35 "ज्ञानान्तरेणानुभवो भवेत्तत्रापि च स्मृतिः। दृष्टा तद्वेदनं केन तस्याप्यन्येन चेदिमम्॥ मालो ज्ञानविदां कोऽयं जनयत्यनुबन्धिनीम्। पूर्वा धीः सैव चेन्न स्यात्सञ्चारो विषयान्तरे॥"

पृ० २६. पं० २. 'स्थापना'–"यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स्थापनाजीवः देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।५] "काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना।" [सर्वार्थसि० १।५] राजवा० पृ० २०। "जं पुण तयत्थसुन्नं तयभिप्पाएण तारिसागारं। कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा॥" [विशेषा० गा० २६] "सब्भावमसब्भावे ठवणा पुण इंदके- 5
उमाईया। इत्तरमणित्तरा या ठवणा नाम तु आवकहं॥" [बृहत्कल्पभा० गा० १३] 'सद्भावस्थापनया नियमः, असद्भावेन वाऽतद्रूपेति स्थूणेन्द्रवत्।" [नयचक्रवृ० पृ० ३८१ A.] जैनतर्कभा० पृ० २५। "अहिदणामस्स अण्णस्स सोयमिदिट्ठवणं ठवणा णाम। सा दुविहा–सब्भावासब्भावट्ठवणा चेदि। तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भावट्ठवणा। तव्विवरीया असब्भावट्ठवणा।" [धवलाटी० सत्प्ररू०] "वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। सद्भा- 10
वेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाविरोधतः॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११]

पृ० २६. पं० ३. 'द्रव्य'–"द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।५] 'गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्।" [सर्वार्थसि० १।५] "अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्। अतद्भावं वा।" [राजवा० पृ० २०] धवलाटी० सत्प्ररू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११। 15
"दव्वे पुण तल्लद्धी जस्सातीता भविस्सते वा वि। जो वावि अणुवजुत्तो इंदस्स गुणे परिकहेइ॥" [बृहत्कल्पभा० गा० १४] विशेषा० गा० २८। जैनतर्कभा० पृ० २५। "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके। तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम्॥" [आव० नि० मलय० पृ० ६ B.]

पृ० २६. पं० ३. 'भावनिक्षेपः'–"वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः।" 20
[सर्वार्थसि० १।५] राजवा० पृ० २१। धवलाटी० सत्प्ररू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११३। "जो पुण जहत्थजुत्तो सुद्धनयाणं तु एस भाविंदो। इंदस्स वि अहिगारं वियाणमाणो तदुवउत्तो॥" [बृहत्कल्पभा० गा० १५] "भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः। सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात्॥" [आव० नि० मलय० पृ० ९ A]

पृ० २६. पं० ४. 'अप्रस्तुतार्थ'–तुलना–"स किमर्थः? अप्रकृतनिराकरणाय 25
प्रकृतनिरूपणाय च।" [सर्वार्थसि० १।५] तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। "अथ किमिति निक्षेपः क्रियते? इति चेदुच्यते–त्रिविधाः श्रोतारः अव्युत्पन्नः, अवगताशेषविवक्षितपदार्थः, एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति। तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यार्थम्। द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा। द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा। तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः, अव्युत्प- 30
न्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय। अथ द्रव्यार्थिकः, तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपा उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः। द्वितीयतृतीययोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम्। तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते। उक्तं हि–अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च। संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥" [धवलाटी० सत्प्ररू०] उद्धृतमिदं वाक्यम्–जैनतर्कभा० पृ० २५। 35

पृ० २६. पं० ५. 'निर्देशादिभिः'–"निद्देसे पुरिसे कारण कहिं केसु कालं कइविहं।" [अनु० सू० १५१] "निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः।" [तत्त्वार्थसू० १।७] "किं केण कस्स कत्थ वि केवचिरं कदिविधो य भावो य। छहिं अणिओगद्दारे..." [मूलाचार ८।१५]

"अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्यदि । भ्रान्त्या संकलनं ज्योतिर्मनस्कारेऽपि सा भवेत् ॥"

भ्रान्तिरिति सम्बन्धः । यद्यर्थस्य कार्यं विज्ञानम् अथापि अर्थे कार्यं व्यापारो यस्येति ज्ञानस्मृतौ नियमेन अर्थस्मरणम्, अतस्तदेव मूढमतिसन्तानस्य तथा भवति प्रतिपत्तिः । एवन्तर्हि ज्योतिर्मनस्कारेऽपि तथा प्रतीतिः स्यात् । यथा विषयकार्यता विज्ञानस्य तथा
5 आलोककार्यता मनस्कारकार्यतापि तेन द्वयसंकलनेनापि प्रतीयेत । न हि कार्यत्वे कश्चिद्विशेषः । अथ विषये व्याघृतत्वात् तत्संकलनं मनस्कारे तत्राव्याप्रि [पृ] तत्वात् तदा तर्हि आलोकेऽपि समान एव व्यापारः । न ह्यालोकमपहाय रूपे व्याप्रियते । तदसदेतत् । तस्माद्यथा आलोकप्रतिभासमिति न भवति तथा रूपप्रतिभासमिति न स्यात् । ...... तस्माद्रूपाद्याकारमेव विज्ञानम् । कार्यतया तु तथा प्रतिपत्तौ—

10 सर्वेषामपि कार्याणां कारणैः स्यात्तथा ग्रहः । कुलालादिविवेकेन न स्मर्येत घटस्ततः ॥

तेनापि कार्योऽपि घटादिः स्वकारणविवेकेन न स्मर्येत । अथ अर्थकृतः कश्चिदतिशयो येन ज्ञानस्मरणे अर्थोवि (पि) स्मर्यते, ज्ञानग्रहणे चार्थग्रहः, केवलस्य ज्ञानस्य न ग्रहणस्मरणे, घटादिस्तु केवलोऽपि गृह्यते तेनादानादिकञ्च । तदपि स्वपक्षबाधनाय । तथाहि—

'यस्मादतिशया (यो) ज्ञानमर्थसंसर्गभाजनम् । सारूप्यात्तत्किमन्यत्स्याद् दृष्टश्च यमलादिषु ॥

15 यदि तस्य विज्ञानस्य नार्थाकारता तदाऽर्थग्रहणेनैव सह विज्ञानं गृह्यते स्मर्यते चेति कोऽयं नियमः । तदर्थान्तर्गतं तु नियमेन तद्ग्रहणेनैव गृह्यत इति भवति नियमः । तस्मादर्थस्वरूपमेव विज्ञानमर्थग्रहणनान्तरीयकग्रहणं तत्स्मरणनान्तरीयकस्मरणञ्च ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ८८-८९]

पृ० ३६, पं० ६, 'अन्तःशरीर'—प्रज्ञाकरो हि स्वप्नावस्थायां सूक्ष्मशरीरं
20 स्वप्रान्तिकनामानं स्वीकरोति । तस्मिन्नेव त्रासलंघनधावनादयो भवन्ति । तदेव स्वप्रान्तिकं शरीरमत्र ग्रन्थकृता 'अन्तःशरीर' शब्देन आक्षिप्तम् । तन्निर्देशश्चेत्थम्—"यथा स्वप्रान्तिकः कायः त्रासलङ्घनधावनैः । जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १४८] "प्रज्ञाकरस्तु स्वप्रान्तिकशरीरवादी स्वप्नदशायामपि व्यवहारादिनिर्भासज्ञानस्य साक्षात् चिकीर्षादिप्रभवनियममभ्युपगच्छति..." [सिद्धिवि० टी० पृ० १३८ B.]

25 पृ० ३६, पं० १०, 'विप्लुताक्षा'—विज्ञानवादिनः विप्लुताक्षबुद्धि—तैमिरिकचन्द्रद्वयबुद्धि—दृष्टान्तेन सर्वेषां प्रत्ययानां निरालम्बनत्वं साधयन्ति । तथाहि—"विज्ञप्तिमात्रमेवेदम् असदर्थावभासनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥" [विज्ञप्तिमात्र० विंशतिका पृ० १] "अत एव सर्वे प्रत्ययाः अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः ।" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २२]

30 तुलना—"विप्लुताक्षा यथा बुद्धिः वितथप्रतिभासिनी । तथा सर्वत्र किन्नेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥ सर्वज्ञानानां स्वयमविषयीकृतानां निर्विषयतासिद्धिः इष्टविघातकृत् विरुद्धः स्याद्वादलंघने ।" [सिद्धिवि० पृ० ३३७]

पृ० ३६, पं० १६, 'प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्'—"तदुक्तं न्यायविनिश्चये-प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्' इत्यादि ।" [सिद्धिवि० टी० पृ० २६८ B.] प्रमाणस० पृ० १०३।

35 पृ० ३६, पं० २८, 'इन्द्रजालादिषु'—"तथा चोक्तमकलंकदेवैः- इन्द्रजालादिषु..." [आप्तप० पृ० ४९] सिद्धिवि० टी० पृ० २०८ B.

न्यायविनिश्चयस्य

॥ टिप्पणानि ॥

पृ० २९. पं० ३. 'प्रसिद्धाशेष'-तुलना-"प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थबोध···" [आप्तप० का० १] पत्रपरी० का० १।

पृ० २९. पं० ९. 'बालानां हितकामिनाम्'-तुलना-प्रमाणवा० ११२। श्लोकोऽयं नयविवरणे (कारि० ११९) मूलरूपेण उपलभ्यते।

पृ० २९. पं० १४. 'प्रत्यक्षलक्षणं'-'आकलंकावबोधने' इति कृत्वा समग्रेयं 5 कारिका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (पृ० १८४) विद्यते। 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैर्न्यायविनिश्चये' इति कृत्वा पूर्वार्द्धं न्यायदीपिकायाम् (पृ० ८) उद्धृतम्।

पृ० २९. पं० १५. 'द्रव्यपर्यायसामान्य'-"तुलना-द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः।" [जैनतर्कवा० पृ० १०१]

पृ० २९. पं० १५. 'सामान्यविशेष'-तुलना-"···सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य 10 ···" (पृ० २७) "सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम्।" [योगसू० व्यासभा० पृ० २६६] "सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका। जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्ध्यति॥ ···तेन नात्यन्तभेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः॥" [मी० श्लो० पृ० ५४६-४८] "सर्वेष्वपि वस्तुषु इयमपि गौरियमपि गौः अयमपि वृक्षोऽयमपि इति व्यावृत्तानुवृत्ताकारं प्रत्यक्षं देशकालावस्थान्तरेष्वविपर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेव तर्काभासं विजित्य द्व्याकारं वस्तु व्यवस्थापयत् 15 केनान्येन शक्यते बाधितुम्।" [शास्त्रदी० पृ० ३८७]

पृ० ३०. पं० ७. 'एकत्र निर्णये'-पूर्वार्द्धं प्रमाणसंग्रहे (का० ८) उपलभ्यते।

पृ० ३०. पं० १०. 'अभिलापतदंशानाम्'-अस्यां कारिकायां बौद्धाभिमतस्य 'अभिलापवत्त्वं विकल्पस्य लक्षणम्' इति मतस्य खण्डनं कृतम्। तन्मतञ्चेत्थम्- "अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह-नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते 20 डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति।" [प्रमाणसमु० टी० पृ० १२] "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना···" [न्यायबि० पृ० १३] "···अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना···। शब्दार्थघटनायोग्या वृक्ष इत्यादिरूपतः। या वाचामप्रयोगेऽपि साभिलापेव जायते॥" [तत्त्वसं० पृ० ३६६] 25

अष्टसहस्र्याम् अस्य सोद्धरणं व्याख्यानमित्थम्-"नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसायः किन्न स्यात्? स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयैर्व्यवसीयन्ते इत्येक-

नैवान्येन विना क्वचित्। विरुद्धोऽयं ततो हेतुर्यद्यस्ति सहवेदनम्॥'''पुनः स एवाह-यदि सहशब्द एकार्थः तदा हेतुरसिद्धः; तथाहि-नटचन्द्रमल्लप्रेक्षासु न ह्येकेनैवोपलम्भो नीलादेः। नापि नीलतदुपलम्भयोः एकेनैवोपलम्भः। तथाहि-नीलोपलम्भेऽपि तदुपलम्भानामन्यमन्तानगतानामनुपलम्भात्। यदा च सत्त्वं प्राणभृतां सर्वे चित्तक्षणाः सर्वज्ञेनावसीयन्ते तदा कथ-
5 मेकेनैवोपलम्भः सिद्धः स्यात्। किंच, अन्योपलम्भनिषेधे सत्येकोपलम्भनियमः सिद्ध्यति। न चान्योपलम्भप्रतिषेधसंभवः, स्वभावविप्रकृष्टस्य विधिप्रतिषेधायोगात्। अथ सहशब्द एककालविवक्षया, तदा बुद्धविज्ञेयचित्तेन चित्तचैत्तैश्च सर्वथाऽनैकान्तिकता हेतोः। यथा किल बुद्धस्य भगवतो यद्विज्ञेयं सन्तानान्तरचित्तं तस्य बुद्धज्ञानस्य च सहोपलम्भनियमेऽप्यस्त्येव च नानात्वम्, तथा चित्तचैत्तानां सत्यपि सहोपलम्भे नैकत्वमित्यतोऽनैकान्तिको हेतुरिति।'''स्या-
10 देतत् यद्यपि विपक्षे सत्त्वं न निश्चितं सन्दिग्धं तु ततश्चानैकान्तिको हेतुः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।''" [तत्त्वसं० प० पृ० ५६७-६९] शाबरभा० बृहतीप० १।५। शां० भा० भामती २।२।२८। योगसू० तत्त्ववै० ४। १४। न्यायकणि० पृ० २६४। अष्टश०, अष्टसह० पृ० २४२। प्रमेयक० पृ० २१। न्यायकुमु० पृ० १२२। सन्मति० टी० पृ० ३५२। स्या० रत्ना० पृ० १५४।

पृ० ४१. पं० २२. 'तत्र दिग्भाग'-तुलना-"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः
15 षडंशता। षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥" [विज्ञप्ति० विंशिका पृ० ७] चतुःशतक पृ० ४८। "यद्वा सर्वात्मना वृत्तौ अनेकत्वं प्रसज्यते। एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः॥" [तत्त्वसं० पृ० २०३] न्यायकुमु० पृ० २२७।

पृ० ४१. पं० २७. 'न चैकमेकरागादौ'-तुलना-"एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृतिः स्यादनावृतौ। दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः॥" [प्रमाणवा० २।८५] "रक्ते
20 च भाग एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत्। विरुद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुषज्यते॥" [तत्त्वसं० पृ० १९८] अवयविनिरा० पृ० ८७। न्यायकुमु० पृ० २२८।

पृ० ४२. पं० ५. 'चित्रं तदेकमिति'-अत्रायं पूर्वपक्षः-"चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः। नैकस्वभावं चित्रं हि मणिरूपं यथैव तत्॥" [प्रमाणवा० ३।२००]

तुलना-"तत्र चित्रं भवेदेकमिति ' वेत्सि ''" [प्रमाणसं० पृ० १०३]

25 पृ० ४३ पं० १८ 'अत्यासन्नानसंसृ'-पूर्वपक्षः-"अर्थान्तराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे। उक्तास्ते संचितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः॥" [प्रमाणवा ३।१९५]

पृ० ४३. पं० २५. 'कारणस्याक्षये'-" तदुक्तं न्यायविनिश्चये-कारणस्या ''" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४६ B ३१४ A. ३४३ A.]

पृ० ४३. पं० २६. 'समवायस्य'-अत्रायं पूर्वपक्षः-अयुतसिद्धानामाधार्याधार-
30 भूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्ययहेतुः स समवायः। ''इह तन्तुषु पटः इह वीरणे कट इह द्रव्ये गुणकर्मणी '।" [प्रश० भा० पृ० ६९९]

पृ० ४४. पं० ३. 'शाखा वृक्षेऽपि'-तुलना-लघी० टि० पृ० १४६ प० ७।

पृ० ४४. पं० ६. 'तुलितद्रव्यसंयोगे'-तुलना-" गुरुत्वाधोगती स्यातां यद्यस्य स्यात्तुलानतिः।" [प्रमाणवा० ४।१५४]

35 पृ० ४४. पं० ११. 'आसूक्ष्मतः'-तुलना-" आसूक्ष्माद् द्रव्यमालायास्तौल्यत्वादंशुपातवत्। द्रव्यान्तरगुरुत्वस्य गतिर्नेत्यपरोऽब्रवीत्॥" [प्रमाणवा० ४।१५६]

[प्रमाणवा० ३।५१३-१४] "ज्ञानान्तरेणानुभवे सोऽर्थः स्वानुभवे सति। प्र (अ) सिद्धः सिद्ध्यसंसिद्धेः कदा सिद्धो भवेत्पुनः॥ तज्ज्ञानज्ञानजातौ चेदसिद्धः स्वात्मसंविदि। परसंविदि सिद्धस्तु स इत्येतत्सुभाषितम्॥ तस्याप्यनुभवे (ऽसिद्धे) प्रथमस्याप्यसिद्धता। तत्रान्यसंवि-दुत्पत्तावनवस्था प्रसज्यते॥ गोचरान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्यते। गोचरान्तरसञ्चारे यदन्त्यं तत्स्वतोऽन्यतः॥ न सि (द्ध्येत्तस्य चा) सिद्धौ सर्वेषामप्यसिद्धता। अतश्चान्ध्यम- 5
शेषस्य जगतः सम्प्रसज्यते॥" [तत्त्वस० पृ० ५६४] तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६७।

पृ० ३३. पं० ६. 'सारूप्येऽपि'-पूर्वपक्षः-"हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन। तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते॥" [प्रमाणवा० ३।२२४] "अर्थेन घटय-त्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्। अन्यत्स्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन॥ तस्मात् प्रमेया-धिगतेः साधनं मेयरूपता।" [प्रमाणवा० ३।३०५] 10

पृ० ३४. पं० १५. 'सत्यं तमाहुः'-"तदुक्तं न्यायविनिश्चये-सत्यं तमाहु··· सदर्थमसदर्थं वा ····" [सिद्धिवि० टी० पृ० १८९] "सत्यं तमाहुर्विद्वांसो विद्यया विभ्रमेण यः।" [प्रमाणस० पृ० १०७]

पृ० ३४. पं० १६. 'विषयज्ञान'-स्वसंवेदनज्ञानवादिभिः बौद्धैः हि विषयज्ञान-तज्ज्ञानयोः भेददर्शनात् तदाकारता प्रसाध्यते। ग्रन्थकृता उक्तं यत्-विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदः 15
निराकारत्वेऽपि सुघटः। बौद्धानां तदाकारतासाधनप्रकारः इत्थं द्रष्टव्यः-

"विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता। स्मृतेरप्युत्तरे काले नह्यसावविभावितः॥" [प्रमाणसमु० १।१२] "ननु चाकारः प्रमाणं स्वसंवेदनं फलमिति साकारसिद्धौ स्यात्, तदेव तु कथं सिद्ध्यति ? उक्तमत्र, अपि च-

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषाद् बुद्धिरूपता। 20

विषये रूपादौ यज्ज्ञानं तदर्थस्वाभासम्, विषयज्ञाने तु यज्ज्ञानं तदर्थानुरूपज्ञानाभासम् स्वाभासञ्च। अन्यथा यदि विषयज्ञानमर्थाकारमेव स्यात् स्वाकारमेव वा विषयज्ञानज्ञानमपि तदविशिष्टं स्यात्। विषये यत् ज्ञानं तदर्थस्वाभासमिति साध्यम्, उत्तरो हेतुः, अन्यथेत्यादि बाधकप्रमाणम्।" [प्रमाणवार्त्तिकाल० पृ० ८३]

तुलना-"विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः-विषयाकारपरिच्छेदात्मनि ज्ञाने यदि स्वाकार- 25
परिच्छेदो न स्यात् तद्विषये विज्ञाने विषयाकाररूपतैवेति तयोरविशेषः स्यात्।" [राजवा० पृ० ३५] "घटविज्ञानतज्ज्ञानविशेषस्तेन दुर्लभः।" [मी० श्लो० पृ० ३२४]

पृ० ३४. पं० २५. 'अर्थज्ञानस्मृता'-बौद्धा हि विषयसंकलितज्ञानस्मृत्यन्य-थानुपपत्त्या तदाकारतां प्रसाधयन्ति। केनचिदाशङ्कितम्-'यत् मास्तु तदाकारता, केवलं ज्ञानमर्थकार्यम्, अतः अर्थसंकलितज्ञानस्मरणं जायते, न तु तदाकारतया' तत्र समाहितं 30
बौद्धैः-'यत् तदाकारतां विनापि यदि अर्थकार्यतामात्रेण अर्थसंकलितस्मरणं स्यात्तदा ज्ञानम् आलोकस्य मनस्कारस्य वा कार्यं भवति, अतः आलोकसंकलितस्य मनस्कारसंकलितस्य वा ज्ञानस्य स्मरणं स्यात्। न च दृश्यते अतः स्वीकार्यम्-यत् यदाकारं ज्ञानं तदाकारानुरक्तस्य स्मरणमिति।' यदि कारणत्वादेव अर्थस्य संकलनं ज्ञाने तदा घटेऽपि कुलालस्य कारणभूतस्य संकलनं स्यात्, तथा च घटस्मृतौ कुलालोऽपि स्मर्येत इत्यादि। ग्रन्थकृता अत्र तदाकारता- 35
स्थापनाय बौद्धैः य अतिप्रसङ्ग आपादितः स ज्ञानं निराकारं स्वीकृत्यापि शक्तिप्रतिनियमादेव समाहितः। अतिप्रसङ्गापादकः बौद्धग्रन्थस्त्वयम्-

पृ० ५०. पं० २३. 'मानसम्'–"तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवः। मनः···" [प्रमाणवा० ३।२४३] "स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम्।" [न्यायबि० पृ० १७] "इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते। साक्षात्करणतस्तत्तु प्रत्यक्षं मानसं मनम्॥" [प्रमाणवार्तिकाल लि० पृ० ४१०]

5 पृ० ५१. पं० १६. 'प्रोक्षितम्'–"प्रोक्षितं–यज्ञादौ मन्त्रादिसंस्कृतं मांसादि।" [शब्दकल्पद्रुम]

पृ० ५१. पं० २७. 'चतुःसत्य'–"चत्वार्यार्यसत्यानि। तद्यथा–दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति।" [धर्मस० पृ० ५] "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा। निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः॥" [अभिधर्मको० ६।२]

10 पृ० ५१. पं० २६. 'योगिविज्ञानम्'–"प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम्। विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते॥" [प्रमाणवा० ३।२८१] "भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।" [न्यायबि० पृ० २०] तत्त्वस० पृ० ३९८।

पृ० ५२. पं० १. 'श्रोत्रादिवृत्तिः'–पूर्वपक्षः–"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्।"
15 [योगसू० व्यासभा० पृ० २७]

तुलना–"कापिलास्तु श्रोत्रादिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वमिच्छन्ति।···" [प्रमाणसमु० पृ० ६४] न्यायवा० पृ० ४३। "वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह–श्रोत्रादिवृत्तिरिति।" [न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५] न्यायम० पृ० १००। "श्रोत्रादिवृत्तिः भ्रान्तेऽपि नहि नाम न विद्यते। न च ज्ञानं विना वृत्तिः श्रोत्रादेरुपपद्यते॥" [प्रमाणवार्तिकाल लि० पृ ४४०] तत्त्वोप० लि०
20 पृ० ७७। "श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षमित्यप्येतेन चिन्तितम्। तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७] नयचक्रवृ० पृ० ७३ A. षड्द० बृह० पृ० ४३। प्रमाणमी० पृ० २४।

पृ० ५२. पं० ४. 'तथाचार्थ'–पूर्वपक्षः–"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" [न्यायसू० १।४] प्रश० भा० पृ० ५५३।

25 पृ० ५२. पं० १०. 'लक्षणं'–तुलना–प्रमाणस० पृ० ९९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४।

इति प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः।

पृ० ५२. पं० २१. 'साधनात्'–तुलना–"साध्याविनाभुवो लिंगात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्॥" [न्यायाव० श्लो० ५] लघी० का० १२। "साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः। प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयोः॥"
30 [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७] प्रमाणप० पृ० ७०। परीक्षामु० ३।१४। प्रमाणनय० ३।९। प्रमाणमी० १।२।७। न्यायदी० पृ० २०। जैनतर्कभा० पृ० १२।

पृ० ५३. पं० २. 'साध्यं'–"एवं हि यैरुक्तम्–साध्यं···" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४, १९७] "तदुक्तमकलंकदेवैः–साध्यं ·" [प्रमाणप० पृ० ७२] " साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः।" [प्रमाणस० पृ० १०२] प्रमाणनि० पृ० ६१। "तदुक्तं न्यायविनि-
35 श्चये–साध्यं ··" [न्यायदी० पृ० २१]

पृ० ३७. पं० १. 'तत्र शौद्धोदनेरेव'–"तदुक्तं न्यायविनिश्चये–तत्र शौद्धोद-नेरेव…तत्राद्यापि जडासक्तास्तमसो…" [अष्टसह० पृ० ११६]

तुलना–"शौद्धोदनेरेव प्रज्ञापराधोऽयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यतिविस्मयमास्महे। तन्मन्ये (तमन्ये) पुनरद्यापि कीर्त्तयन्तीति किं बत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः।' [अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११६] "कथञ्चिद् याथात्म्यप्रतिपत्तिमन्तरेण यथादर्शनमेवेत्यादि ब्रुवतः क्षणि- 5
कभ्रान्तैकान्तचित्तसन्तानान्तराणि स्वभावनैरात्म्यं वा ब्रुवतः शौद्धोदनेः तावदयं प्रज्ञापराधः कथमिति सविस्मयं सकरुणं नश्चेतः। सन्त्यस्यापि अनुवक्तार इति किमन्यदनात्मज्ञतायाः।" [सिद्धिवि० पृ० ७४] "आचार्यस्तस्यैव तावदिदमीदृशं प्रज्ञास्खलितं कथं वृत्तमिति सविस्मयानुकम्पमस्मच्चेतः। तदपरेऽप्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तभुवनं दिग्व्यापकं तमः।" [वादन्याय-टी० पृ० ५१] 10

पृ० ३७. पं० ६. 'विभ्रमे विभ्रमे'–तुलना–"भ्रान्तावपि यदि भ्रान्तिः भ्रान्तिरेव विशीर्यते। भ्रान्तावभ्रान्ततावित्तौ भ्रान्तिः सेति प्रतीयते॥" [प्रमाणवार्तिकाल० लि०पृ०२०३]

"तदुक्तं न्यायविनिश्चये–विभ्रमे…" [सिद्धिवि० टी० पृ० ६२ A.] अष्टसह०पृ०११६। "सर्वथा विभ्रमे तस्य…" [प्रमाणसं० पृ० १०६]

पृ० ३८. पं० ३. 'परितुष्यति'–अत्रायं पूर्वपक्षः–"मणिप्रदीपप्रभयोः मणि- 15
बुद्ध्याभिधावतोः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥" [प्रमाणवा० ३।५७]

पृ० ४०. पं० ६८. 'विज्ञप्तिर्वितथा'–पूर्वपक्षः–"यथा [स्वप्न] त्ययापेक्षाद-विद्योपप्लुतात्मनाम्। विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते तिमिरादिवत्॥ असंविदिततत्त्वा च सा सर्वापरदर्शनैः।" [प्रमाणवा० ३।२१७]

पृ० ४१. पं० ९. 'सहोपलम्भ'–विज्ञानवादिनः अर्थसंविदो. सहोपलम्भनि- 20
यमादभेदं साधयन्ति। तथाहि–"सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह। विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिद्ध्यति॥ विषयस्य हि नीलादेर्धिया सह सकृदेव संवेदनम्। धिया सह न पृथक्। ततः संवेदनादपरो विषय इति कथम्?" [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ११] "यद् यस्मादपृथक् संवेदनमेव तत्तस्मादभिन्नं यथा नीलधीः स्वस्वभावात्। यथा वा तैमिरिकज्ञान-प्रतिभासी द्वितीय उडुपः–चन्द्रमा.। नीलधीवेदनञ्चेदम् इति पक्षधर्मोपसंहारः। धर्म्यत्र 25
नीलाकारतद्धियौ, तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः, यथोक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः। ईदृश एवाचार्यीये प्रयोगे हेत्वर्थोऽभिप्रेतः।" [तत्त्वसं० प० पृ० ५६७]

तुलना–"सहोपलम्भनियमात् स्याद्भेदो नीलतद्धियोः। असहानुपलम्भश्चेत् असिद्धः पृथगीक्षणात्॥ सहोपलम्भनियमादभेदैकान्तसाधने न कश्चिद्भ्रान्तिज्ञानं स्यात् सुप्तवत् भ्रान्तिप्रत्यक्षयोः तेन तदेकान्तः, भ्रान्तिविविक्तप्रत्यक्षस्वभावोपपत्तेः। बहिरन्तश्च नीलतद्धि- 30
योर्दर्शनात् कुतः सहोपलम्भनियमः सिद्धः? सकृदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनां परज्ञानानुपलम्भेऽपि तदर्थदर्शनात् कुतो नियमः? तदेकक्षणवर्तिनां सहोपलम्भनियमात् स्वयं वा उत्पत्तेः सकल-जगदेकसन्तानं प्रसज्येत। यदि पुनरेकज्ञानोपलम्भनियमः; असिद्धो हेतुः अनैकान्तिकश्च, नीलस्य अनेकज्ञानोपलम्भवत् बहूनामपि द्रव्याणामेकज्ञानोपलम्भाप्रतिषेधात्। यद्यसहानु-पलम्भः; को विशेषः? प्रसज्यप्रतिषेधमात्रमसाध्यसाधनम् धस्यैव (?) अर्थाद्यंगविलक्षणात्।" 35
[सिद्धिवि० प० ३३३–३३६] प्रमाणसं० पृ० १०९।

"तत्र भदन्तशुभगुप्तस्त्वाह–विरुद्धोऽयं हेतुः यस्मात् सहशब्दश्शब्दश्च लोकेऽन्यो (स्या)

देहद्धिश्रो ॥" [विशेषा० गा० २१४०] "जो वासत्थसंभिलासी पढमो अहिलासपुव्वगो सोवि। अहिलासच्चा जूणो जह विलयाहारअहिलासी ॥" [धम्मसंग्र० गा० १४५]

पृ० ६४. पं० १५. 'तथा रागादयो'–तुलना–"रागद्वेषादयश्चामी पटवोऽभ्यासयोगतः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भवन्तः परिनिश्चिताः ॥" [तत्त्वसं० पृ० ५४६]

5 पृ० ६६. पं० २. 'न चेत्स'–तुलना–"तदुक्तम्–स्वतोऽन्यतो वा विवर्तेत क्रमाद्धेतुफेक्षात्मना।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ३५१ A.]

पृ० ६६. पं० २०. 'साधनं'–तुलना–प्रमाणस० पृ० १०२। "अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम् ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४] परीक्षामु० ३।१५। "तथा चोऽभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः–अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमङ्ग्यते। प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानु-
10 रोधतः ॥" [प्रमाणप० पृ० ७२]

पृ० ६६. पं० २३. 'विरुद्धासिद्ध'–तुलना–"हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।" [परीक्षामु० ६।२१]

पृ० ६७. पं० १. 'एकं चलं'–तुलना–"एकं आवृतैरावृतं रूपं रक्त रक्तें..." [प्रमाणस० पृ० १०२]

15 पृ० ६८. पं० २७. 'रूपादीनि'–तुलना–"नीलादीनि निरस्यान्यचित्रं चित्रं यदीक्षसे।" [प्रमाणवा० ३।२०२]

पृ० ७२. पं० २७. 'शिलाप्लवः'–तुलना–"स्वलक्षणानि परिस्फुटम् अध्यबुद्धौ प्रतिभासन्ते इति शिलाप्लवं कः श्रद्दधीत ?" [सिद्धिवि० पृ० १२५ B.]

पृ० ७४. पं० १. 'अन्यथानुपपन्न'–श्लोकोऽयं सिद्धिविनिश्चयेऽपि विद्यते। तट्टी-
20 काकृता चाय पात्रस्वामिकर्तृकत्वसमालोचनपुरस्सर भगवत्सीमन्धरस्वामिकर्तृकतया निर्दिष्टः। [सिद्धिवि० टी० पृ० ३०० A.] न्यायविनिश्चयविवरणे आराधनाकथाकोशे च अस्य पद्मावतीदेव्या भगवत्सीमन्धरस्वामिसकाशादानीय पात्रस्वामिने समर्पणञ्च समुल्लिखितम्। श्लोकोऽयं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके वार्त्तिककार (राजवार्त्तिककार) कर्तृकतया तत्त्वसंग्रहादिषु च पात्रस्वामिप्रणेतृकतया समुद्धृतः। तथाहि–

25 "तथाह च–अन्यथानुपपन्न..." [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३] "हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तम्– अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्। इति।" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५] प्रमाणप० पृ० ७२। जैनतर्कवा० पृ० १३५। सूत्रकृतागटी० पृ० २२५। प्रमाणमी० पृ० ४०। "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते–अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता। नासति त्र्यंशकस्यापि तस्माल्क्लीबास्त्रिलक्षणाः ॥ ...नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र...अन्यथानुपपन्नत्वं ..." [तत्त्वस० पृ० ४०६]
30 "तदुक्तं जैनैः–अन्यथानुपपन्नत्वं ..." [सन्मति० टी० पृ० ५६०] न्यायदी० पृ० ३२। "तदुक्तं पात्रस्वामिना–अन्यथानुप..." [स्या० रत्ना० पृ० ५२१]

तुलना–"अन्यथाऽसम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम्।" [प्रमाणसं० पृ० १०४]

पृ० ७५. पं० २४. 'तुलोन्नाम'–तुलना–"तुलोन्नाम... तादात्म्यं सहचारतः।" [प्रमाणस० पृ० १०७] "परस्पराविनाभूतौ नामोन्नामौ तुलान्तयोः।" [सिद्धिवि० पृ० ३१५ A.]

पृ० ४४. पं० १५. 'ताम्रादि'—तुलना—"तस्य क्रमेण संयुक्ते प्रांशुरश्मौ सकृच्छ्रुते। भेदः स्यात्क्रैस्ते तस्मात् पृथक् सह च वोदिते॥ क्रमेण भापकादीनां संख्यासाम्यं न युज्यते। सर्वशब्देष्वनुप्रासाच्चरोत्तरोत्तरवृद्धिमत्॥···" [प्रमाणवा० ४।१५७–५८]

पृ० ४४. पं० २६. 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—तुलना—"गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिआ गुणा। लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिआ भवे॥" [उत्तरा० २८।६] "दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥" [पञ्चास्ति० गा० १०] "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" [तत्त्वार्थसू० ५।३८] "तं परियाणहु दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जयजुत्तु। सहभुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु॥" [परमात्मप्र० गा० ५७] लघी० टि० पृ० १४२ पं० २७।

पृ० ४५. पं० ७. 'भेदज्ञानात्'—तुलना—"भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते यथा भेदाः परिस्फुटम्। तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः॥" [जैनतर्कवा० पृ० ११०] "तथा चोक्तं न्यायविनिश्चये-भेदज्ञानात्···" [सिद्धिवि० टी० पृ० १६९ A.]

पृ० ४५. पं० ११. 'सदोत्पाद'—द्रष्टव्यम्-लघी० टि० पृ० १४२ पं० २१।

पृ० ४५. पं० १६. 'अत्यक्तप्रकृतिसंक्लेशः'—तुलना—"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः। पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्॥" [मी० श्लो० पृ० ६९५] "तदुक्तं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत्।" [प्रमाणप० पृ० ११२]

पृ० ४५. पं० २४. 'स्वलक्षण'—तुलना-प्रमाणस० पृ० १०३।

पृ० ४६. पं० ५. 'तद्भावः'—तुलना—"तद्भावः परिणामः।" [तत्त्वार्थसू० ५।४२]

पृ० ४६. पं० ११. 'भेदानां'—अत्रायं पूर्वपक्षः—"नैकस्मिन्नसंभवात्" [ब्रह्मसू० २।२।३३] "भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः।" [प्रमाणवा० १।९१]

पृ० ४६. पं० १३. 'अन्वयो'—तुलना-प्रमाणस० पृ० १०७।

पृ० ४६. पं० २३. 'उत्पादविगम'—तुलना—"उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्यायसंग्रहम्। कृत्स्नं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम्॥" [सिद्ध० द्वात्रि० २०।१]

पृ० ४६. पं० १८. 'नौयानादिषु'—नौयानादीनि विभ्रमकारणानि। द्रष्टव्यम्-लघी० टि० पृ० १४८ पं० ८।

पृ० ४६. पं० २२. 'तस्माद् दृष्टस्य'—अत्रायं पूर्वपक्षः—"तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः। भ्रान्त्या न निश्चय इति साधनं सम्प्रवर्त्तते॥" [प्रमाणवा० १।४६]

पृ० ४६. पं० २५. 'प्रत्यक्षं कल्पना'—अत्रायं पूर्वपक्षः—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।" [प्रमाणवा० ३।१२३]

पृ० ५०. पं० १४. 'अविकल्पक'—पूर्वपक्षः—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्···" [प्रमाणसमु० १।३] "यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्।" [न्यायप्रवे० पृ० ७] "तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।" [न्यायबि० पृ० ११] तत्त्वस० पृ० ३६६। "तत्रायं न्यायमुखग्रन्थः—यज्ज्ञानमर्थरूपादौ विशेषणाभिधायकाभेदोपचारेणाविकल्पकं तदक्षमक्षं प्रति वर्त्तत इति प्रत्यक्षम्।" [तत्त्वसं० पं० पृ० ३७२]

[न्यायवि० पृ० १३३] न्यायप्रवे० पृ० ९ । प्रमाणमी० २।१।२९ । "अस्तु मिथ्योत्तरं जातिरकलङ्कोक्तलक्षणा ।" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३०९,३१०]

पृ० ७६. पं० ३०. 'दध्युष्ट्रादेः'–पूर्वपक्षः–"सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः । चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ।।" [प्रमाणवा० १।१८३]

5 पृ० ८०. पं० २. 'विदूषकः'–तुलना–"मिथ्यार्थाभास्थिरज्ञानचित्रसन्तानसाधकः। तत्त्वज्ञानगिराङ्गं (?) दूषकस्त्वं विदूषकः ।।" [सिद्धिवि० पृ० ३३० B.]

पृ० ८०. पं० १५. 'साधर्म्यादिसमत्वेन'–"साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ।" [न्यायसू० ५।१।१]

10 वादविधि-प्रमाणसमुच्चय-न्यायमुख-तर्कशास्त्रोपायहृदयादिषु साधर्म्यादिसमानां जातीनां वर्णनमस्ति । द्रष्टव्यम्–प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ११३ । न्यायकुमु० टि० पृ० ३२३ ।

पृ० ८०. पं० १५. 'नेह प्रतन्यते'–तुलना–"छलजातिनिग्रहस्थानभेदलक्षणं नेह प्रतन्यते विस्तरभयात् अन्यत्र तद् द्रष्टव्यम् ।" [सिद्धिवि० पृ० २५६ B.]

पृ० ८०. पं० २०. 'असाधनाङ्ग'–पूर्वपक्षः–"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं 15 द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ।।" [वादन्याय पृ० २]

तुलना–"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमिष्टं चेत् किं पुनः साध्यसाधनैः ।।" [सिद्धिवि० पृ० २७२ A] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१ । प्रमेयक० पृ० २०३ A. प्रमाणमी० २।१।३५ ।

पृ० ८०. पं० २८. 'दृष्टान्तः'–तुलना–"साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयते 20 तराम् । साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्मतः ।। साध्ये निवर्त्तमाने तु साधनस्याप्यसंभवः । ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः ।।" [न्यायाव० श्लो० १८–१९] परीक्षामु० ३।४७–४९ । प्रमाणनय० ३।४०–४४ ।

पृ० ८०. पं० २८. 'तदाभासाः'–तुलना–"साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः ।।" [न्यायाव० श्लो० २४] परीक्षामु० ६। 25 ४०–४५ । प्रमाणनय० ६।५८–७९ । प्रमाणमी० २।१।२२–२७ ।

पृ० ८१. पं० ३. 'वादः'–तुलना–"विरुद्धयो धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृततदन्यधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः ।" [प्रमाणनय० ८।१] प्रमाणमी० २।१।३० ।

पृ० ८१. पं० ५. 'आस्तां तावद्'–उद्धृतेयं कारिका–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७९ ।

पृ० ८१. पं० ८. 'वितण्डादिः'–"यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाध30 नोपालम्भो जल्पः । स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।" [न्यायसू० १।२।१,२]

पृ० ८१. पं० १२. 'प्रामाण्यं यदि'–श्लोकोऽयं प्रमाणसंग्रहेऽपि (पृ० १२७) विद्यते ।

इति द्वितीय अनुमानप्रस्तावः ।

तुलना-"पक्षः प्रसिद्धो धर्मी, प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः।' [न्यायप्रवे० पृ० १] "साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।" [न्यायाव० श्लो० १४] "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः इति।" [न्यायबि० पृ० ७९] "इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।" [परीक्षामु० ३।१५] "अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्।" [प्रमाणनय० ३।१२] जैनतर्कभा० पृ० १३। "सिसाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः।" [प्रमाणमी० १।२।१३] 5

पृ० ५३. पं० १५. 'भ्रान्तेः'-तुलना-" भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्" [न्यायवा० पृ० २०] प्रमाणस० पृ० १०२।

पृ० ५४. पं० ७. 'व्याधिभूत'-तुलना-" व्याधिभूतग्रहेन्द्रियप्रवृत्तिनिवृत्त्योः मन्त्रौषधादिशक्तेश्च कुतः सिद्धिः ?" [सिद्धिवि० पृ० ३४९ A.] 10

पृ० ५७. पं० १४. 'नो चेद्विभ्रम'-तुलना-"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम्।" [प्रमाणवा० १।४५]

पृ० ५६. पं० २. 'मेचकादिवत्'-तुलना-"यथा कल्माषवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रहः। चित्रत्वाद्वस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदावधारणम्॥ यदा तु शबलं वस्तु युगपत्प्रतिपद्यते। तदान्यानन्यभेदादि सर्वमेव प्रलीयते॥" [मी० श्लो० पृ० ५६१] नरसिंहमेचकवद् वस्तुनो जात्यन्तरात्मकत्वाभ्युपगमात्।" [अनेकान्तजय० पृ० २८१] 15

पृ० ५६. पं० १६. 'प्रत्यभिज्ञा'-" प्रत्यभिज्ञा द्विधा इत्यादिवचनात्।" [सिद्धिवि० टी० पृ० १७८ B.]

पृ० ६२. पं० ३. अप्रत्यक्षेऽपि'-"अप्रत्यक्षेऽपि ··तद्गुणो ज्ञानं नो जातिस्मरदर्शनात्।" [प्रमाणस० पृ० १०७] 20

पृ० ६२. पं० २८. 'विकृतेरविकारिणी'-तुलना-"प्रसुप्तिकाद्यवस्थासु शरीरविकृतावपि। नान्यथात्वं मनोबुद्धेस्तस्मान्नेयं तदाश्रिता॥" [तत्त्वस० का० १९३४] 'न च यस्य विकारेऽपि यन्न विक्रियते तत्तत्कार्यं युक्तमतिप्रसङ्गात्।' [तत्त्वस० प० पृ ५२७] न्यायकुमु० पृ० ३४६।

पृ० ६२. पं० २६. 'निर्ह्रासा'-तुलना-"बुद्धिव्यापारभेदेन निर्ह्रासातिशयावपि। प्रज्ञादेर्भवतो देहनिर्ह्रासातिशयैर्विना॥" [प्रमाणवा० २।७३] 25

पृ० ६३. पं० २४. 'जातिस्मराणां'-तुलना-"जाइस्सरो न विगओ सरणाओ बालजाइसरणोव्व। जह् वा सदेसवत्तं नरो सरंतो विदेसम्मि॥" [विशेषा० गा० २१५०] "जाईसरणं च इहं दीसई केसिंचि अवितहं लोए। पुव्वभवणावियसेवियसंवादातो अणेगभव॥" [धर्मसग्र० गा० १४६] "नात्मापि लोके नोऽसिद्धो जातिस्मरणसंश्रयात्।" [शास्त्रवा० १।४०] 30

पृ० ६३. पं० २८. 'नास्मृतेऽभिलापो'-"न स्मृतेरभिला····· इत्यकलंकवचनम्··।" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३२९]

पृ० ६३. पं० ३१. 'जातमात्रेऽपि'-तुलना-"पूर्वानुभूतस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः।' [न्यायभा० ३।१।१९] न्यायम० पृ० ४७०। तत्त्वस० प० पृ० ५३२। "पढमो थणाहिलासो अण्णाहाराहिलासपुव्वोऽयं। जह् बालहिलासपुव्वो जुवाहिलासो य 35

[आत्मतत्त्ववि० पृ० ९४] "यथोक्तम्–सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी। खलबिलान्तर्गतस्यापि बीजस्य सत्त्वदर्शनात्॥" [तर्कभा० मो० लि० पृ० २२]

पृ० ८४. पं० १४. 'स्वप्नेक्षणिकादेर्वा'–तुलना–"स्वप्ने च मानसं ज्ञानं सर्वार्थानुभवात्मकम्। (पृ० ८८६) .... अतीन्द्रियार्थविज्ञानयोगो नाप्युपलभ्यते। मन्त्रादिगुणयोगित्व पुंसां विद्यादिशक्तितः॥ अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या या सुविभाविता। परचित्तपरिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि॥ आदिशब्देन गान्धारीप्रभृतीनां ग्रहणम्।" [तत्त्वस० पृ० ८८८]

पृ० ८४. पं० १४. 'ज्ञानाद्युचितविवेकतः'–तुलना–"एवं क्लेशावरणप्रहाणं प्रसाध्य ज्ञेयावरणप्रहाणं प्रतिपादयन्नाह–साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः। सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितः॥" [तत्त्वस० पृ० ८७५]

पृ० ८५. पं० २. 'एवं यत्केवलज्ञानं'–पूर्वपक्षः–"एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥ नर्ते तदागमात् सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना।" [मी० श्लो० पृ० ८७]

पृ० ८५, पं० १५. 'ग्रहादिगतयः'–तुलना–"धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः। ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम्॥" [सिद्धिवि० पृ० ४१३ A.] चन्द्रसूर्योपरागादेस्ततः संवाददर्शनात्। अप्रत्यक्षेऽपि पापादौ न प्रामाण्यं न युज्यते॥" [शास्त्रवा० २।३] प्रमाणमी० पृ० १२।

धर्मकीर्तिना ज्योतिर्ज्ञानोपदेशस्य सर्वज्ञत्वसाधकत्वे सन्दिग्धव्यतिरेकितोक्ता। तथाहि–"सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकमुदाहर्त्तुमाह–यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा अविद्यमानसर्वज्ञताप्ततालिंगभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति। अत्र वैधर्म्योदाहरणं यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति।" [न्यायबि० पृ० १२६] "तदिह वैधर्म्योदाहरणाद् ऋषभादेरसर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यावृत्तिः सन्दिग्धा। यतो ज्योतिर्ज्ञानं चोपदिशेदसर्वज्ञश्च भवेदनाप्तो वा, कोऽत्र विरोधः? नैमित्तिकमेतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्वमनुमापयेत्।" [न्यायबि० टी० पृ० १२७]

पृ० ८५. पं० १६. 'सूक्ष्मान्तरित'–कारिकेयं मूलतः स्वामिसमन्तभद्रोक्ता। तुलना–आप्तमी० का० ५। प्रमाणमी० पृ० १२। "तदुक्तं स्वामिभिः महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः..." [न्यायदी० पृ० १३]

पृ० ८६. पं० १. 'म्लेच्छादिव्यवहारवद्'–तुलना–"तस्मादपौरुषेयत्वे स्यादन्योऽपुरुषाश्रयः। म्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि॥ अनादित्वाद् भवेदेवं पूर्वसंस्कारसन्ततेः। 'अदृष्टेऽपौरुषेयत्वे कः सिद्धेऽपि गुणो भवेत्॥" [प्रमाणवा० ३।२४७–४८] "सिद्धेऽपि तदनादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसंवादकत्वं प्रत्येतव्यम्, म्लेच्छादिव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात्।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३८] "कर्त्तुरस्मरणेऽपि प्रबन्धानादित्वं स्यान्न पुनः नित्यत्वमेव, तथापि कथं प्रामाण्यं तादृशैः म्लेच्छव्यवहारवत्।" [सिद्धिवि० पृ० ४०८ A.]

पृ० ८६, पं० ६. 'कालेनैतावता'–तुलना–प्रमाणस० पृ० ९८।

पृ० ८६. पं० २०. 'स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानाम्'–तुलना–"नित्यत्वेऽपि शब्दानां सर्वेषां स्यात् सकृच्छ्रुतिः। समानग्रहयोग्यत्वात् व्यापिनां समवस्थितेः॥ तत्कृतमुपकारम-

पृ० ७५. पं० २९. 'चन्द्रार्वाक्परभागयोः'–तुलना–"तदेतस्मिन् प्रतिबन्धनियमे कथं चन्द्रादेरर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽनुमीयेत नानयोः कार्यकारणभावः सहैव भावात्। न च तादात्म्यलक्षणो भेदात्।" [सिद्धिवि० पृ० २०६ B.]

पृ० ७६. पं० ७. 'एतेन पूर्ववत्'–अत्रायं पूर्वपक्षः–"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।" [न्यायसू० १।१।५] 5

पृ० ७६. पं० ७. 'वीत'–पूर्वपक्षः–"तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं वीतमवीतं च। तत्र अन्वयमुखेन प्रवर्त्तमानं विधायकं वीतम्। व्यतिरेकमुखेन प्रवर्त्तमानं निषेधकमवीतम्। तत्र अवीत शेषवत्। वीतं द्वेधा पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्टञ्च।" " सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ३०।

पृ० ७६. पं० ७. 'संयोग्यादौ'–पूर्वपक्षः–"अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।" [वैशे० सू० ९।२।१] 10

पृ० ७६. पं० १०. 'अन्यथानुपपन्नत्व'–तुलना–"अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्। तदप्रतीतिसन्देहविपर्यासैस्तदाभता॥" [न्यायवि० श्लो० २२]

पृ० ७६. पं० १८. 'निर्व्यापारो'–तुलना–प्रमाणस० पृ० १०७।

पृ० ७६. पं० २८. 'सत्त्वमर्थे'–तुलना–"अन्यथा निश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि।" [प्रमाणस० पृ० १०७] 15

पृ० ७६. पं० ३१. 'सर्वज्ञप्रतिषेधे'–तुलना–"सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा सन्दिग्धम्, अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः।" [न्यायबि० पृ० १०५] 'वक्तृत्वादेर्दोषसंक्षयो नेत्यके व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धो व्यभिचार्यतः॥" [प्रमाणवा० ३।१४२] परीक्षामु० ६।३३। प्रमाणनय० ६।५७।

पृ० ७८. पं० १९. 'परदुःखपरिज्ञानात्'–तुलना–"सर्ववेदने तु परसन्तानरागादिवेदने रागादिमत्त्वमिति न सत्, तथाहि–परसन्तानसंवित्तौ वीतरागित्ववेदने। तस्य रागित्वमप्यस्तीत्येतदत्यन्तदुर्घटम्॥ यदैवासौ रागी पररागवेदने तथा परवीतरागवेदने वीतरागोऽपि। उभयमपि तदैवेति चेन्न; एकेनाप्यनुभूतत्वाभावे रागी कथं मतः। तटस्थस्य हि संवित्तौ न रागित्वादिसम्भवः॥ तथाहि–न घटवेदने घटीभवति। एवं रागादयोऽपि परसन्तानान्तर्गतास्तटस्थतया अवगम्यमाना न रागित्वं निर्वर्त्तयन्ति।" [प्रमाणवार्त्तिकाल० लि० पृ० ४३४] 20 25

पृ० ७८. पं० ३०. 'असिद्धश्चाक्षु'–तुलना–"तत्र शब्दानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वादित्युभयासिद्धः।" [न्यायप्रवे० पृ० ३] "अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वात्।" [परीक्षामु० ६।२३।] प्रमाणनय० ६।५०।

पृ० ७९. पं० ३. 'विरुद्धा'–"एकलक्षणमाहात्म्याद्धेत्वाभासा निवर्तिताः। विरुद्धानैकान्तिकासिद्धाज्ञाताकिञ्चित्करादयः॥ अन्यथानुपपत्त्या निर्णीतो हेतुः। अन्यथैवोपपत्त्या विरुद्धः। अन्यथा चोपपत्त्यानैकान्तिकः। तथा अन्यथा च सम्भूष्णुरसिद्धः। अज्ञाने पुनरज्ञातोऽकिञ्चित्करः तथैव। न ह्येकलक्षणाभावे त्रिलक्षणं गमकम्। अनुपलब्धस्तावदत्र निश्चेतुमशक्यैव।" [सिद्धिवि० पृ० ३४३–४४] 30

पृ० ७९. पं० २७. 'तत्र मिथ्योत्तरं'–तुलना–"दूषणाभासास्तु जातयः।"

वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी।" [राजवा० १।६] "द्रव्यपर्यायसामान्यविधानप्रतिषेधतः। सहक्रमविवक्षायां सप्तभङ्गी तदात्मनि॥" [प्रमाणस० पृ० १२२] तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२८। प्रमेयरत्नको० पृ० ५। प्रमाणनय० ४।१३-२१। जैनतर्कभा० पृ० १९। नयोप० पृ० ९४ A.। स्याद्वादम० का० २३। सप्तभङ्गित० पृ० २।

5 पृ० ९०. पं० १४. 'प्रयोगविरहे'-तुलना-लघी० टि० पृ० १५१ प० २९।

पृ० ९१. पं० ४. 'संशयादिप्रसङ्गः'-पूर्वपक्षः-" अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते। एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावावियोगतः॥ यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते। पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात्तदा तस्य व्ययः कथम्॥ ध्रौव्येपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्त्वं प्रतीयते। प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा॥ तस्मान्न नित्यानित्यस्य 10 वस्तुनः संभवः क्वचित्। अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत्॥" [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३५] "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्येतदप्ययुक्तम्; ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्। कथञ्चिदुत्पादव्ययौ कथञ्चिद् ध्रौव्यमिति चेत्; यथा उत्पादव्ययौ न तथा ध्रौव्यम्, यथा च ध्रौव्यं न तथोत्पादव्ययौ इति नैकं वस्तु यथोक्तलक्षणं स्यात्।" [हेतुबि० टी० लि० पृ० २१६] द्रष्टव्यम्-न्यायकुमु० पृ० ३६० टि० १, ३६१ टि० १।

15 तुलना-"न चास्य विरोधसङ्करानवस्थाप्रसङ्गदोषानुषङ्गः .." [नयचक्रवृ० लि० पृ० ५८ B.] अष्टश०, अष्टसह० पृ० २०६। प्रमाणस० पृ० १०३। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३५। प्रमेयक० पृ० १५८ A.। न्यायकुमु० पृ० ३७०। सन्मति० टी० पृ० ४५१। स्या० रत्ना० पृ० ७४१। प्रमेयरत्नमा० ४।१। प्रमाणमी० पृ० २८। शास्त्रवा० टी० पृ० २६५। सप्तभङ्गित० पृ० ८१।

पृ० ९२. पं० २. 'अप्राप्यकारिणः'-तुलना-" ज्ञस्वभावस्य अप्राप्यकारिणः प्रति-20 बन्धाभावे त्रिकालगोचरमशेषं द्रव्यं कथञ्चिज्जानतो न कश्चिद्विरोधः।" [सिद्धिवि० पृ० १९४B.]

पृ० ९३. पं० १. 'यदि किञ्चिद्विशेषेण'-तुलना-लघी० का० १९। लघी० टि० पृ० १३९ पं० ३४।

पृ० ९३. पं० ८. 'आद्ये परोक्ष'-तुलना-"आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।" [तत्त्वार्थसू० १।११, १२]

25 पृ० ९३. पं० ११. 'केवलं लोक'-तुलना-"केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते।" [प्रमाणवा० ३।२१९]

पृ० ९३. पं० १६. 'प्रमाणस्य फलं'-तुलना-"उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः। पूर्वा वाऽज्ञाननाशः सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥" [आप्तमी० का० १०२] "प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्। केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः॥" [न्यायाव० श्लो० 30 २८] "उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्।" [सर्वार्थसि० १।१०] "प्रमाणस्य फलं साक्षात्सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।" [सिद्धिवि० पृ० १२६ A] तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२७। परीक्षामु० ५।१,२। प्रमाणनय० ६।१-५। प्रमाणमी० १।१।३४-४०।

पृ० ९३. पं० २१. 'नयचक्रतः'-तुलना-"आत्मज्ञानादिभेदानामानन्त्यं नयचक्रतः।" [प्रमाणसं० पृ० १२५] "तद्विशेषाः प्रपञ्चेन सञ्चिन्त्या नयचक्रतः।" [तत्त्वार्थ-35 श्लो० पृ० २७६] अष्टसह० पृ० २८८। नयविव० पृ० २६४। प्रमेयरत्नमा० ३।७४।

इति न्यायविनिश्चयस्य टिप्पणानि।

पृ० ८१. पं० २७. 'सिद्धं प्रवचनं'–तुलना–"कृत्स्नं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ।" [सिद्ध० द्वात्रिं० २१।१] प्रमाणसं० पृ० ११६ ।

पृ० ८२. पं० ५. 'पुरुषातिशयो'–पूर्वपक्षः–"पुरुषातिशयापेक्षं यथार्थमपरे विदुः । इष्टोऽयमर्थः [प्रत्येतुं शक्यः] सोऽतिशयो यदि ॥ अयमेवं नवेत्यन्यदोषा निर्दोषतापि वा । दुर्लभत्वात् प्रमाणानां दुर्बोधेत्यपरे विदुः ॥" [प्रमाणवा० १।२२०–२१] 5

तुलना–"पुरुषातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिष्यते ॥" [प्रमाणसं० पृ० ११६] "विप्रलम्भशङ्कानुबन्धात् इत्यधिकारिकारिकां विप्रलम्भो वचनं तस्याशङ्का तस्या अनुबन्धात् कारणात् पुरुषातिशयः किमिष्यते ? नेष्टव्य इत्यर्थः" तदनुबन्धिकारणं दर्शयन्नाह–चेष्टते व्याप्रियते वेद्यादि यथाकृतम्, क इत्याह–वीतदोषो वीतरागः, क इव दोषवदिति । दूषणान्तरमाहपुरुषातिशयः सन्नपि ज्ञातु यद्यशक्यः किमिष्यते ? [सिद्धिवि० टी० पृ० ३९३ B] 10

पृ० ८२. पं० १२. 'सिद्धहिंसा'–तुलना–"प्रसिद्धहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहस्वविपक्षगुणोत्कर्षमाशंसमान. यथार्थदर्शनादिगुणो नेति निःशङ्क नश्चेतः ।" [प्रमाणसं० पृ० ११६]

पृ० ८२. पं० १५. 'हेयोपादेयतत्त्वस्य'–पूर्वपक्षः–"हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य प्रसिद्धितः । प्रधानार्थाविसंवादनुमानम्परत्र वा ॥" [प्रमाणवा० १।२१९]

पृ० ८२. पं० २८. 'भावनापरिपाकतः'–पूर्वपक्षः–' तस्माद् भूतमभूतं वा यद् 15 यदेवाभिभाव्यते । भावनापरिनिष्पत्तौ तत्स्फुटाकल्पधीफलम् ॥" [प्रमाणवा० ३।२८५] "भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्" [न्यायवि० पृ० २०] "किंच, ये ये विभाव्यन्ते ते ते भान्ति परिस्फुटम् । भावनापरिनिष्पत्तौ कामादिविषया इव ॥" भूतार्थभावनोद्भूतेः प्रमाणं तेन तन्मतम् ।" [तत्त्वसं० पृ० ८९६]

तुलना–"चतुःसत्यभावनोपायं निर्वाणं सकलं कथम् मिथ्याज्ञानतः तत्त्वप्रतिपत्तिः । 20 कथमतत्त्वभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं तत्त्वज्ञानञ्च । मिथ्यैकान्ताविशेषे नैरात्म्येतरपक्षयोः न कश्चिद्विशेषः ।" [सिद्धिवि० पृ० ३५४–५५] "यदि पुनः चिन्तामयीमेव प्रज्ञामनुशीलयतां विभ्रमविवेकनिर्मलमनःप्राप्तिः निर्वाणम्, तच्च कथम् अतत्त्वभावनातः, मिथ्याभावनायां तत्त्वज्ञानं कामशोकभयोन्मादादिवत् ।" [सिद्धिवि० पृ० ३८७]

पृ० ८३. पं० ३. 'निरुपद्रवभूतस्य'–तुलना–"निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य 25 विपर्ययैः । न बाधा यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥" [प्रमाणवा० १।२२३, २।२१०]

पृ० ८३. पं० ९. 'यस्तावत् करुणा'–तुलना–लघी० टि० पृ० १३१ पं० १२ ।

पृ० ८३. पं० १०. 'सन्तानः'–तुलना–लघी० टि० पृ० १३१ पं० ३ ।

पृ० ८३. पं० २४. 'विश्वलोकाधिक'–पूर्वपक्षः–' सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः । यथाऽद्यत्वे न विस्रम्भस्तथाऽतीतार्थकीर्त्तने ॥" [मी० श्लो० पृ० ८८] "ज्ञानवान् 30 मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये । अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥ तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् । कीटसंख्यापरिज्ञाने तस्य नाद्योऽपि युज्यते ॥" [प्रमाणवा० २।३०, ३१]

पृ० ८४. पं० ६. 'सकलज्ञस्य'–तुलना–"सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी । विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादेरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥" [तत्त्वसं० पृ० ६५] प्रमाणसं० पृ० १०० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३,१४ । "सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः ॥" 35

भिन्नमन्ये वदन्ते समानतन्त्राः । 'परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रुतमविप्लवम्' इति वचनादिति तदयुक्तम्;···त्रिविधं भवति श्रौतं न त्वविप्लवं प्रमाणमित्यर्थः। प्रत्यक्षे हि परोपदेशस्य अनर्थकत्वात्।··तस्मेदं श्रुतस्य लक्षणम्। किं तर्हि ? इत्याह–परोपदेशजं श्रौतमिति। परोपदेशजं श्रौतमति शेषं जगुर्जिनाः। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमत् ।।" [जैनतर्कवा० पृ० १३१]

5 पृ० ९७. पं० ७. 'हिताहितप्राप्ति'–तुलना–"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।" [परीक्षामु० १।२] प्रमाणनय० १।३। "हिताहितार्थसम्प्राप्तित्यागयोर्यन्निबन्धनम् तत्प्रमाणं ··" [जैनतर्कवा० पृ० १]

पृ० ९७. पं० १६. 'अक्षज्ञान'–"तदुक्तम्–अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरपराकृतेः ।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४७२ A.]

10 पृ० ९८. पं० २. 'विविधान्'–"तथा चात्र देवस्य वचनम्–विधादानुविधादनस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात् ।" [न्यायवि० वि० पृ० ८३ A.]

पृ० ९८. पं० १३. 'स्वार्थमात्राख्य'–तुलना–"अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, तदुत्पत्तौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाभेदात् सुषुप्तचैतन्यवत्। सन्निधानं हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षः ।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७५, १२३]

15 पृ० ९८. पं० १४. 'तिमिराद्य'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४० पं० २६।

पृ० ९८. पं० १७. 'परोक्षज्ञानार्थ'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १५६ प० १३।

पृ० ९८. पं० २७. 'कालेनैतावता'–अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्–"एतावताऽनादिरूपेण कालेन कथं न प्रलय गतः तदागमः।,कीदृशोऽनाप्तः, अविद्यमानः तदर्थाभिमुखे साक्षात्कारिपुरुषः प्रलयङ्गतोपपन्नस्येव रागाद्युपहतचेतस्कतया प्रज्ञाबलवैकल्यादिना

20 चार्वाकदर्शिनामनुपदेशान्यथोपदेशादेरप्रतिवेदनादेश्च प्रतिपुरुषमुपक्षीयमाणस्य सर्वत्रापि देशादिना कालेन निर्मूलोन्मूलनस्य सम्भवात्। दृश्यते हि इदानीन्तनानामपि नैपथ्यादिव्यवहाराणां बहुजनपरिगृहीतानामपि निर्मूलप्रलयः ।" [न्यायवि० वि० पृ० ५६२ A.]

पृ० ९९. पं० ३. 'सत्यस्वप्नवत्'–"तद्धि सत्यस्वप्नज्ञानम् इन्द्रियासंसृष्टं व्यवहितं चार्थसंवैति इति प्रमाणसङ्ग्रहे निरूपितम् ।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४३० B.]

25 तुलना–"इहापि सत्यस्वप्रदर्शिनोऽतीतादिकं विदन्त्येव। (पृ० ३११) सत्यस्वप्नदर्शनवत्–सत्यस्वप्नदर्शनं हि तत्कालानुयायनैव ग्राहकमीक्षते ।" [प्रमाणवार्तिकाल लि० पृ० ४१०] "एतदुक्तम्–यथाहि सत्यस्वप्नदर्शिनो ज्ञानं परमार्थतोऽविषयमपि प्रतिनियतविषयाकारं लिङ्गागमानपेक्षमाश्रयविशेषादुत्पद्यमानमुपदर्शितार्थप्रापकत्वेनाविसंवादि भवति तथा योगिज्ञानं प्रज्ञापारमितायोगाभ्यासबलेन यथैव तदभूद्भवति भविष्यति च अतीतं वर्तमानमनागतं वस्तु

30 परेण परिकल्पितं तथैवोपदर्शितविविधाकारप्रकारप्रभेदप्रपञ्चं बहिरिव परिस्फुटरूपं स्फुटप्रतिभासं लिङ्गागमानपेक्षमविसंवादितयोत्पन्नं प्रत्यक्ष प्रमाणमिष्यते। अतश्चैवं भगवतः सर्वत्र साक्षाद्दर्शित्वाभ्युपगमात् यत्र प्राप्तं न विज्ञात साक्षात्कृतं तदभावेन सर्वज्ञज्ञानमुच्यते। यतो भ्रान्तिनिवृत्तावप्याकारनिवृत्तेः प्रतिबन्धाभावेनासंभवः इति मध्यमकनयानुसारेणार्यनागार्जुनपादप्रभृतय.।" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १७७]

35 सत्यस्वप्नज्ञानदृष्टान्तस्य समालोचनं निम्नग्रन्थेषु दृश्यते–"ये तु पुनः सर्वमेव योगिविज्ञानमनालम्बनं सत्यस्वप्नदर्शनवद्वस्तुसंवादितया प्रमाणमिति प्रतिपन्नाः; तान् प्रत्यन्तबस्वबोधं

त्मसात्कुर्वतः तद्देशवृत्तिनियमात् कूटस्थस्य न संभवति। सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितैकशब्दश्रुतिर्न स्यात्। न हि समानदेशाना समानाक्षविषयाणामेतन्न्याय्यम्। प्रत्येकं व्यञ्जकनियमे कलकल-श्रुतेरनुपपत्तेः। व्यक्ताव्यक्तस्वभावप्राप्तिपरिहारमन्तरेण कुतो व्यक्तिः। तत्त्यागोपादानमृते कुतस्तिरोधानम्? सत्यां च व्यञ्जकव्याप्तौ न स्याद्वर्णक्रमस्य नियमाद्वृत्तिः, नावश्यम्भावनियमः उच्चारणात् श्रुतेस्ततः।" [सिद्धिवि० पृ० ५५४]

पृ० ८६. पं० २५. 'नित्यत्वम्'–पूर्वपक्षः–"नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्। नित्यः शब्दो भवितुमर्हति। कुतः? दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनमुच्चारणम् तत्परार्थम्। परमर्थं प्रत्याययितुम्। उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् अतो न परार्थमुच्चार्येत। अथाविनष्टः; ततो बहुश उपलब्धपूर्वत्वादेवार्थावगमः इति युक्तम्।" [शाबरभा० १।१।१८]

पृ० ८६. पं० ३०. 'स एवायमिति'–पूर्वपक्षः–"एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति स एवायमिति। प्रत्यभिजानाना वयमिवान्येऽपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति। अथ मतम्–अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः 'सः' इति वक्ष्यन्ति; तन्न, नहि ते सदृश इति प्रतियन्ति, किं तर्हि? 'स एवायम्' इति।" [शाबरभा० १।१।२०]

पृ० ८८. पं० १४. 'सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः'–तुलना–प्रमाणसं० का० ६८।

पृ० ८८. पं० २१. 'अहं ममाश्रवो'–तुलना–प्रमाणसं० का० ६९। "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।" [तत्त्वार्थसू० १।४] "नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते। तं जहा–जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो।" [स्थानांगसू० ९।६६५]

पृ० ८९. पं० ५. 'सात्मीभावाद्धि'–तुलना–"सर्वेषां सविपक्षत्वान्निर्ह्रासातिशयश्रिताः। सात्मीभावात्तदभ्यासाद् हीयेरन्नास्रवाः क्वचित्॥" [प्रमाणवा० १।२२२]

पृ० ८९. पं० १२. 'यद्यप्यनात्मविज्ञान'–पूर्वपक्षः–"तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम्। उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः॥ २५६॥ तत्रैव तद्विरुद्धात्मतत्त्वाकारानुरोधिनी। हन्ति सानुचरां तृष्णां सम्यग्दृष्टिः सुभाविता॥ २७१॥" [प्रमाणवा० २।२५६, २७१] "अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयङ्करम्। विनेयेभ्यो हितायोक्तं नैरात्म्यं तेन तु स्फुटम्॥" [तत्त्वसं० पृ० ८६६]

पृ० ८९. पं० १७. 'मैत्र्यादि'–तुलना–"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।" [योगसू० १।३३] "मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु।" [तत्त्वार्थसू० ७।११] "चत्वारो ब्रह्मविहाराः–मैत्री करुणा मुदितोपेक्षा चेति।" [धर्मसं० पृ० ४] "मैत्र्यद्वेषः करुणा च मुदिता सुमनस्कता। उपेक्षाऽलोभः।" [अभिधर्मको० ८।३०]

पृ० ९०. पं० ३. 'सप्तभंगी'–तुलना–"सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं। दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥" [पञ्चास्तिका० गा० १४] प्रवचनसा० २।२३। "अत्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं। वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ॥" [सन्मति० १।३६–४०] "कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्। तथोभयमवाच्यञ्च नययोगान्न सर्वथा॥" [आप्तमी० का० १४] "विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिद्विश एक एव। त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे॥" [युक्त्यनु० श्लो० ४६] "अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं। पज्जाएण दु केणवि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा॥" [विशेषा० गा० २२३२] "प्रश्नवशादेकत्र

पृ० १०२. पं० २५. 'एकं चलं'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० १३।

पृ० १०३. पं० १. 'स्वलक्षण'–अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्–"स्व-लक्षणम् असङ्कीर्णपदेन स्वलक्षणस्य विशेषात्मकत्वं समानपदेन च सामान्यात्मकत्वमुक्तम् अतः सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वं वस्तु सविकल्पकमेव नाऽसहायस्वभावमत एवाह–सविकल्प-
5 कमिति (पृ० ३५२A) समर्थमिति यस्मात् स्वकार्ये समर्थं शक्तं स्वलक्षणं तस्मादसङ्कीर्णमिति। स्वलक्षणस्य स्वरूपमाह स्वगुणैरेकम् इति। स्वग्रहणेन परगुणैरेकत्वाभावमावेदयन् 'चोदितो-दधि खादेति' इत्यादेरनवकाशत्वं दर्शयति। गुणशब्देन च तस्य सामान्यवाचित्वात् गुणपर्य-ययोरुभयोरपि ग्रहणम्। अत एवाह–सहक्रमविवर्तिभिः इति।" [न्यायवि० वि० पृ० ३५४ B.]

पृ० १०३. पं० ४. 'संशयविरोध'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १७० प० ६।

10 पृ० १०३. पं० १५. 'विप्लवेऽपि'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० ११।

पृ० १०३. पं० २१. 'कस्यचित्कैवल्यं'–तुलना–"तस्य कैवल्यमेव अपरस्य वैकल्यमिति।" [हेतुबि० लि०] अष्टश० अष्टसह० पृ० ५३। "पूर्वस्य कैवल्यम् अपरस्य वैकल्यम्।" [सिद्धिवि० पृ० ३६२]

पृ० १०३. पं० २४ 'परापरविभागैक'–तुलना–"अधऊर्ध्वविभागादिपरिणाम-
15 विशेषतः। तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः॥ अधश्च (अधश्च) ऊर्ध्वं च ये विभागा मूलशाखारूपा अवयवास्ते आदयो येषां पार्श्वमध्यविभागानां तैः सह परिणाम-विशेषः कथञ्चिदभेदपरिणामः तत इति, अभेदपरिणामाद्धि शाखाभिरिह शाखिनः शाखासु वृक्ष इत्येष प्रत्ययः परिदृश्यते ''यदि च शाखासु वृक्ष इति प्रत्ययात् तत्र वृक्षस्य कार्यत्वेन वृत्तिः वृक्षे शाखा इत्यपि प्रत्ययात् तासामपि तत्र तथा वृत्तिः प्राप्नुयात्, एवं च न यावच्छाखा
20 न तावद् वृक्षः न यावन्न वृक्षो न तावच्छाखा इति परस्पराश्रयादुभयाभावः परस्यापत्तेः इति आवेदयन्नाह–तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः इति। तानेव अङ्कुतानवयवान् अवयविनं च पश्यन् प्रत्येति प्रतिपद्यते शाखा आधेयभूता वृक्षे आधारभूते न केवलं तासु वृक्षम् अपि तु तत्रापि ताः प्रत्येतीत्यपिशब्दार्थः। कः प्रत्येति ? लौकिकः'' ।" [न्यायवि० वि० पृ० २२७ A]

25 पृ० १०३. पं० २६. 'प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्'–व्याख्या इत्थं द्रष्टव्या–"प्रमाण-मवितथनिर्भासं ज्ञानम् आत्मसात्कुर्वन् प्रतीतिं यथार्थपरिच्छित्तिमतिलङ्घयेत् प्रत्याचक्षीत सौगतो ब्रह्मवादिवत् तामतिलङ्घयेत्। वितथा मिथ्याभिमता ये ज्ञानानां सन्तानविशेषाः कामि-न्यादिविषयाः तरङ्गचन्द्रादिविषयाश्च प्रवाहभेदास्तेषु न केवल न प्रमाणमन्तरेण तदनतिलङ्घ-नस्यापि तथाप्राप्तेः। न च तदात्मसात्करणं परस्योपपन्नम्' ।" [न्यायवि० वि०पृ० १६७ B.]

30 तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १५८ प० ३३।

पृ० १०३ पं० २८ 'चित्रं तदेक'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६० प० २२।

व्याख्यानं त्वस्य न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्–"चित्रं नानारूपं तद् बाह्यं चित्रपतङ्गादि एकमभिन्नमित्येवं चेत् यदि मन्यते जैन इदमनन्तरोक्तं ततश्चित्रादतिशयेन चित्रं चित्रतरं विस्मयनीयतरम्। तथाहि–यदि नानारूपं नैकं विरोधात् इत्यसदेव एकत्वम्, तद्भावे
35 च नानारूपं तस्यापि परमाणुरूपस्याबुद्धिगोचरत्वात् इत्यसन्नेव तादृशो बहिरर्थ इति भवत्येव तद्वादिनामुपहास इति भावः। परस्य तत्र प्रत्युपहासमाह–चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्सि चित्र-

प्रमाणसङ्ग्रहस्य

॥ टिप्पणानि ॥

पृ० ९७. पं० १. 'श्रीमत्परम'–कारिकेयं निम्नशिलालेखेषु वर्तते–चन्द्रगिरिपर्वतस्य ३९, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५१, ५२, ५३, ५५, ५९, ६८। विन्ध्यगिरिपर्वतस्य ८१, ८२, ८३, ९०, ९६, ९९, १०५, १११, ११३, १२४, १३०, १३७, १३८, १४१, १४४, २२६, ३६२, ४८६, ४९३, ४९४, ४९५, ४९९, ५००। [जैनशिलालेखस०]

तुलना–"जीयान्निरस्तनिःशेषसर्वथैकान्तशासनम्। सदा श्रीवर्द्धमानस्य विद्यानन्दस्य शासनम्॥" [पत्रपरी० पृ० १३] 5

पृ० ९७. पं० ३. 'प्रत्यक्षं'–अस्या व्याख्यानं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके इत्थम्–"...... अकलङ्कैरभ्यधायि यः ॥१७८॥ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लु (प्लु) तम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सङ्ग्रहः॥ १७९ ॥ 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' इति ब्रुवाणेनापि मुख्यमतीन्द्रियं पूर्णं केवलमपूर्णमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति निवेदितमेव, तस्याक्ष- 10 मात्मानमाश्रित्य वर्तमानत्वात्। व्यवहारतः पुनः इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमिति वैशद्यांशसद्भावात् ततो न सूत्रव्याहतिः। श्रुतं प्रत्यभिज्ञादि च परोक्षम् इत्येतदपि न सूत्रविरुद्धम् 'आद्ये परोक्षम्' इत्यनेन तस्य परोक्षत्वप्रतिपादनात्। अवग्रहेहावायधारणानां स्मृतेश्च परोक्षत्ववचनात् तद्विरोध इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञादीत्यत्र वृत्तिद्वयेन सर्वसङ्ग्रहात्। कथम् ? प्रत्यभिज्ञाया आदिः पूर्वं प्रत्यभिज्ञादि इति स्मृतिपर्यन्तस्य ज्ञानस्य सङ्ग्रहात् प्राधान्येन अवग्रहादेरपि 15 परोक्षत्ववचनात्, प्रत्यभिज्ञा आदिर्यस्य इति वृत्त्या पुनः अभिनिबोधपर्यन्तसङ्गृहीतेर्न काचित् परोक्षव्यक्तिरसङ्गृहीता स्यात्। तत एव प्रत्यभिज्ञादि इति युक्तम् व्यवहारतः, मुख्यतः स्वेष्टस्य परोक्षव्यक्तिसमूहस्य प्रत्यायनात्, अन्यथा 'स्मरणादि परोक्षं तु प्रमाणे इति सङ्ग्रहः' इत्येवं स्पष्टमभिधानं स्यात्, ततः शब्दार्थाश्रयणान्न कश्चिद्दोषोऽत्रोपलभ्यते।" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५] 20

तुलना–"प्रमाणसङ्ग्रहादौ 'प्रमाणे इति सङ्ग्रहः' इत्यभिधाय..." [सिद्धिवि० टी० पृ० ४ A.] "तदुक्तम्–प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधाश्रित ..." [अष्टसह० पृ० २८१] "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात्।..." [न्यायवि० वि० पृ० ५३ A.] "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधैन्द्रियमनैन्द्रियम्। योगजं चेति..." [जैनतर्कवा० पृ० ९३]

पृ० ९७. पं० ६. 'श्रुतमविप्लवं'–अकलङ्केन श्रुतं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्त- 25 कतया त्रिधा विभक्तम्। जैनतर्कवार्त्तिककृता तु लिङ्ग-शब्दसमुद्भूततया द्विधा परोक्षं स्वीकृत्य अकलङ्कमतं निरस्तम्। तथाहि–"परोक्षं द्विविधं प्राहुर्लिङ्गशब्दसमुद्भवम्। लैङ्गिकप्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते॥—नन्वन्यदपि प्रत्यभिज्ञादिकं परोक्षं मन्यन्ते, तदेव लैङ्गिकप्रत्यभिज्ञादि-

स्वतन्त्रं यथा भवति तथाऽवभासनात् । किम् ? तद्गुणः तस्य देहस्य गुणः, तदाश्रयात्वेति सन्त. प्रचक्षते कथयन्ति । नहि नस्मिन्नप्रत्यक्षेपि प्रत्यक्षस्य तदा (द्) गुणत्व रूपादेराकाशगुणत्वप्रसङ्गात्'''" [न्यायवि० वि० पृ० ४५७ B]

पृ० १०७. पं० १३. 'सत्यं तमाहु'–अस्य व्याख्या इत्थम्–"सत्यमवितथम् आत्मन एव विचारविषयतया प्रस्तुतत्वात्, आहुः आवेदयन्ति । के ? आचार्य (र्याः) विचारज्ञानप्रवर्त्तकाः''कीदृशं तत् इत्याह–योऽवलोकते पश्यति । कया ? विद्यया यथावस्थितवस्तुरूपावलोकनशक्तया ''कमवलोकते ? यथार्थं यो येन स्वभावेन स्थितोऽर्थः स यथार्थः तमिति '' पुनरपि तत्स्वरूपमाह–विभ्रमैश्च मिथ्याकारग्रहणशक्तिविशेषैश्च, चशब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः अयथार्थ (र्थं) मिथ्याकार (रं) योऽवलोकते ' कः पुनरसौ यो विद्यया यथार्थं विभ्रमैश्च अयथार्थमवलोकते इत्याह–एषः प्रत्यात्मवेदनीयः''कीदृशः पुनरेषोऽपि इत्याह–प्रभुः इति, प्रभुत्वं पुनस्तस्य यथार्थाद्यवलोकने विषयाकारस्य व्यतिरिक्तविज्ञानस्य च अनपेक्षणात् ''" [न्यायवि० वि० पृ० १५० B]

पृ० १०७. पं० १५. 'तुलोन्नाम'–अस्य व्याख्या इत्थम्–"तुलाया उन्नामश्च ऊर्ध्वगमनं रसश्च तावधी (वादी) येषाम् अर्वाग्भागसास्नादीनां तेषां नहि स्फुटम्, किम् नामश्च अधोगमनं रूपं च आदिर्येषां परभागविशेषणादीनां व एव हि (हे) तवो येषां तेषां भावः तत्त्वम् । कया युक्तया तत्तेषां न तुल्यकालतया [सम] समयतया इति ? नहि समसमयत्वे युक्तो हेतुफलभावः परस्परमनुपयोगात् सव्येतरनारीकुचचूचुकवदनभ्युपगमात् । नचैवमहेतुः अव्यभिचारात्, नहि नामादेः उन्नामादिव्यभिचारः निर्व्यभिचारावा एव ततः तत्प्रतिपत्तेरुपलम्भात्''।" [न्यायवि० वि० पृ० ५०९ A.]

पृ० १०७. पं० १७. 'अन्वयोऽन्य'–अस्य व्याख्यानमित्थम्–"अन्वयोऽनुगमः खण्डादिषु गौरिति तन्तुषु अयं पट इति रुचकादौ तदेवेदं सुवर्णमिति रूपः, स अन्यस्य कर्कादेः मृगादेश्च व्यवच्छेद एव नापरः । तथा सर्वस्मात् सजातीयात् विजातीयाच्च व्यतिरिच्यते भिद्यते इति व्यतिरेकः, स एव स्वलक्षणम् न पूर्वोक्तम्, तत' तस्मात् अन्वयात् स्वलक्षणाच्च सर्वा निरवशेषा व्यवस्था स्वाभिमतवस्तुव्यवस्थितिः इति एवं नृत्येत् नृत्यं कुर्यात् काक इव काकः सौगतः तद्व्यवस्थात्मनि नृत्यक्रियायाम् उपायात्मनः पिच्छभारस्य अभावात्, मयूर इव मयूरो चैन (जैनः) तस्य तद्भावस्य निवेदनात् स इव तद्वदिति ''" [न्यायवि० वि० पृ० ३६१ A.]

इति चतुर्थ. प्रस्तावः ।

पृ० १०७. पं० २१. 'निर्व्यापारो'–तुलना व्याख्या च–"सत्ता सम्प्रतिबद्धैव परिणामे क्रियास्थितेः । निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ।।–एवकारो भिन्नप्रक्रमः परिणाम इत्यत्र दर्शनात्, ततः सत्त्वा (सत्ता) सत्त्वं सम्यक् प्रतिबद्धा, क ? परिणाम एव न क्षणभङ्गादौ, ततः तत्रैव सा हेतुः इत्यर्थः। एतदेव कुतः ? क्रियास्थितेः परिणाम एव क्रियायाः कार्यकरणस्य स्थितेः अवस्थानादिति, तदपि कस्मात् ? निर्व्यापारो व्यापारान्निष्क्रान्तो हि यस्माद् भावः चेतनादिः स्याद् भवेत्, कस्मिन् सति ? निरन्वये क्षणभङ्गे, केव ? नित्यत्वे वा नित्यत्व इव, वाशब्दस्य इवार्थत्वात् निरन्वय इव वा नित्यत्वे वा इति ।" [न्यायवि० वि० पृ० ५१६ B.]

पृ० १०८. पं० ३. 'इष्टविघातकृत्'–"इष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विघात करोति विपर्ययसाधनात् इति इष्टविघातकृत् ।" [न्यायवि० टी० पृ० १०३]

दूरीकृतावकाशमेव।" [तत्त्वसं० प० पृ० ९३२] "सत्यस्वप्नदर्शनं तु यदि वर्तमानस्य ..." [विधिवि० पृ० १५९]

पृ० ९९. पं० ४. 'एकत्र निर्णये'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १५५ पं० १७।

पृ० ९९. पं० ६. 'ईक्षणिकादेः'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६८ पं० ३।

पृ० ९९. पं० ११. 'लक्षणं'–अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्– 5
"लक्षणं स्पष्टं प्रत्यक्षम् इत्येतत् समं सदृशं त्रिष्वपि प्रत्यक्षेषु। कस्तर्हि इन्द्रियप्रत्यक्षात् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य विशेष इति चेत्, एतावान् विशेषः अशेषगोचरं निःशेषद्रव्यपर्यायपरिच्छेदरूपमतीन्द्रियप्रत्यक्षम्। क्रमेण तद्गोचरमपीतरवदपि प्रत्यक्षमिति चेदत्राह–अक्रमम् इति। इन्द्रियायत्तत्वे कथमितरवत् तदप्यक्रम तद्गोचरमिति चेदत्राह–करणातीतं करणानि इन्द्रियाणि अतीतमतिक्रान्त तन्निरपेक्षत्वात्। तस्यैव समर्थनमकलङ्कम् इति, अविद्यमानज्ञानावरणादिकल्म- 10
षमित्यर्थः। तत्केषां प्रत्यक्षम् इत्याह–महीयसाम् महतामिति।" [न्यायवि० वि० पृ० ३९९ A.]

तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० २५।

इति प्रथमः प्रस्तावः।

पृ० ९९. पं० १५. 'प्रमाणमर्थं'–तुलना–"प्रमाणमविसंवादात् मिथ्या तद्विपर्ययात्। गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः॥" [सिद्धिवि० पृ० १४६ A.] 15

पृ० ९९. पं० २५. 'सदृशपरिणामः'–तुलना–"सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।" [परीक्षामु० ४।४] प्रमाणनय० ५,४।

पृ० १००. पं० २६. 'एकमनेकत्र'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४५ पं० २८।

पृ० १००. पं० ३०. 'इति तर्कः'–अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्–
"इति एवं तर्कमेव एवकारस्यात्र सम्बन्धात् नापरं तस्य प्रतिबन्धाविषयत्वादपेक्षितम्, किं लैङ्गिकम् अनुमान लिङ्गादागतत्वात्, कथमपेक्षेत नियमेन अवश्यम्भावेन, तदनपेक्षत्वे तदनुत्पत्तेः।" [न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B] 20

पृ० १०१. पं० ७. 'विज्ञानगुणदोषाभ्याम्'–"तदुक्तम्–विज्ञानगुणदोषाभ्यां ..." [अष्टसह० पृ० ७४] "विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते। वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥" [न्यायवि० पृ० ७७] "न च दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्ता वाणी नातिवर्तेत तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावात् बुद्ध्यादिवत् ...।" [अष्टश० अष्टसह० पृ० ७३] 25

तुलना–"वचनस्य विज्ञानमेव कारणम् असति तस्मिन्निच्छायामपि तदभावात् ..." [न्यायवि० वि० पृ० ५२० A]

इति द्वितीयः प्रस्तावः।

पृ० १०२. पं० १. 'साध्यं शक्य'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० ३२। 30

पृ० १०२. पं० २. 'भ्रान्तेः पुरुष'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६३ पं० ७।

पृ० १०२. पं० ६. 'साधनं'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० ७।

पृ० १११. पं० १५. 'वादः'—तुलना—"समर्थवचनं जल्पं वादं चतुरङ्गं विदुः। पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥" [सिद्धिवि० पृ० २५४ A.] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८०। प्रमेयरत्नमा० ६।४७ । न्यायवि० टि० पृ० १६६ प० ३६।

पृ० ११२. पं० ४. 'अपेक्षितपर'—तुलना—"अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः

5 स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।" [न्यायबि० पृ० ६७]

पृ० ११२. पं० ८. 'सति समर्थे'—तुलना—"नहि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सोः पश्चाद्भवतः तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा नित्यवत्··।" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८२]

पृ० ११२. पं० ११. 'तदयं भावः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६१ प० १४।

पृ० ११२. पं० २८. 'योगक्षेम'—"योगः अप्राप्तविषयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः,

10 क्षेमः तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षणं परिपालनम् ।" [हेतुबि० टी० लि०पृ०५५]

पृ० ११३. पं० २. 'त्रिलक्षणम्'—"यदि पुनः भावः स्थास्नु रुत्पित्सुर्वा न भवेत् न कदाचिदपि तिष्ठे दुत्पद्येत वा खपुष्पवत् । न हि तन्नश्वरत्वमेव साधयत्यन्यत्राप्यविशेषात् । तदिमे स्वरसत एव उत्तरीभवन्तः यथायोगं परस्परोपकारमतिशयाधानमात्मसात्कुर्वन्ति ।" [सिद्धिवि० पृ० १७२]

15 पृ० ११३. पं० ४. 'तदयमुत्पाद'—तुलना—"स्थितिरेव उत्पद्यते विनाश एव तिष्ठति उत्पत्तिरेव नश्यति ।" [अष्टश० अष्टसह० पृ० ११२] नयचक्रवृ० लि० पृ० २९२ A.

पृ० ११३. पं० ६. 'प्रकृताशेष'—व्याख्या—"प्रकृतः विधिमुखेन निषेधमुखेन वा साधयितव्यतया प्रक्रान्तो यः अशेषः समग्रः साध्यसाधनरूपः तत्त्वार्थः, न सौगतवत् कल्पितस्वभावः, तस्य प्रकाशः सभ्यचेतसि समर्पणम् तत्र पटुवादिनः सकाशात् यो विपरीतः

20 तत्प्रकाशापाटवविकलः स निगृह्यते पराजयं प्राप्नोति··विब्रुवाणः विसदृशं दूषणमभिदधानोऽब्रुवाणो वा तूष्णीमासीनो वा विपरीत एव निगृह्यते इति ।" [न्यायवि० वि० पृ० ५२७ B.]

पृ० ११३. पं० २३. 'तत्र मिथ्योत्तरं'—व्याख्या—"तत्र मिथ्योत्तरं जातिः यथाऽनेकान्तविद्विषाम् । दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ॥ प्रमाणोपपन्ने साध्ये धर्मे यस्मिन् मिथ्योत्तरं भूतदोषस्य उद्भावयितुमशक्यत्वेन असद्दूषणोद्भावनं सा जातिरिति । तत्केषाम्

25 इत्याह—यथा अनेकान्तविद्विषाम् इति। यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने अनेकान्तविद्विषः सौगतादयः तेषाम् इति । कीदृशं तदित्याह—दध्यु (दध्यु) ष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् इति ···· ।" [न्यायवि० वि० पृ० ५२६ B.]

तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६५ प० ३४।

पृ० ११४. पं० २१. 'असिद्धः'—व्याख्या—"स्वलक्षणैकात्वस्य साधने सिद्धौ

30 अङ्गीक्रियमाणायां सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतः असिद्धः । कथमिति चेदुच्यते—बहिरिव इति—'अथातो रूपात् चित्रमेकं ज्ञानमिष्यते तत्राह—विरुद्धो देवनन्दिनः हेतुरेकान्तसाधने, क्रमेणेव क्रमेणापि चित्रैकविरोधात्'··अपरस्त्वाह—न मया प्रतिभासाद्वैतवादिना परमार्थतः कश्चिद् हेतुरिष्यते यस्तु इष्यते स व्यवहारेण 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' इत्यभिधानात् इति तं प्रत्याह—'द्वेधा समन्तभद्रस्य' हेतुः एकान्तसाधने इति पक्षवत् विपक्षेऽपि वर्तते इति

35 द्वेधा अनैकान्तिकः इति यावत्·।" [सिद्धिवि० टी० पृ० ३२३ A.]

तमं तत इति। चित्रमिति-नानारूपं बाह्यं मयूरादि. कीदृशमिदं प्रत्यक्षवेद्यं सर्वं निरवशेषं वेत्ति जानासि, कीदृशं शून्यम् नीरूपमिदम् इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, इदं परस्य वचनं ततः चित्रतरातिशयेन चित्रं चित्रतमम् अनुपायस्यैव तदभाववेद्यस्य प्रतिपादनात् ।" [न्यायवि० वि० पृ० २०५ B.]

इति तृतीयः प्रस्ताव । 5

पृ० १०४. पं० २. 'अन्यथाऽसंभवो'-तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६४ प० १९।

पृ० १०४. पं० ५. 'उदेष्यति शकटं'-तुलना-लघी० टि० पृ० १३९ प० २०।

पृ० १०४. पं० ५. 'कालादिधर्मिकल्पनायाम्'-तुलना-"यदि पुनराकाशं कालो वा धर्मी तस्य उदेष्यच्छकटवत्त्वं साध्य कृतिकोदयसाधन पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराग्निमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु. तथा च 10 महानसधूमो महोदधौ अग्निं गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात् · · · ।" [प्रमाणपरी० पृ० ७१] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१। जैनतर्कभा० पृ० १२ प० १३। "कृतिकोदयपूरादेः कालादिपरिकल्पनात्। यदि स्यात्पक्षधर्मत्व चाक्षुषत्वं न किंचनौ (किं ध्वनौ)॥" [जैनतर्कवा० पृ० १६०]

पृ० १०४. पं० १८. 'सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि'-तुलना-"अविरुद्धोपलब्धिः विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्।" [परीक्षामु० ३।५४-७२] प्रमाणप० पृ० 15 ७३। प्रमाणनय० ३।६४-७८। प्रमाणमी० भाषाटि० पृ०। ८३ प० २३।

पृ० १०४. पं० २४. 'निरुपाख्यत्वम्'-तुलना-"सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं हि निरुपाख्यमिति, उपाख्या श्रुतिः उपाख्यायतेऽनया इति कृत्वा।" [वादन्याय पृ० ८]

पृ० १०५. पं० १. 'असद्व्यवहाराय'-तुलना-"प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः · सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा-स्वभावानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, व्याप- 20 कानुपलब्धिः, स्वभावविरुद्धोपलब्धिः. विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, कार्यविरुद्धोपलब्धिः, व्यापकविरुद्धोपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, कारणविरुद्धोपलब्धिः, कारणविरुद्धकार्योपलब्धिः।" [न्यायबि० पृ० ४२-५४] परीक्षामु० ३।७३-८०। प्रमाणनय० ३।९०-९८।

पृ० १०५. पं० १६. 'सद्वृत्तिप्रतिषेधाय'-तुलना-न्यायबि० पृ० ४२-५४। परीक्षामु० ३।६६-७२। प्रमाणनय० ३।७९-८८। 25

पृ० १०६. पं० १६. 'अविप्रतिसार'-"पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि" [अमरकोषः] "तत्र विदूषणसमुदाचारोऽकुशलं कर्माध्यचारति, तत्रै तत्रैव च विप्रतिसारबहुलो भवति।" [शिक्षासमु० पृ० १६०] न विप्रतिसारः अविप्रतिसारः दोषरहित इत्यर्थः।

पृ० १०७. पं० ४. 'स्वरुचि'-तुलना-"इति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०२] 30

पृ० १०७. पं० ११. 'अप्रत्यक्षेऽपि'-अस्य व्याख्या न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्-"अप्रत्यक्षेऽपि · ज्ञानं नेति सन्तः प्रचक्षते॥-बहलतमःपटलपरिपिहितलोचनदशायामप्रत्यक्षेऽपि विस्पष्टप्रतिभासाविषयेऽपि न केवलं विपुलविलसदालोकपरिकलितदेशदशायां प्रत्यक्षेपि इत्यपिशब्दः। कस्मिन्? देहे शरीरेऽस्मिन्नात्मीये प्रतीयमाने प्रत्यक्ष स्पष्टावभासं ज्ञानम्, कुत एतत् 35

पृ० १२२. पं० ६. 'अहं ममाश्रवो'–व्याख्या–"समीहते संसारनिवृत्तिं प्रतीयेत, कः ? प्रेक्षाकारी विचारकरणशीलः। कथं समीहते ? सादरं निश्चितनिश्चयप्रकारं च अहम् इत्यादिना दर्शयति। प्रत्येकमत्र इतिशब्दस्य सम्बन्धः, ममशब्दस्य च आश्रवादिभिः, अहमिति, ममास्रव इति, मम बन्ध इति, मम संवर इति, मम कर्मणा निर्जरा इति मम तेषां क्षय इति
5 च, तत्र आत्मानम् अहमिति निर्दिशति अहम्प्रत्ययवेद्यत्वात्। तस्यासत्कारे कस्य संसारो मोक्षो वा तदुपाये प्रवर्तेत ''।" [न्यायवि० वि० पृ० ५७९ A]

इति सप्तम प्रस्तावः।

पृ० १२२. पं० १६. 'द्रव्यपर्याय'–व्याख्या–"द्रव्यमन्वयिरूपम्, पर्याया व्यावृत्तिधर्म (र्मा) णः, सामान्य सदृशपरिणामः, विशेषो विसदृश, तेषां च विभागः तेन
10 यौ स्यात् कथञ्चित् विवक्षितधर्मस्य विधिप्रतिषेधौ भावाभावौ ताभ्यां सप्तभङ्गी सप्तानां भङ्गाना समाहारः तद्वचसि प्रवर्त्तते इति' " [न्यायवि० वि० पृ० ५८७ A]

तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६९ प० ३१।

पृ० १२५. पं० ४. 'स्वरूपस्य'–तुलना–"स्वरूपस्य स्वतो गतेः।" [प्रमाणवा० २।४] "न खलु स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणाप्रमाणविभागमुपदर्शयति सर्वज्ञानेषु स्वसंवेदनस्य
15 भावात्।' [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ५५]

पृ० १२५. पं० २७. 'नयचक्रतः'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १७० प० ३३।

पृ० १२६. पं० ८. 'नैगमः'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४५ प० १०।

पृ० १२६. पं० ९. 'सर्वमेकम्'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४४ प० २८।

पृ० १२६. पं० ११. 'व्यवहार'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४६ प० ११।

20 पृ० १२६. पं० १३. 'ऋजुसूत्रो'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४६ प० २२।

पृ० १२६. पं० १५. 'शब्दो'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४६ प० ३५।

पृ० १२६. पं० १६. 'अभिरूढः'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४७ पं० ७।

पृ० १२६. पं० १६. 'इत्थम्भूतः'–तुलना–लघी० टि० पृ० १४७ प० १८।

इति अष्टम प्रस्ताव।

25 पृ० १२७. पं० २. 'ज्ञानं प्रमाण'–तुलना–लघी० का० ५२। लघी० टि० पृ० १४८ प० ६।

पृ० १२७. पं० २२. 'प्रामाण्यं'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६६ प० ३१।

इति प्रमाणसङ्ग्रहस्य टिप्पणानि।

पृ० १०८, पं० १५. 'गण्डूपद'–तुलना–"अनेकान्तस्य विरोधशङ्कया परिहृतस्ते त्वयैकान्तोपलम्भावलम्बनम् गण्डूपदभयादजगरमुखप्रवेशमनुसरति।" [सिद्धिवि० पृ० ५३७ B]

पृ० १०८, पं० १७. 'दृष्टाद् गरिष्ठ'–तुलना–"नहि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टम्" [अष्टश० अष्टसह० पृ० ८०] 'नहि दृष्टाद्गरिष्ठं प्रमाणमस्ति।" [नयचक्रवृ० लि० पृ० १८ B.]　5

पृ० १०८, पं० २१. 'अदृश्यानुपम्भाद'–तुलना–लघी० टि० पृ० १३९ प० २८।

पृ० १०८. पं० २८. 'संहतानाम्'–पूर्वपक्षः–"सङ्घातपरार्थत्वात्–यतः सङ्घातश्च परार्थः तस्माद्धेतोः, इह लोके ये सङ्घातास्ते परार्था दृष्टाः पर्यङ्करथशय्यादयः। एवं गात्राणि महदादीना सङ्घातः समुदायः परार्थ एव। पर्यङ्करथादयः काष्ठसङ्घाताः, गृहादयः काष्ठेष्टिकादिसङ्घाताः। न हि ते रथगृहपर्यङ्कादयः किमपि स्वार्थं साधयन्ति न वा परस्परार्थाः, किन्तु　10 अस्त्यसौ देवदत्तादिः योऽस्मिन् पर्यङ्के शेते रथेन गच्छति गृहे निवसतीति। एवममी महदादयश्चक्षुरादयो वा न स्वार्था न च परस्परार्थाः किन्तु परार्थाः। यश्चासौ परः स चात्मा।" [सांख्यका० माठरवृ० पृ० २९]

पृ० १०९, पं० २५. 'सहोपलम्भ'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १५९ प० २०।

पृ० ११०, पं० २. 'नास्ति सर्वज्ञः'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६७ प० ३३।　15

पृ० ११०, पं० ६. 'सिद्धेऽकिञ्चित्करो'–तुलना–"सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।" [परीक्षामु० ६।३५]

पृ० ११०. पं० ११. 'विरुद्धाव्यभिचारिणः'–विरुद्धाव्यभिचारिणो लक्षणम्–"विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत् इति उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येतौ एकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।"　20 [न्यायप्रवे० पृ० ५] "स्वलक्षणप्रयुक्तयोः हेत्वोः एकत्र धर्मिणि विरोधेनोपनिपाते विरुद्धाव्यभिचारीति।" [हेतुवि० लि०]

पृ० १११, पं० ५. 'विरुद्धाव्यभिचारी'–उद्धृतोऽयम्–प्रमाणनि० पृ० ६१।

पृ० १११, पं० १२. 'अन्तर्व्याप्ताव'–तुलना–"यथाच अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिर्व्याप्तेरकिञ्चित्करत्वं तथा सिद्धायामपि इति वक्ष्यति प्रमाणसङ्ग्रहे–भविष्यति आत्मा　25 सत्त्वात्　" [सिद्धिवि० टी० पृ० २३९ B] "अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः। व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥" [न्यायावता० श्लो० २०] "तत्सिद्ध्यसिद्ध्योः बहिर्व्याप्तेरसाधनात्।" [सिद्धिवि० पृ० ३०८ A.] "अन्तर्व्याप्तावसिद्धाया बहिर्व्याप्तिरसाधनम्।" [सिद्धिवि० पृ० २८१ A.] अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम्। पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु　30 बहिर्व्याप्तिः यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थानम्।" [प्रमाणनय० ३।३५, ३६] धर्मसं० वृ० पृ० ८२। जैनतर्कभा० पृ० १२।

इति पञ्चमः प्रस्तावः।

पृ० ८६. पं० १. 'म्लेच्छादिव्यवहार'–तुलना–"म्लेच्छव्यवहारा अपि केचित् मातृविवाहादयो मदनोत्सवादयश्चानादय., नास्तिक्यवचांसि च अपूर्वपरलोकाद्यपवादीनि। [प्रमाणवा० स्ववृ० १।२४७]

पृ० ९१. पं० ४. 'संशयादिप्रसंगः'–तुलना–"विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न 5 युज्यते ''" [मी० श्लो० पृ० ५६०] "यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते अनिरूपितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्। एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेव गम्यते। नानात्वं तस्य तत्पूर्वं कस्माद्भेदोऽपि नेष्यते॥ यत् प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत् तथा। वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्न प्रतीयते॥ न ह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचित् केनचित् दर्शयितुं शक्यते। सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्त्यात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद्भिन्नम्। 10 तथाहि प्रतीयते तदुभयं विरोधः कोऽयमुच्यते। विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥ एकरूपं प्रतीतत्वात् द्विरूपं तत्तथेष्यताम्। एकरूपं भवेदेकमिति नेश्वरभाषितम्॥'''अत्र प्रागल्भ्यात् कश्चिदाह–यथा संशयज्ञानं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यप्रमाणं तथा भेदाभेदज्ञानमिति, तदसत्, परस्परोपमर्देन न कदाचित् सह स्थितिः। प्रमेयानिश्चयाच्चैत्र संशयस्याप्रमाणता॥ अत्र पुनः कारणं पूर्वसिद्धं मृत्सुवर्णादिलक्षणं ततः कार्यं पश्चाज्जायमानं तदाश्रितमेव 15 जायते''''''अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम्। संग्रहश्लोकः–कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना। हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥" [भास्करभा० पृ० १६–१७] "'''तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्। ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम्? न विरोधः, सहदर्शनात्। यदि हि 'इदं रजतम् नेदं रजतम्' इतिवत् परस्परोपमर्देन भेदाभेदौ प्रतीयेयाताम् ततो विरुद्धयेयाताम्, न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः। इयं 20 गौरिति बुद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तु द्व्यात्मकं व्यवस्थापयति–सामानाधिकरण्यं हि अभेदमापादयति अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिबलादविरोधः। अपेक्षाभेदाच्च,'''एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः द्रव्यरूपेण चाभेदः''" [शास्त्रदी० पृ० ३९३-९५]

पृ० १०४. पं० ५. 'कालादिधर्मि'–पूर्वपक्षः–"तथा न चन्द्रोदयात् समुद्र- 25 वृद्ध्यनुमानं चन्द्रोदयात् (पूर्वं पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात्। चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्, यद्येवं तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः। तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्॥" [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३]

पृ० १०५. पं० १३. 'अन्योपलम्भो'–तुलना–"यदाह–अन्यहेतुसाकल्ये तद- 30 व्यभिचाराच्चोपलम्भ. सत्ता। तदभावोऽनुपलब्धिरसत्ता, अन्योपलब्धिश्चानुपलब्धिरिति।" [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।५]

पृ० १०८. पं० २१. 'अदृश्यानुपलम्भात्'–पूर्वपक्षः–"अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धौ घटादेर्नैरात्म्यासिद्धेः प्राणादेरनिवृत्तिः।" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१९]

पृ० १११. पं० ८. 'स विरुद्धो'–तुलना–"असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवो- 35 पपद्यते। विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु॥" [न्यायावता० श्लो० २३]

पृ० ११२. पं० २८. 'योगक्षेम'–"अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः। लब्धधर्मानुवृत्तिः क्षेमः।" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।२४]

उद्धृतोऽयम्–"...हेतुरेकान्तसाधने" [न्यायवि० वि० पृ० ५०२ A.]

तुलना–"असिद्धः सिद्धसेनस्य ..विरुद्धो मल्लवादिनः। . द्वेधा समन्तभद्रस्य .. हेतुरेकान्तसाधने।" [जैनतर्कवा० पृ० १४२] स्या० रत्ना० पृ० १०३२।

पृ० ११५. पं० २३. 'जाड्य'–बौद्धाचार्यैः अह्रीकजाड्यादयोऽपशब्दाः प्रतिवादिनः प्रयुक्ताः। ग्रन्थकारः तत्तत्सिद्धान्तासङ्गतिप्रदर्शनेन बौद्धाचार्या एव तच्छब्दयोग्या इति प्रदर्शयति। जाड्यादिशब्दप्रयोगस्थलानि–"ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये" [प्रमाणवा० १।३४२] "तदेतज्जाड्यवर्णितम्" [प्रमाणवा० ४।३५] "एतेनैव यदह्रीकाः किञ्चिदश्लीलमाकुलम्। प्रलपन्ति ।" [प्रमाणवा० १।१८२] हेतुवि० पृ० १२९। वादन्यायटी० पृ० २। "एतत्सांख्यपशोः कोऽन्यः सलज्जो वक्तुमीहते।" [प्रमाणवा० २।१६५] "शृङ्गे गौरित्यलौकिकम्।" [प्रमाणवा० ३।१५०, ४३७] "एषा लोकोत्तरा स्थितिः" [प्रमाणवा० ४।५५] "धिग्व्यापकं तमः" [प्रमाणवा० ३।२३९] वादन्यायटी० पृ० ५१। "तमोविजृम्भणम्" [प्रमाणवार्तिकाल लि० पृ० ३४६] "जयेद् धाष्ट्र्येन बन्धकीम्" [प्रमाणवा० ३।३३४]

इति षष्ठः प्रस्तावः।

पृ० ११६. पं० ६. 'सिद्धम्'–व्याख्या तुलना च–"सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम्। सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम्॥ सिद्धं प्रमाणमित्यर्थः सिद्ध्यति निर्णयविषयतां गच्छति अनेन अर्थ इति सिद्धमिति.. हेत्वन्तरमाह–सिद्धपरमात्मानुशासनम् इति। सिद्धो निश्चितः परमात्मा सकलवस्तुयाथात्म्यदर्शी पुरुषविशेषोऽनुशासनः काले देशे च क्वचिदुत्पन्नस्य अनु पश्चात् शासनः शास्ता यस्य तत्तथोक्तम् यत एव प्रवचन ततः सिद्धमिति।" [न्यायवि० वि० पृ० ५३४ A.]

पृ० ११६. पं० १८. 'पुरुषातिशयो'–तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६७ प० ३।

पृ० ११८. पं० १६. 'श्रोत्रं हि'–पूर्वपक्षः–"अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि।" [अभिधर्म को० १।४३]

तुलना–राजवा० पृ० ४८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३५। न्यायकुमु० पृ० ८३। सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४।

पृ० ११८. पं० २८. 'करणसन्निपातोप'–तुलना–"तदेतेषां पुद्गलानां करणसन्निपातोपनिपाते श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवत्" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०७]

पृ० ११६. पं० २०. 'हीनस्थान'–तुलना–"मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्षसञ्चेतनावशात्। हीनस्थानगतिर्जन्म...॥" [प्रमाणवा० २।२६०] आप्तप० पृ० १।

पृ० १२२. पं० ३. 'सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः'–व्याख्या–"शब्द इति सर्वोऽपि पौरुषेयः शब्दः पुरुषार्थस्य निःश्रेयसः तत्कारणस्य अभिधायकोपि तु सत्यो विप्रतिसारविकलश्च. न सर्वोप्यसौ तद्विकलत्वे वा अपि तु सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सम्यग्ज्ञानं तत्प्रणेतुः पुरुषस्य तदर्थविषयं निरुपप्लवं ज्ञानं तदेव अङ्कुशो नियामकः यस्य स एव च अयमेव स्याद्वादामोघलाञ्छनः वचनप्रबन्धः नापरः तत्प्रणेतॄणा तज्ज्ञानाभावस्य निवेदनात् ।" [न्यायवि० वि० पृ० ५७८ A.]

टिप्पणपरिशिष्टम्

पृ० २. पं० ८. 'तत्र सांव्यवहारिकम्'—उद्धृतमिदम्–"अकलङ्कोऽप्याह–द्विविधं प्रत्यक्षज्ञानं साव्यवहारिकं मुख्यञ्च। तत्र साव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमिति।" [नन्दि० मलय० पृ० ७४]

पृ० ५. पं० ८. 'नहि प्रत्यक्षम्'—तुलना–"यदाह–नहीदमियतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थमिति।" [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।४१] 5

पृ० ६. पं० १. 'सदृशापरापरोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः–"स्वहेतोरेव तथोत्पत्तेः क्षणस्थितिधर्मतां तत्स्वभावं पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः सत्त्वोपलम्भेन सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा न व्यवस्यति।" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।३४]

पृ० ६. पं० ३. 'प्रातिसंविदितोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः–"यदाह–न चेमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते चेति। नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकार- 10 समारोपसंशयः शक्यते कल्पयितुम्।" [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।५०]

पृ० १६. पं० ११. 'आलोकोऽपि'—पूर्वपक्षः–"यथा इन्द्रियालोकमनस्काराः आत्मेन्द्रियमनस्कारा वा रूपविज्ञानमेकं जनयन्ति" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।७५]

पृ० १६. पं० २४. 'मलविद्ध'—उद्धृतमिदम्–नन्दि०मलय० पृ० ६६।

पृ० २२. पं० १३. 'वक्त्रभिप्रेत'—पूर्वपक्षः–"अपि च वस्तुनान्तरीयकताभावात् 15 तेभ्यो नार्थसिद्धिः, ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः।" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।२१५]

पृ० २६. पं० १५. 'द्रव्यपर्याय'—तुलना—उत्पादादिसि० पृ० ७२, १३२।

पृ० ३६. पं० २०. 'अद्वयं'—पूर्वपक्षः–"अद्वयानां द्वयप्रतिभासादिति। [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१००]

पृ० ३७. पं० १. 'तत्र शौद्धोदने'—तुलना–"तस्यैव तावदीदृशमतिस्थूलं प्रज्ञा- 20 स्खलितं कथं वृत्तं जातमिति कृत्वा सह विस्मयेन अनुकम्पया वर्त्तत इति सविस्मयानुकम्पं नोऽस्माकं चेत। श्रुतवतोऽप्येवमविद्याविलसितमिति सविस्मयं गाढेन अविद्याबन्धेन सत्त्वाः पीड्यन्त इति सानुकम्पम्। तदत्र अपरेऽपि इदानीं तन्मतानुसारिणः कुमारिलप्रभृतयः परीक्षकम्मन्या एवमेतदनुवदन्तीति निर्दयं निष्कृपमाक्रान्त भुवनं जगद् येन तमसा तत्तथोक्तं धिग्व्यापक तमः।" [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२४०] 25

पृ० ४५. पं० ७. 'भेदज्ञानात्'—तुलना–उत्पादादिसि० पृ० ११९।

पृ० ७४. १. 'अन्यथानुपपन्नत्वं'—कारिकेयं प्रमाणवा० स्ववृत्तिटीकायाम् (१।३) हेतुलक्षणपूर्वपक्षे 'तदुक्तम्' इति कृत्वा समुद्धृता।

पृ० ७६. पं० ३० 'दध्युष्ट्रादे'—पूर्वपक्षः–"सर्वस्योभयरूपत्वम्–उभयग्रहणमनेकत्वोपलक्षणार्थम् तस्मिन् सति तद्विशेषस्य 'उष्ट्र उष्ट्र एव न दधि, दधि दध्येव नोष्ट्रः' इत्येवं 30 लक्षणस्य निराकृतेः, 'दधि खाद' इति चोदितः पुरुष' किमुष्ट्रं खादितु नाभिधावति? उष्ट्रोऽपि दध्यभिन्नात् द्रव्यत्वात् अव्यतिरेकात् स्याद् दधि, नापि स एवेति। उष्ट्र एवोष्ट्र इत्येकान्तवादः, येनान्योपि दध्यादिकः (तः) स्यादुष्ट्रः। तथा दध्यपि स्यादुष्ट्रः उष्ट्राभिन्नेन द्रव्यत्वेन दध्नस्तादात्म्येनाभिसम्बन्धात्। नापि तदेवेति, दध्येव दधि, येनान्यदपि उष्ट्रादिकं स्याद्दधि। एतेन सर्वस्योभयरूपत्व व्याख्यातम्।" [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।१८३] 35

§ २. लघीयस्त्रयगतानि अवतरणानि.

§ १. लघीयस्त्रयस्य कारिकार्धानामकाराद्यनुक्रमः.

§ ३. न्यायविनिश्चयस्य कारिकार्धानामकाराद्यनुक्रमः.

§ ५. प्रमाणसंग्रहगतानि अवतरणानि.

१४. प्रमाणसंग्रहस्य कारिकार्द्धानामकाराद्यनुक्रमः

§ ६. लघीयस्त्रय-न्यायविनिश्चय-प्रमाणसंग्रहान्तर्गतानां लाक्षणिकानां दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

१. परिशिष्टेऽस्मिन् लाक्षणिका शब्दा स्थूलाक्षरेण निर्दिष्टा । स्थूलाङ्का पृष्ठसंख्याद्योतका सूक्ष्माङ्काश्च पङ्क्तिसंख्याबोधका ज्ञेया ।

योगभा०
योगसू० व्यासभा० } योगभाष्यम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १४२, १४६, १५५, १६२.

योगभा० तत्त्ववै०
योगसू० तत्त्ववै० } योगभाष्यतत्त्ववैशारदी (चौखम्बा सीरिज काशी) १४६, १६०

योगभा० भा० योगभाष्यभास्वती (चौखम्बा सीरिज काशी) १४६.

रत्नाकराव० रत्नाकरावतारिका (यशोविजयग्रन्थमाला काशी) १४०, १५१.

राजवा० राजवार्त्तिकम् (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता) १३४, १३५, १४३–१४७, १४९, १५२, १५३, १५७, १७०,१७९

लघी० लघीयस्त्रयम् (सिंघी जैन सीरिज कलकत्ता) १३२, १६२, १७०, १८०.

लघी० टि० लघीयस्त्रयटिप्पणम् (एतत्पुस्तकस्थम्) १६०, १६१, १६७, १७०,१७२,१७३, १७५, १७७, १८०.

वादन्यायः (महाबोधि सोसाइटी सारनाथ) १३७, १३९, १६६,१७५.

वादन्यायटी० वादन्यायटीका (महाबोधि सोसाइटी सारनाथ) १३२, १३९, १४५, १५९,१७९

विज्ञप्ति० विंशिका
विज्ञप्तिमात्र० विंशतिका } विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः विंशतिका (By सिल्वनलेवी पेरिस) १५८, १६०.

विधिवि० विधिविवेकः(लाजरसकम्पनी काशी) १३७.

विधिवि० न्यायकणि०
न्यायकणि० } विधिविवेकन्यायकणिकाटीका (लाजरस कम्पनी काशी) १३७, १६०.

वादविधिः (प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पणोल्लिखिता) १६६

विशेषा० भा० विशेषावश्यकभाष्यम् (जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर) १३२, १३४, १३५, १४३-१४७, १५२, १५३, १६३. १६४, १६९.

वैशे०सू० वैशेषिकसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १६५.

व्या० प्र०
भगवतीसू० } व्याख्याप्रज्ञप्तिशतकम् (पूनाभाई ग्रन्थमाला अमदावाद) १४२, १५१.

शब्दकल्पद्रुमः कोश. (कलकत्ता) १६२.

शाबरभा० शाबरभाष्यम् (आनन्दाश्रम सीरिज पूना) १४०

शाबरभा० बृहती शाबरभाष्यबृहतीटीका (मद्रास युनि० सीरिज) १५६.

शाबरभा० बृहतीप० शाबरभाष्यबृहतीपञ्जिका (मद्रास यूनि० सीरिज) १६०, १६९.

शां० भा० भामती शाङ्करभाष्यभामतीटीका (निर्णयसागर बंबई) १३९, १४६, १६०

शास्त्रदी० शास्त्रदीपिका (विद्याविलास प्रेस काशी) १५५, १८२.

शास्त्रवा० शास्त्रवार्तासमुच्चय· (आगमोदय समिति सूरत) १३८, १६३, १६८.

शास्त्रवा० टी० शास्त्रवार्तासमुच्चययशोविजयटीका (यशोविजयग्रन्थमाला काशी) १३३, १४९, १५०, १७०

शिक्षासमु० शिक्षासमुच्चयः (बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया) १३१, १७५.

षड्द० बृह० षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः (आत्मानन्दसभा भावनगर) १३२-१३५, १३९, १६२

षष्ठितन्त्रशास्त्रम् (योगभा० तत्त्ववैशारद्यामुद्धृतम्) १४६.

सन्मति० सन्मतितर्कः (पुरातत्त्व मन्दिर अमदावाद) १४२-१४४, १५२, १६९.

सन्मति० टी० सन्मतितर्कटीका (पुरातत्त्व मन्दिर अमदावाद) १३२, १३४, १३५, १३८–१४१, १४५-१४८, १५०, १६०, १६४,१७०,१७९.

सप्तभंगित० सप्तभंगितरङ्गिणी (रामचन्द्रशास्त्रमाला बंबई) १४९, १५१, १७०

सर्वार्थसि० सर्वार्थसिद्धिः (कोल्हापुर) १३४, १४०, १४३-१४८, १५२. १५३, १७०.

सांख्यका० सांख्यकारिका (चौखम्बा सीरिज काशी) १५४.

सांख्यका० माठरवृ० सांख्यकारिकामाठरवृत्तिः (चौखम्बा सीरिज काशी) १७७.

सांख्यतत्त्वकौ० सांख्यतत्त्वकौमुदी (चौखम्बा सीरिज काशी) १६५.

सिद्ध० द्वात्रिं० सिद्धसेनद्वात्रिंशतिका (भावनगर) १६१, १६७

सिद्धिवि० सिद्धिविनिश्चयः (सिद्धिविनिश्चयटीकात उद्धृत.) १३३, १३६, १३९–१४५, १४८, १५२, १५४, १५६, १५८, १५९, १६३–१७०, १७३, १७४, १७७, १७८.

सिद्धिवि० टी० सिद्धिविनिश्चयटीका लिखिता (प० सुखलालसत्का B. H. U. काशी) १३२, १३४, १३५, १३७, १४० १४१, १४६, १४८, १४९, १५६–१६०, १६३, १६४, १६७, १७१, १७२, १७७, १७८.

सूत्रकृताङ्गशी०
सूत्रकृताङ्ग टी० } सूत्रकृताङ्गशीलाङ्कटीका (आगमोदय समिति सूरत) १४६, १५२, १६४.

§ ७. टिप्पणनिर्दिष्टानां ग्रन्थानां सूचिः, सङ्केतविवरणञ्च.

[1] परिशिष्टेऽस्मिन् अङ्का पृष्ठसंख्याबोधका ज्ञेयाः।

§ ६. अकलङ्कप्रणीतत्वेनोक्तानां लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयबाह्यानां कियतां गद्यपद्यानां सूचिः ।

§ १. सिद्धिविनिश्चयटीकायां लिखितायाम्—

पृ० ६९ A. "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहभुवो गुणा' इत्यस्य 'सुखमाह्लादनाकार विज्ञान मेयबोधनम् । शक्ति क्रियानुमेया स्याद्यून कान्तासमागमे ॥' इति निदर्शन स्यात् ।"

[न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० २३० B.) 'सुखमाह्लादनाकारम्' इति श्लोक 'तदुक्त स्याद्वादमहार्णवे' इति कृत्वा समुद्धृत । निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृतोऽयम्–अष्टसह० पृ०७८ । न्यायकुमु० पृ० १२९ । सन्मति० टी० पृ० ४७८ । स्या० रत्ना० पृ० १७८ । प्रमेयरत्नमा० ४।७]

पृ० १२० A. तदुक्तं न्यायविनिश्चये–"न चैतद्बहिरेव किं तर्हि ? बहिर्बहिरिव प्रतिभासते कुत एतद् भ्रान्ते तदन्यत्र समानमिति ।"

§ २. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके—

पृ० १८९. युक्तमुक्तञ्च कैश्चन–"अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयेत् । आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥" [सिद्धिवि० पृ० ९७ B.]

[श्लोकोऽय न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० ४२४ B. ४६३ B.) समुद्धृत]

पृ० २८१. तथोक्तम्–"स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन । नासाधनाङ्गवचन नादोषोद्भावन द्वयो ॥"

[श्लोकोऽयम् अष्टसहस्र्या (पृ० ८७) प्रमेयकमलमार्त्तण्डे च (पृ० २०३ A.) उद्धृत]

पृ० ४२४. तथा चाहुरकलङ्कदेवा–"शब्द. पुद्गलपर्याय स्कन्ध. छायातपादिवत् ।" [सिद्धिवि० पृ० ४६३ A.]

§ ३. प्रमाणपरीक्षायाम्—

पृ० ५४. तदुक्तम्—"व्यवसायात्मनो दृष्टे सस्कारः स्मृतिरेव वा ।
दृष्टे दृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥" [सिद्धिवि० पृ० २१]

[पूर्वार्द्धं न्यायविनिश्चयविवरणेऽपि (पृ० ३६९ A.) उद्धृतम्]

§ ४. न्यायकुमुदचन्द्रे—

पृ० ३७०. "द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ।" [सिद्धिवि० पृ० १७४]

§ ५. न्यायविनिश्चयविवरणे लिखिते—

पृ० २३ A. कथ तर्हि कथितम् "स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन ।"

पृ० ३० A. ५० A. उक्तञ्च–"सिद्ध यत्र परापेक्ष सिद्धौ स्वपररूपयो । तत्प्रमाण ततो नान्यदविकल्पमचेतनम् ॥" [सिद्धिवि० पृ० ८० A.]

पृ० ४९ B. तदुक्त सिद्धिविनिश्चये–"पश्यन् स्वलक्षणान्येक स्थूलमक्षणिक स्फुटम् । यद्व्यवस्यति वैशद्य तत्सिद्धयेद्विसदृशस्मृते (तद्विद्धि सदृशस्मृते) ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३२]

पृ० ८४ A. यद्वक्ष्यति–"सकलाकार वस्तु निर्विकल्पकमिति ।"

पृ० ८६ B. एतदेव स्वय देवैरुक्त सिद्धिविनिश्चये–"प्रत्यासत्त्या ययैक स्यात् भ्रान्तिप्रत्यक्षयोस्तया । भागतद्वदभेदेऽपि ततस्तत्त्व द्वयात्मकम् ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३१५]

पृ० ९२ B. तदुक्तम्–"जीवस्य सविदो भ्रान्तिनिमित्त मदिरादिवत् । तत्कर्मागन्तुक तस्य प्रवन्धोऽनादिरिष्यते ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३७३]

[श्लोकोऽय प्रमाणनिर्णयेऽपि (पृ० ७१) समुद्धृत]

पृ० ११४१. अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्–"विरुद्ध हेतुमुद्भाव्य वादिन जयतीतर । आभासान्तर-मुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥"

[श्लोकोऽय तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके (पृ० २८०) सन्मति० टीकाया (पृ० ७५९) न्यायवि० विवरणे (पृ० ५२८ A.) प्रमाणमीमासायाञ्च (पृ० ६५) उद्धृत]

§ ९. प्रमाणमीमांसायाम्—

पृ० १२. यदाह–"धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुसा कुत पुन । ज्योतिर्ज्ञानाविसवाद श्रुताच्चेत् साधनान्तरम् ॥ त्रिकालविषय तत्त्व कस्मै वेदो निवेदयेत् । अक्षय्यावरणैकान्तान्न चेद्वेद तथा नर. ॥"
[सिद्धिवि० पृ० ४१३, १४]

§ १०. सप्तभङ्गतरङ्गिण्याम्—

पृ० ७९. तदुक्त भट्टाकलङ्कदेवैः—"प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मक ॥"

[श्लोकोऽय स्वरूपसम्बोधने मूलरूपेण निष्टङ्कित]

शुद्धयः पाठभेदाश्च

	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
	३.	१०.	प्रमाण्य	प्रामाण्यम्
	६.	१७.	-रन्तश्च प्रत्य-	-रन्तश्चाप्रत्य-
	८.	२२.	-वियष-	-विषय-
	९.	७.	अक्षधीःस्मृति-	अक्षधीस्मृति-
	१२.	१७	–कालनियमा-	-कालस्वभावनियमा-
	१४.	२१.	इति श्रुते । प्र-	इति । श्रुतेः प्र-
	१४.	२३.	तदतिसूक्ष्मे-	तदपि सूक्ष्मे-
	२०.	३.	मूमूर्षाणा	मुमूर्षूणाम्
	२०.	१३.	अलक्षणत्वेन	लक्षणत्वेन
	२१.	१९.	परिणामतो	परमाणमतो
	२२.	५.	-देशवाक्येषु	-देशादिवाक्येषु
P.	२३.	१६.	-प्रस्तावमूल-	-प्रस्तारमूल (न्यायकुमुदचन्द्रे)
	२३	२३.	गुणीभूता सु-	गुणीभूता' सु-
	२४.	११.	श्रुतज्ञानेन	श्रुतज्ञानस्य
P.	२५.	८.	-भेदकृत्	–भेदकः (न्यायकुमुदचन्द्रे)
P.	२५.	२७.	-निरूपणम्	-निरूपणप्रवणम् (न्यायकुमुदचन्द्रे)
	३०	२४.	-थैंकतानत्व-	थैंकनानात्व-
P.	३२.	१७	असिद्धिरि-	असिद्धेरि-
	३९.	२०.	निश्चय	विनिश्चय
	४१.	१०.	-कानन्वयत्वत	-कान्वयत्वत.
	४२.	२.	-कुर्यान्नै-	कुर्युर्नै-
P.	४५	३०.	अनन्य-	अन्यान्य-
	[illegible]	[illegible]	-अन्वयं-	अनर्थं-
P.	४६.	२८.	–द्धधर्माध्यासेन	–द्धप्रतिभासेन
P.	४७	१.	म्यादसभवतादा-	असंभववतादा-
	४८.	११.	-रमनस्त-	-स्मनोस्त-
	५३.	१६	सर्वस्तुसत्ता	सर्ववस्तुसत्ता
P.	५४.	९	प्रामाण्यमविस-	प्रमाणमर्थस-
	५४.	१०.	क्षाभाप्र-	-क्षाभेऽप्र-
	५४.	२७.	केवल	केवल.
	५८	३.	-मानतदि-	-मानवदि-
	५९	५.	भेदव-	भेदिव-
	६०	१०.	चेदभि-	चेदप्यभि-
	६०.	३०	तदनेकान्तात्मक	तदनेकात्मक
	६१.	१४.	प्रसक्त	प्रसक्ता
	६२.	१२.	कार्यकरणयो	कार्यकारणयोः
P.	६६.	२७	वहिर्गत	बहिरङ्गत
	७१.	२९.	क्षणङ्गोपि	क्षणभङ्गेऽपि
	७२.	२.	न च ते	नचतें
	७९	१७	गर्वार्थान्यास-	सर्वान्यार्थास-
	८२.	१८.	सर्वथासदु-	सर्वथाऽसदु-
	८२.	२२.	करुणोष्टमत्य-	करुणात्य-
	८४.	५	-लौकिकम्	-लौकिके
	८४.	२६.	-मर्थ्याञ्चैं-	-मर्थ्यंचै-
P.	८८	५	सकलाग्र-	साकल्याग्र-
	१०१	३.	कुतर्का	कुतर्कौ
	१११	४.	-ञ्चित्करोज्ञात	-ञ्चित्करोऽज्ञात
	२८.	८	१०५. १०६	परिशिष्टेपु
	३९	३९.	४६ ८६.	परिशिष्टेपु

P. एतच्चिह्नाङ्किताः पाठभेदा ।

स्थानाङ्ग० } स्थानाङ्गसूत्रम् (आगमोदय समिति
स्थानाङ्गसू० } सूरत) १४२, १५२, १६९.

स्या० म० स्याद्वादमञ्जरी (रायचन्द्रशास्त्रमाला बंबई) १४३–१४७, १५१.

स्या० रत्ना० स्याद्वादरत्नाकरः (आर्हत्प्रभाकर कार्यालय पूना) १३३–१३५, १४०, १५१, १६०, १६४, १७०, १७९.

हेतुवि० हेतुबिन्दुः (P. तारकसमहाशयेन हेतुबिन्दुटीकात उद्धृत) १३६, १७४, १७७, १७९.

हेतुवि० टी० हेतुबिन्दुटीका अर्चटकृता लिखिता प० सुखलालसत्का B. H. U. काशी) १३७, १३९, १४४, १७०, १७८.

ई० ईडरभण्डारीयन्यायकुमुदचन्द्रस्य प्रतौ उपलब्धा त्रुटिता विवृतिः ।

का० कारिका ।

गा० गाथा ।

ज० जयपुरीयपाटोदीमन्दिरसत्का विवृतिप्रतिः ।

न्यायकु० न्यायकुमुदचन्द्र. ।

पृ० पृष्ठम् ।

प० पङ्क्ति ।

मु० लघी० मुद्रित लघीयस्त्रयम् (माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बंबई)

श्लो० श्लोक ।

सम्पा० सम्पादक. ।

§ ८. टिप्पणनिर्दिष्टानाम् आचार्याणां सूचिः.

पृ० ९३ B २०६ A २२५ A ४०५ A. तदिदमपि वचनमनवद्य देवस्य–" न पश्याम. क्वचित् किञ्चित् सामान्य वा स्वलक्षणम् । जात्यन्तर तु पश्याम ततोऽनेकान्तसाधनम् ॥" [सिद्धिवि० पृ० १२१]

[श्लोकोऽयम् उत्पादादिसिद्धौ (पृ० ७१) समुद्धृत]

पृ० ४६ A १०३ A. ४९५ A तथाच देवस्य अन्यत्र वचनम्–"व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष स्वत एव ते । अभिधानाद्यपेक्षाया भवेदन्योन्यसश्रय ॥"

पृ० १२२ B तदुक्तम्–"दृश्यदर्शनयो मुक्तिर्नित्यव्यापकयो. कथम् । यतस्तापाद्विमुच्येत तदर्थं वा तपश्चरेत् ॥" [सिद्धिवि० पृ० ४५७ A.]

पृ० १६१ B तथा च सूक्त चूर्णौ देवस्य वचनम्–"समारोपव्यवच्छेदात् प्रामाण्यमनुमानवत् । स्मृत्यादितर्कपर्यन्त लिंगिज्ञाननिबन्धनम् ॥"

पृ० २१९ A. तदुक्तम्–"स्वीकुर्वन्ति गुणानर्था यया शक्त्या गुणा न किम् ।" [सिद्धिवि० पृ० ५९१ A.]

पृ० २२२ B. उक्तञ्चैतत्–"स्वतोऽन्यतो विवर्तेत क्रमाद्धेतुफलात्मना ।"[सिद्धिवि० पृ० १७३]

पृ० २३२ A. देवैर्निवेदित चैतत्–"द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् । लक्ष्यन्ते गुणपर्याया दि (धी) विकल्पाविकल्पवत् ॥" [सिद्धिवि० पृ० १७४]

पृ० ३४९ B. देवैरुक्तम्–"मिथ्यैकान्ते विशेषो वा क स्वपक्षविपक्षयो ।"

पृ० ३६२ A देवैरुचितमुक्तम्–"अखण्डताण्डवारम्भविकटाटोपभूषणम् । शिखण्डिमण्डल वीक्ष्य काकोऽपि किल नृत्यति ॥"

पृ० ३८५ A उक्तञ्चैतत्–"अभेदात् सदृशस्मृत्यामर्थाकल्पधिया न किम् । सस्कारा विनियम्येरन् यथास्व सन्निकर्षिभि ॥" [सिद्धिवि० पृ० २८]

पृ० ४१५ A देवैरन्यत्रोक्तम्–"अदृश्यानुपलम्भादेकैकान्ते यत्र लक्षयेत् । पिशाचो नाहम-स्मीति दृश्यादृश्यविवेकधी ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३४८]

पृ० ५२६ A देवैरन्यत्र भाषितम्–"तन्वादिकरणात् सत्त्वान् भवक्लेशेन योजयेत् । बुद्धिमानीश्वर कस्मात् स्वय द्रोहमकुर्वन ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३८०]

पृ० ५२९ A तदुक्तम्–"वादिनोऽनेकहेतूक्तौ निगृहीति किलेष्यते । नानेकदूषणस्योक्तौ वैतण्डिकविनिग्रह ॥" [सिद्धिवि० पृ० २८७ A]

पृ० ५२९ A उक्तञ्च–"सर्वनाम्ना विना वाक्य तद्धि तेन विना पदम् । सक्षेप्तव्य समा-सार्थ निग्रहस्थानभीरुणा ॥" [सिद्धिवि० पृ० २८० A.]

पृ० ५३१ B. उक्तमेवेदम्–"स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन ।"

पृ० ५३६ A उक्तञ्च–"जीवानामसहायाक्षादशास्त्रार्थविद क्रमात् । विज्ञानातिशये विद्वान्न वै विप्रतिपद्यते ।" [सिद्धिवि० पृ० ४१५]

पृ० ५७१ A कथ तर्हि शास्त्रकारेण अन्यत्र प्रतिपादितम्–"योग्य शब्दो विकल्पो वा सर्वं सर्वत्र चेत् स्वत । मिथ्यात्व परतस्तस्य चक्षुरादिधियामिव ॥" [सिद्धिवि० पृ० २९३ B.]

§ ६. प्रमाणनिर्णये—

पृ० २. अत एवोक्तम्–"प्रमाणस्य साक्षात्फल (फल साक्षात्) सिद्धि स्वार्थविनिश्चय ." [सिद्धिवि० पृ० १२६ A.]

§ ७. स्याद्वादरत्नाकरे—

पृ० ६४१. यदाहाकलक सिद्धिविनिश्चये–"वर्णसमुदाय पदमिति प्रायिकमेतत् प्रत्येकमकारादे कादाचित्कत्वदर्शनात् ।"

§ ८ रत्नाकरावतारिकायाम्—

पृ० ११३७. प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कोपि प्राह–" वादन्याये दोषमात्रेण यदि पराजयप्राप्ति पुनरुक्तवत् श्रुतिदुष्टार्थदुष्टकल्पनादुष्टाद्ययोऽलङ्कारदोषा. पराजया कल्पेरन्निति ।"